महा योगी,

श्री स्वामी रघुनाथ राय् जी,

(जगत प्रसिद्ध योगिक अर औषधिक वैद्य)

कर्ता

श्री रघुनाथ भगवद्गीता और अनेक दूसरे हिन्दी और अंग्रेज़ी पुस्तक।

MAHA YOGI,

SHRI SWAMI RAGHU NATH RAI JI,

(of MULTAN)

Author of the

SHRI RAGHU NATH BHAGVAD GITA,

& of many other Hindi & English Works,

And

Renowned Magnetic & Medicinal Healer

SHRI SWAMI HEM RAJ JI,

Born, 1850 A. D. (OF MULTAN) Died, 1902, A. D.

(Renowned throughout India)

A great sage, a great saint, a great orator, a great author, and a great reformer, and the

Literal & Spiritual Holy Father of SWAMI RAGHU NATH RAI JI

the author of

'Shri Raghu-nath Bhagvad Gita'

श्री स्वामी हेम राज जी

• (मुलतान निवासी)

(भारतवर्ष प्रसिद्ध)

महा योगी, महा रिषी, महा शास्त्र कर्ता, महा ब्रह्म श्रोत्री अर महा जगत सोधक ।

जो

स्वामी रघुनाथ राय जी के

शारीरक, पूजनीय पिता जी है, और आत्मक, वन्दनीय सत् गुरु जी हैं ॥

* श्रीः *

रघुनाथ भगवद्गीता

कृत

ब्रह्मनिष्ठ, ब्रह्मश्रोत्री, महायोगी,

श्री स्वामी रघुनाथ राय जी

मुल्तान निवासी

कर्ता

श्री अमृत बानी, श्री आनन्द वर्षा, श्री धर्म वेद,
और अनेक अंग्रेजी पुस्तक ।

जिसको प्रेमी, श्रद्धालु और जगत सेवक पुरुषों ने छपवा कर

श्री स्वामी जी महाराज के चरणों में

भेंट किया

225-H
24

All Rights Reserved By The
Author; Swami Raghu Nath Rai Ji.

प्रथमावृत्ति

मूल्य 5/=

* श्री *

रघुनाथ भगवद्गीता

मङ्गल

दोहा

नाम रूप तें पार जो, जो आतम है माम।
तिस में लय हो कर करूँ, समता रूप नमाम ॥ १ ॥
अफुर अवस्था को करूँ, वारम वार प्रनाम।
जिस में परमानन्द है, मुक्ती का जो धाम ॥ २ ॥
प्रेम, नयम, ब्रत, तपस को, नमः करे *रघुनाथ*।
पुन निग्रह को नम करे, नम्र भूतता साथ ॥ ३ ॥
यिही आतमा मानिये, यिही सच्चिदानन्द।
यिही योग का रूप है, पिही मोख का छन्द ॥ ४ ॥
तप स्वरूप को ही कहें, *केशव, कृष्ण, मुरार*।
ऐसे *शाम स्वरूप* को, सिमरूँ वारम वार ॥ ५ ॥

चौपाई

पुन सिमरूँ सत गुरु भगवान। जिन ने दीनो आतम ज्ञान ॥
जास मया से भास्यो छार। इच्छा तृष्णा का सन्सार ॥ ६ ॥

चौपाई

हेमराज उनका है नाम । मोक्ष विखे अब जिनका धाम ।।
मोर पिता अर सत् गुरु *हेमन* । उन ही से मम अनुभव का धन ।।७।।
रोम रोम मे *हेम* समाई । *हेम, नाथ* में भेद न राई ।।
ता ते *हेमराज, रघुनाथ* । नित्य रहें मिल कर अर साथ ।।८।।
ऐसो मम स्वरूप जो *हेम* । भेंटूँ ता को तप अर नेम ।।
ता के मन निग्रह को वन्दूँ । मन निग्रह ही ता से माँगूँ ।।६।।
हेमराज जी, *नाथ* सँभालो । अफुर अवस्था दीजे मुझ को ।।
शान्त तिलक हो मेरे माथ । अवर न कुछ चाहे *रघुनाथ* ।।१०।।

प्रस्तावना

दोहा

ब्रह्म, कृष्ण, गुरुदेव को, अपने रिद में धार।
भगवद्गीता का करू, भाषा में विस्तार ॥ १ ॥
हिन्दी छन्दनं माँहि यिह, बने ,अमोलक शास्त्र।
जिस में विद्दित होय गो, आतम विद्या मात्र ॥ २ ॥
कृष्ण देव ने स्वयम ही, है आज्ञा यिह कीन।
"भाव अर्थ मम *गीत* का, कर *रघुनाथ* प्रवीन ॥ ३ ॥
"सुत, अनेक जग में बने, हैं अखरी अनुवाद।
"पर मेरो जो भाव था, समझें · विरले साद ॥ ४ ॥
"मोर प्रयोजन था यिही, समझें सारे लोग।
"आतम सद निर्लेप है, और अहे निर्भोग ॥ ५ ॥
"मिले *रूप* संग *आतमा*, *जीव* कहावे सोय।
"रूप अहे भ्रम मात्र ही, भ्रम को सब कुछ होय ॥ ६ ॥
"जब भ्रम सकलो नास हो, बचे आतमा शेष।
"इस केवल आतम विखे, रहे न भाव विशेष ॥ ७ ॥
"नाम रूप भ्रम मात्र को, जगत कहें सब सन्त।
"यिह भ्रम जब ही नाश हो, आतम रहे इकन्त ॥ ८ ॥
"कर्म भोग है भ्रम विखे, सुप्ने का यिह खेल।
"रूप रूप से खेलता, यिह कर्मों का मेल ॥ ९ ॥

दोहा

"रूप परे नहिं कर्म कुछ, जग में सकत विगार ।
"रूप मात्र ही जानिए, यिह सारा सन्सार ॥ १० ॥
"जब तक भ्रम में *जीव* है, *आतम* समझे रूप ।
"तब तक वुह भ्रमता फिरे, जन्म मरण के कूप ॥ ११ ॥
"जैसे सुप्ने के विखे, पुरुष सहे सुख दूख ।
"तैसे भ्रम युत आतमा, पाइ न कब हूँ सूख ॥ १२ ॥
"जब रूपन को छोड़ कर, देखे सब में आप ।
"सब से आतम हित करे, जावे सब सन्ताप ॥ १३ ॥
"जब ही नासे बुद्ध से, दूसर की जो भ्रान्त ।
"तब ही उपजे *जीव* में, सहज अवस्था शान्त ॥ १४ ॥
"इस ही को मुक्ती कहें, इस ही को कल्याण ।
"परमानन्द यिही अहे, यिही अहे निर्वाण ॥ १५ ॥
"हे *रघुनाथ* यिही अहे, *गीता* का सङ्क्षेप ।
"इस का तू विस्तार कर, *कृष्ण* होय निर्लेप ॥ १६ ॥
"प्रश्न उत्तर का भाव जो, रहे उसी का सार ।
"पर उन का विस्तार कर, बन कर *कृष्ण मुरार* ॥ १७ ॥
"अनुभव अपना खोल कर, भूषण तेंह पैहना ।
"जगत बुद्ध को देख कर, उस अनुसार बना ॥ १८ ॥
"युक्ति पूर्वक बोध हो, अर हो सहित प्रमान ।
"ऐसा तव अनुवाद हो, उदय होय जिम भान ॥ १९ ॥

दोहा

"शक्ती तुम को देत हूँ, अनुभव देवूँ तोय।
"मानो मेरा वाक है, तव वाणी है जोय ॥ २० ॥
"तेरो तप अब सिद्ध है, तेरो पूरन ज्ञान।
"तेरी इस्थित बुद्धि से, हूँ मैं मोद महान ॥ २१ ॥
"तेरे परमानन्द को, कोय न सकत चुराय।
"कैसी ही दुख आपदा, तेरे सिर पर आय ॥ २२ ॥
"ऐसे जन दुरलभ्य हैं, इस कलयुग के माँहि।
"जिन के रिद से चिन्त सब, शोक सभी उड़ जाँइ ॥ २३ ॥
"धूरम आतम में फिरें, मस्ताने दिन रैन।
"भूक प्यास अपमान पुन, हरे न तिन का चैन ॥ २४ ॥
"ऐसे मेरे भक्त जो, हो जावें भगवन्त।
"इच्छा तृष्णा मार कर, रहें सदीव इकन्त ॥ २५ ॥
"मिल जावे जो कुछ उन्हें, उस ही में सन्तुष्ट।
"भूक प्यास में भी रहें, ज्यों के त्यों अर पुष्ट ॥ २६ ॥
"नीच काम में भी उन्हें, अमृत रस हो भान।
"हो कर चित एकाग्र वुह, करें तास भुगतान ॥ २७ ॥
"नीच ऊँच में आतमा, व्यापे होय समान।
"नीच ऊँच जो भाव है, रूप भेद पहिचान ॥ २८ ॥
"ऐसे समता ज्ञान में, जो जन विचरत आहिं।
"*भगवद्गीता* भाव जो, उस ही में दरसाईं ॥ २९ ॥

दोहा

"किसी अवस्था माँहि भी, क्षोभ न आवे जाइँ ।
"वुही ब्रह्म विद जानिये, वुही मुक्ति पद पाइँ ॥ ३० ॥
"नाम रूप जञ्जाल को, बुध से जो कट देत ।
"वुही ब्रह्म में लीन हो, परमानन्द लहेत ॥ ३१ ॥
"ऐसे शुद्ध प्रबोध , जो, प्रकट बना *रघुनाथ* ।
"मम *गीता* के भाव को, जग में दे हित साथ ॥ ३२ ॥
"जो जग में सन्शय अहें, सब ही को कर दूर ।
"इस विध यिह पुस्तक बने, ब्रह्म ज्ञान भरपूर" ॥ ३३ ॥

दोहा

यिह आज्ञा *श्रीकृष्ण* को, रख कर के सिर माथ ।
गीता को भाषा विखे, उलटावे *रघुनाथ* ॥ ३४ ॥
कृष्ण देव के भाव का, करहूं मैं विस्तार ।
इस विधि देवूं जगत को, हित से परम विचार ॥ ३५ ॥
आशा है सब सन्त अर, साधू अर विद्वान ।
पढ़ कर इस विस्तार को, होंगे हृष्ट समान ॥ ३६ ॥
भूलेंगे सन्सार के, झूटे वैर विरोध ।
प्रेम मूरती बनेंगे, पाकर आतम बोध ॥ ३७ ॥
विपदा में, सङ्कट विखे, दुख में होंगे सोम ।
इच्छा सकली जाड़ कर, ऐस करेंगे होम ॥ ३८ ॥

दोहा

राग द्वेष को त्याग कर, राखें चीत समान ।
नहिँ अच्छा कोई बुरा, उनको सब रस वान ॥ ३९ ॥
सब ही में पेखें सदा, बैठा *आतम* आप ।
इस ते सब सूँ प्रेम ही, होगा उन का जाप ॥ ४० ॥
बरतेंगे जग में सदा, प्रीत गिलान अतीत ।
इस रीती से पवन वत, आयू करें वितीत ॥ ४१ ॥
सद ही परमानन्द में, होंगे वुह लिवलीन ।
विष से, दुख से, सर्व से, *आतम* रस को चीन ॥ ४२ ॥
बिन पैसे राजा फिरें, बिन शक्ती भगवान ।
बिन रोटी वुह तृप्त हैं, सुखमय बिन अस्थान ॥ ४३ ॥
ऐसा यिह पुस्तक रचा, धारे जो चित मांहि ।
होवे अति गम्भीर वुह, डोले नाहिं कदाहिं ॥ ४४ ॥

अथ श्री रघुनाथ भगवद्गीता

प्रथम अध्याय

धृतराष्ट्र उवाच

चौपाई

हे सञ्जय मम उत्तम मीत। शान्त करो मम व्याकुल चीत ॥
चिन्त लगी मुझ को अति भारी। चैन गया मम निद्रा हारी ॥ १ ॥
दुर्योधन अर पाण्डव भाई। रच बैठे घर माँहि लड़ाई ॥
ले कर अप्ने अप्ने लसकर। खेत्र सिधारे कमरें कस कर ॥ २ ॥
नयन हीन हूँ देख न साकूँ। करते हैं क्या मानुष लाखूँ ॥
इस से सञ्जय मोहि सुनाओ। युद्ध वृतान्त अचिन्त बनाओ ॥३॥

सञ्जय उवाच

चौपाई

हे राजन् सुनिये चित दीजे। क्या करते तव पुत्र भतीजे ॥
एक ओर पाण्डव हैं साजे। दूज ओर तव सेना गाजे ॥ ४ ॥
दुर्योधन ने जब ही भाला। पाण्डव की सेना को, लाला ॥
आया अपने गुरु के नेरे। बोला यों, "हे ठाकुर मेरे ॥ ५ ॥
"पाण्डव की सेना तो जाचें। "बल कर वुह कैसी हैं नाचें ॥
"द्रुपद पुत्र तव शिष्य प्रवीना। "तिस सेना पर अधिपति कीना॥६॥

चौपाई

"शूर अर वीर सभी हैं भारे । "अर्जुन भीम समा हैं सारे ॥
"तीर चलावें खिच कर जब ही । "छेदन कर डालें पर्वत भी ॥७॥
"द्रुपद महा रथवान विराटा । "यिह भी अर ययधान उन्हीं का ॥
"द्रिष्टकेत अर काशी राजा । "चेकतान अर शैव बिराजा ॥८॥
"कुन्तिभोज पुरजित अति शूरा । "उत्तमौज शौभद्रा पूरा ॥
"द्रुपदी की पुन उतपत सारी । "और युधामनयू बलधारी ॥६॥
"यिह सब वीर शूर अर योधा । "पाण्डव सेना को दें शोभा ॥
"तेज अर बल अर इस्थित ताँ की । "आशा हरते जाते मेरी ॥१०॥
"देखूँ उन को अर कुमलाऊँ । "अपनी सेना घटिया पाऊँ ॥
"चित में अति भय उतपंन होवे । "बुध मेरी धिरता सब खोवे ॥११॥
"अब वर्णूं मैं हे गुणदाई । "मेरे जितने आँहि सहाई ॥
"प्रथम आप सब के सिर साँई । "पीछे भीष्म पितामह आँही ॥१२॥
"फिर हैं करना कृप जय हरता । "सौम दत्त फिर चूरण करता ॥
"अश्वत्थामा और वकर्णा । "यिह हैं मम सेना के तरणा ॥१३॥
"ऐसे और बहुत बलवाना । "मोर अर्थ देवें जो प्राना ॥
"नाना शस्त्र चलावन हारे । "युद्ध विशारद आँहि हमारे ॥१४॥
"यद्यपि सेना मम अधिकाई । "पर पाण्डव बल सम नहिं आही ॥
"यिह विचार मुझ को बिसमावे । "भय अग्नी रिद माँहि जलावे ॥१५॥
"यद्यपि भीष्म भीम से बढ़िया । "तो भी मुझ को डर पाँडन का ॥
"ता तें सावधान हों सारे । "जितने नायक आँहि हमारे ॥१६॥

चौपाई

"अपने अपने भाग सँभालें। "भीष्म वचन को सब ही पालें ॥
"यदि इकत्र हो युद्ध निभावें। "सम्भव है हम जय ले आवें" ॥१७॥

चौपाई

बोल चुका जब बेटा तेरा। गरु ने तेंह शिर पर कर फेरा ॥
भीष्म पितामह जी तब आए। सिङ्घ समा स्वय सङ्ख बजाए ॥१८॥
ताँ को सुन कर कौरव सारे। बादल सम थे गरजन हारे ॥
सङ्ख अर ढोल अर तुर्म बजाए। गोमुख वीन बजा कर गाए ॥१९॥
ऐसा नाद उठाया सब ने। बहिरे करण हुए सब ही के ॥
सुन कर दुर्योधन तब फूला। भय अरु त्रास सभी वुह भूला ॥२०॥

चौपाई

इन के पीछे *कृष्ण मुरारी*। जाँ की शोभा थी अति न्यारी ॥
रथ महान अर्जुन की लावें। जेंह चव गौरे अश्व चलावें ॥२१॥
माधव जी ने अर्जुन ने भी। फूँकी तुरमें अपनी अपनी ॥
पञ्चजन्य *माधव* ने फूँकी। देवदन्त अर्जुन ने धूँकी ॥ २२ ॥
और भीम ने सङ्ख महान। फूँक फूँक फारा अस्मान ॥
दहिले सब के सब उस ध्वन से। रिदय काँपने लागे सब के ॥२३॥
फिर विकोद्र ने पौंड्र बजाया। रण भूमी में हलचल आया ॥
पुनः युधिष्ठिर ने इक चित हो। फूँका दिव्य अनन्त विजय को ॥२४॥
नकुल सुघोश बजावे अपनो। अर सहदेव मनी पुष्पक को ॥

चौपाई

इत विध धूम मची सङ्खन की । शान्त गई सब ही के मन की ॥२५॥
काश्य शिखण्डी और विराटा । दृष्टदुमन अर सात्यक राजा ॥
द्रुपद पुनः सब बेटे ता के । सौभद्रा सब फूँकें बाजे ॥२६॥
सङ्खन ने वुह धूम मचाई । पृथ्वी नभ ने गूँज उठाई ॥
सुन कर कौरव सब ही दहिले । हार गये मन में वुह पहिले ॥२७॥
काँपत काँपत शस्त्र उठाये । कौरव सेना ने, फिर आए ॥
आगे आगे तीर चलाने । पाण्डव सेना दूर भगाने ॥२८॥
अर्जुन ने जब ऐसा देखा । और सामने सब को पेखा ॥
तब कपध्वज अपना चढ़वाया । धनुष धार चेतन हो आया ॥२९॥
ऐस अवस्था माहीं उस ने । सिर *माधव* पद ऊपर धर के ॥
नम्र भूत हो आज्ञा लीनी । और वेनती उन को कीनी ॥३०॥

अर्जुन उवाच

चौपाई

हे *अच्युत* रथ अग्र चलाएँ । दो सेना के मध ठैराएँ ॥
जाँ से देख सकूँ मैं नीको । सेना रिप की अर अपनी को ॥३१॥
देखा चाहूँ कौरव सेना । जिन सूँ मेरा लेना देना ॥
नेरे जा देखूँ मैं तिन को । दुरयोधन चमकाया जिन को ॥३२॥
दुरयोधन की ममता कारन । कठन युद्ध सब ने की धारन ॥
लूट मार तिन की है रीती । वैर द्वेष में उन को प्रीती ॥३३॥

चौपाई

सुख अर शान्त द्वेष में मानें। रक्षा हिन्सा में पहिचानें॥
धन का हेतू चोरी मानें। झूट विखे पुन मुक्ती जानें॥३४॥
सब पर छाया दुर्योधन की। सब को इच्छा माया धन की॥
सीधे को उलटा कर देखें। उलटे को सीधा कर पेखें॥ ३५॥
बुध मलीन से अगन जलावें। उस में सब को भस्म बनावें॥
लोहे सङ्ग काष्ठ जिम डूबे। अच्छे भी त्यों मर जावेंगे॥३६॥
ऐसे दुर बुद्धी में माते। देखत हूँ मैं निकटी जा के॥
ता ते *माधव* अश्व चलाएँ। तिन के सन्मुख रथ ले जाएँ॥३७॥

सञ्जय उवाच

चौपाई

इन्द्रय जित *श्री कृष्ण मुरारी*। लाए अर्जुन राथ अगारी॥
दो सेना के बीच जमाई। भीष्मादिक जाँ ते दरसाई॥३८॥
मुक्त प्रदाता जय दातारा। *माधव* ने तब वाक उचारा॥
"हे अर्जुन अब खोलो नैना। चच्चे की सब देखो सैना" ॥३९॥
सावधान हो अर्जुन देखे। इक इक वीर शूर को पेखे॥
सेना में सब देखे साँके। रक्त मेल होतें थे जाँ के॥४०॥
कहिं चच्चे कहिं आहिं पितामा। कहिं गुरु मित्र कहीं हैं मामा॥
चच्चे का कहिं है परिवारा। है सम्बन्धी लश्कर सारा॥४१॥
दोनो धिर के नायक सारे। आपस में सन्युक्त बिचारे॥

चौपाई

कहिं है ससुर किसी का साला। कहिं बहिनोई लड़ने वाला ॥४२॥
इस प्रकार घर माहिं लड़ाई। अर्जुन के चित में दरसाई ॥
मन में शोक कलेश उठाया। आँखों में पानी भर आया ॥४३॥
होय कृपा के वश में बिसमा। ढीला स्वास हुआ तब तिस का ॥
बहुत उदास दुखी मन, माहीं। यूँ बोला *माधव* के ताईं ॥४४॥

अर्जुन उवाच

चौपाई

लख के यिह सब साजन साके। इन्द्रय मेरे बिसमे थाके ॥
मुख मेरे में पानी सूखा। चमरा मम हो आया रूखा ॥४५॥
वप काम्पे रिद मेरा थरके। मानो वप में अग्नी भरके ॥
रोम बने हैं उठ कर सूई। मन चकृत बुध भ्रामक हूई ॥४६॥
फिरकी कर से मम गाण्डीवा। निकसत है, *केशव*, मम जीवा ॥
उलटे पुलटे दीसत सारे। कारन और नमित्त, *मुरारे* ॥४७॥
सम्बन्धी सब मेरे प्यारे। उन को मम कर कैसे मारे ? ॥
मैं नहिं चाहूँ जय को, *माधो*। राज अर सुख नहिं चाह्वे मुझ को।४८।
राज अर भोग करूँगा क्या मैं ? जीवूँ क्या जब एक भया मैं ?
मेल मिलाप विखे रस आवें। क्या रस हो जब मेली जावें ? ।४९।
जय पा कर किस को दिखलाऊँ ?। किन में शोभा आदर पाऊँ ? ॥
सीस उतारूँ जब सब ही के। मान करूँ तब किन के आगे ?॥५०॥

चौपाई

साची जय तो वुह है *कृष्ना*। जिस से मारी जावे तृष्ना ॥
दुरयोधन मेरा नहिं वैरी। वैरी मेरा तृष्ना है जी ॥५१॥
तृष्णा मारूँ आदर पाऊँ। वैरी का भी सीस झुकाऊँ ॥
अपना पर सब माथा टेके। ऐसो राज मिले हारे से ॥५२॥
हे **केशव**, मम बुद्धी आगे। हारन ऊँचा है जीतन से ॥
हारे से रिप का मन मारूँ। अपना भी अभिमान निकारूँ ॥५३॥
इस जग में भी शोभा पाऊँ। पर लोके भी मङ्गल गाऊँ ॥
ताँ ते मुझ को लागे मन्दा। ***केशव जी***, इस युध का फन्दा॥५४॥
जिन के अर्थ राज सुख चाहूँ। उन ही को युध में मरवाऊँ ॥
यिह कैसी, ***केशव***, चतुराई। कर्म करूँ मैं जो दुख दाई ॥५५॥
पिता पुत्र पुन गुरु अरु चेले। मामे भाञ्जे के याँ मेले ॥
पौत्र पितामह ससुर जवाँई। साला बहिनोई रण माँही ॥५६॥
इन को नाहिं कदाचित मारूँ। क्यों नहिं सौ बारी मैं हारूँ ॥
राज त्रिलोकी का यदि पाऊँ। तो भी इस पथ पर नहिं जाऊँ॥५७॥
चच्चे के बेटे जब मारूँ। कैसे सुख की आशा धारूँ ॥
पापी का जब जीव निकारूँ। क्या स्वय को नहिं *पाप* चँभारूँ।५८।
मो को ठीक लगे नहिं *कृष्णा*। ऐसी पाप सहायक तृष्णा ॥
सजनों का जब निकसे रक्ता। सुख का रस तब क्या हो सक्ता? ५९
यद्यपि तृष्णा कर मतवारे। सोच न सकते कौरव सारे ॥
पर हम क्यों अन्धे बन जावें। जान बूझ कर दुख में धावें? ॥६०॥
बन कर मूरख अर हत्यारे। क्यों मारें हम अपने प्यारे? ॥

चौपाई

क्यों नहिं अब ही सोच दिखाएँ । नर्क अर विपदा से बच जाएँ ॥६१॥
कुल का नाश बनाय अधर्मी । धर्म रहित बन जाय विकर्मी ॥
भय अर आदर सकल बिनासे । इच्छा को बल आवे ता से ॥६२॥
इच्छा पुत्र कलत्र बिगारे । पतिव्रत धर्म सभी को जारे ॥
इस से मिश्रित होवें जाती । भृष्ट बने बुद्धी सारू की ॥६३॥
इस विपदा का कारन जोई । तास निवास नर्क में होई ॥
कुल नासक की यिह हो अवधी । होय प्रतापी वुह कैसा ही ॥६४॥
केवल जगत प्रबन्ध न जावे । पित्र लोक में भी दुख आवे ॥
पिण्ड अर तर्पण दोउ न जावें । जाँ ते पित्र अती कलपावें ॥६५॥
इस ते भी हो नर्क निवासा । ऐसो शास्त्र बतावें त्रासा ॥
ता ते क्यों हम बुद्ध बुझावें ? जान बूझ विपदा में जावें ॥६६॥
हाय, हाय, पापी बन जाऊँ ? । सिर पर कुल का श्राप उठाऊँ ?
छिन भङ्गुर सुख के अर्थाई । काटूँ अपने साजन भाई ! ६७॥
क्यों नहिं फैंकूँ तीर कमाना । ममता त्याग बनूँ निर् माना ? ॥
दुरयोधन का बाण सहारूँ । मृतक हो के पाउँ पसारूँ ॥६८॥
अपना मरना कौरव कर से । केशव, मोहि ऊँच तर दरसे ॥
आप गवाऊँ सकल बचाऊँ । क्यों नहिं यूँ ही मुक्ती पाऊँ ? ।६९।

सञ्जय उवाच

चौपाई

इतना कहि कर, हे गोसाईं, । डूब गिरा अर्जुन रथ माहीं ॥
शोकातुर ऐसो कुम्लाना । कर से खिस्का तीर कमाना ॥७०॥

* इति प्रथम अध्याय *

सङ्क्षेप अर बेनती

चौपाई

प्रथम अध्याय समापत जानो। पार्थ विषाद विषय में मानो ॥
जो जन प्रेम सहित तेँह गावे। स्वय मन से अभिमान नसावे ॥१॥
कोट वार धारे *रघुनाथा*। *कृष्ण* चरण पर अपना माथा ॥
पूर्ण होवे जास प्रसादा। भगवद् गीत सरल अनुवादा ॥२॥
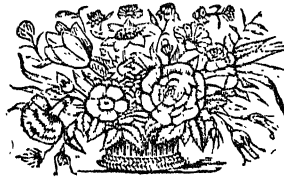
अथ द्वितीय अध्याय

सञ्जय उवाच

चौपाई

ऐसो शिथिल हुआ जब अर्जुन । व्याकुल जब ऐसा उस का मन ॥
तब *केशव* ने आप उठाया । आँसों पूँछे, रिदय लगाया ॥ १ ॥
मस्तक चूमा, बाल सँवारे । सिर पर कर फेरा शत वारे ॥
ज्यूँ अर्जुन ने बोध सँभारा । *माधव* ने यिह वाक उचारा ॥२॥

श्री भगवान उवाच

चौपाई

हे अर्जुन, यिह कश्मल कैसी । भीड़ पड़ी जब तुम पर ऐसी ॥
भूपन को यिह तो नहिं सोभे । स्वर्ग हरे अर यश को डोवे ॥३॥
वीर सूर बाखें तुम को सब । वीर्य दिखाओगे तुम फिर कब ॥
ऐस समय दुर्बलता धारन । तोहि न शोभत है, हे अर्जुन ॥४॥
शूर वुही जो रण के माँही । सिङ्घ समान लड़े बल लाई ॥
तिस मानुष का नाम न लीजे । युध भीतर मन जिस का भीजे ॥५॥

चौपाई

ताँ ते तज यिह क्षुद्र विचारा । होय नपुन्सक मर नहिं सारा ॥
जाग अर उठ अर होय खरा तू । धनुष चढ़ा कर तीर चला तू ॥६॥

अर्जुन उवाच

चौपाई

हय, हय, द्रोणा, भीष्म, *मुरारी* । गुरु अंर दादा आहिं अगारी ॥
इन पर कैसे बाण चलाऊँ । ऐस कृतघ्न कैस बन जाऊँ ॥७॥
आदर योग कृपाल दयारे । इन से कौन लड़ें मत मारे ॥
ऐसी निर लजता नहिं धारूँ । जिन से सीखूँ उन को मारूँ ॥८॥
कर के यिह गुरु हत्या भारी । नहिं चाहत हूँ राज *बिहारी* ॥
गुरु बिन्से मैं राज मनाऊँ । इस से विष्टा क्यों नहिं खाऊँ ॥९॥
ऐसे नृप से ऊँच बिखारी । माँग भरत जो पेट पटारी ॥
रुधर लिपित मैं रोटी खाऊँ । यदि गुरु वर पर तीर चलाऊँ ॥१०॥
जिन बिन नीरस जीवन मेरा । कैसे उनका डोबूँ बेरा ॥
चच्चे के बेटे हैं भाई । कैस बनूँ, हय, तास कसाई ॥११॥
केशव, मम बल बुध सब हारी । रिद थरके चित माहिं अँधारी ॥
सोच न साकूँ, *कृष्ण मुरारी* । क्या मत है नीती अनुसारी ॥१२॥
मारूँ इन को वा मर जाऊँ । जीतूँ वा इन से हर जाऊँ ॥
धनुष फैंक होऊँ सन्यासी । या इन सब को देऊँ फासी ॥१३॥
दुब्धा में उलझे बुध मेरी । सोच न सकती कौन भलेरी ॥

चौपाई

समिझ न साकूँ अपना धर्म । नहिं जानूँ अब क्या मम कर्म ।१४।
शरन आप की हूँ अब लेता । तव चरनन में शिर हूँ देता ॥
निपटावें मम बुध का झेरा । मन की युध का होय नबेरा ॥१५॥
हे *केशव*, मैं तव शरनाई । दीपक धर्म मुझे दरसाई ॥
जानूँ किस में मोर भलाई । हट जाऊँ वा होय लड़ाई ॥१६॥
यदि मुझ को जग भूप बनावें । इन्द्रासन पर मोहि बिठावें ॥
तो भी मम कष्मल नहिं जाई । पाप किये का दुख कलपाई ॥१७॥
ऐसा राज मुझे नहिं भावे । जिस भीतर मम चित दुख पावे ॥
माधव, व्याकुल अति मन मेरा । ऐस दशा में क्या वच तेरा ॥१८॥

सञ्जय उवाच

चौपाई

हे राजा, जब ऐस विरागा । अर्जुन को रण भूमे लागा ॥
रोया अर विलापा कीना । अर खुल कर ऐसे कहि दीना ॥१९॥
हे *केशव*, मैं तो नहिं लड़ता । प्राण त्याग रथ में हूँ मरता ॥
तब *माधव* हन्सा मुसकाया । रण में उस को यूँ समझाया ॥२०॥

श्री भगवान उवाच

चौपाई

अर्जुन शोक करे तू तिन का । रञ्चक शोक न बनता जिन का ॥
फिर बन बैठे चतुर प्रवीन । यिह बुध तुम को किस ने दीन ।२१।

चौपाई

पण्डित कोविद पुरुष सियाने । शोक नहीं दें चित में आने ॥
भावें उन के सुत मर जावें । भावें उन पर आपद आवें ॥२२॥

प्रथम युक्ति

चौपाई

हम सब "जीव" अनाद अनन्त । मैं अरः तू अर भूप महन्त ॥
"जीव" देह तें भिन है भाई । "वप" जावे पर "जीव" न जाई-२३
मर कर "जीव" उतारे चोला । नास न होवे, अर्जुन भोला ॥
जीते जैस अवस्था बदरे । मर कर भी वुह बदले कपरे ॥२४॥
आद अर अन्त 'रूप' का भाई । 'रूपवान' है सद इस्थाई ॥
जल नहिं नासे जाइ तरङ्ग । त्यों आतम नहि होवत भङ्ग ॥२५॥
सब जीवन में आतम एक । बुध कर भासत जीव अनेक ॥
बुध है नाम रूप की खानी । ताँ ते भिनता झूटी मानी ॥२६॥
जीवन में आतम है ऐसे । लहिरन में पानी है जैसे ॥
सत्ता को आतम पहिचानो । वा 'है-ता' को आतम मानो ॥२७॥
'आतम' अर 'भ्रम' जीव बनावें । 'भ्रम' से 'जीव' तुच्छ हो जावें ॥
'भ्रम' नाशे तब तुछता जावे । 'ब्रह्म' भाव जीवन में आवे ॥२८॥
'आतम' 'ब्रह्म' एक के नाम । इस ही को भाखत हैं 'राम' ॥
'भ्रम' 'आतम' को 'जीव' बनावे । 'भ्रम' बिन जीव मुक्त हो जावे ।२९।
आतम को जब आतम मारे । जीते कवन कवन तब हारे ?
मारन मरन भ्रान्त तब होई । मरता मारक इक जब होई ॥३०॥

चौपाई

इस ते आतम ज्ञानी मन्त । मरने पर दृढ़ बुद्ध रहन्त ॥
हर्ष शोक अर सुख दुख सारे । अर्जुन हैं सब भ्रान्त सहारे ॥३१॥
हान लाभ उन को सम भासे । भय तृष्णा सब भागे ता से ॥
निश्चल घूरम सद मतवारे । विचरें जग में मन को मारे ॥३२॥
ऐसे पुरुष अमर कहिलाएँ । जिनको 'रूप' न रञ्च भ्रमाएँ ॥
आनँद निज 'आतम' मे' मानें । 'रूप' सभी दुखमय पहिचानें ॥३३॥
'नाम रूप' सब हैं विभचारी । 'आतम' इस्थित है अविकारी ॥
सब में 'आतम' वासत ऐसे । 'लहिरन' में 'जल' पूरन जैसे ॥३४॥
हे अर्जुन, यिह परम विचार । सुख का पय, अमृत की धार ॥
धोका समझि सकल सन्सार । इस से रख नहिं द्वेष अर प्यार ॥३५॥
'आतम' का है सकल पसारा । 'आतम' में नहिं कोइ विकारा ॥
'नाम रूप' जो 'आतम' ढापे । उपजा अर मूआ हो जापे ॥३६॥
मन का भ्रम है नाम अर रूप । भ्रम ही समझो कर्म स्वरूप ॥
'रूप' 'रूप' को मारे भाई । आतम 'है-ता' मात्र न जाई ॥३७॥
इस विचार से तज विरलाप । रण में लड़, अर धर शर चाप ॥
नहिं कोई मरता नहिं मारे । मारन मरन अहे भ्रम, प्यारे ॥३८॥
'आतम' अज पुन है अविनाशी । सत अक्षर नित स्वयम प्रकाशी ॥
ताँ ते 'वप' जब मारा जावे । 'आतम' को कुछ आँच न आवे ।३९।
जो जन 'आतम' स्वय को जाने । नित्य सनातन पुरुष पछाने ॥
ता कों घात कौन कर साके ? कौन मरे पुन कर से ता के ? ।४०।
जैसे पुरुष पुराने कपरे । देत उतार नये पुन पहिने ॥

चौपाई

तैसे जीव पुरातन देही। तज कर सुन्दर ऊपर लेई ॥४१॥
"आतम" 'है-ता' मात्र पछानो। तत्व मात्र वस्तू का मानो ॥
सर्व रूप में जो है एकी। "आतम" कहिते हैं उस को ही।४२।
ऐसो जोय 'अरूप' अनूपी। पाय सके ता को नहिं बुध भी ॥
'ऐसे' 'वेसे' 'आतम' एको। निर विकार 'है-ता' को समझो॥४३॥
ऐसा जो है 'आतम तत्त'। अमर अजन्मा है सो सत्त ॥
बदल सके कब ही नहिं सोई। कैसा तास निरादर होई ॥४४॥
टूटे 'रूप', 'अरूप' न टूटे। फूटे 'लहिर', 'उदक' नहिं फूटे ॥
बिगरे 'भूषण', 'स्वरण' न जाई। तैसे 'आतम' नित इस्थाई ॥४५॥
ऐसो 'आतम' आहि अछेद। और अशोष पुनः अक्लेद ॥
पुन अदाह 'आतम' को मानो। निरविकार निर्गुण पहिचानो ।४६।
शस्त्र रूप तक पहुँचे केवल। तत्व मात्र रहि जावे निश्चल ॥
पुन पावक भी 'रूप' जलावे। वस्तू की 'है-ता' नहिं खावे ॥४७॥
जल भी रङ्ग ढङ्ग बदलावे। 'ऐसे' से वुह 'वैस' बनावे ॥
पर जो 'ऐसा' 'वैसा' होई। उसको बदिल न साके कोई ॥४८॥
मारुत भी तो रूप बिगारे। 'यूँ' से 'वूँ' वस्तू कर डारे ॥
'यूँ' 'वूँ' में पर 'वुही' समाई। 'यूँ' 'वूँ' बन कर 'वुही' न जाई।४९।
ऐसा 'वुही' अहे तव "आतम"। नाँहि बढ़े कब हूँ नहिं हो कम ॥
घाट वाध में 'वुही' बिराजे। 'वोही' ऊँच नीच हो साजे ॥५०॥
ऐसा निर्गुण 'वुही' स्वरूप। सर्व वियापी आँहि अनूप ॥

चौपाई

सब रूपन को धारे 'वोही' । उस को मार सकत नहिं कोई ॥५१॥
ऐसा जब है 'सर्व स्वरूप' । किस का शोक करे तू भूप ?
जिस का मरना सम्भव नाहीं । तास अर्थ क्या शोक कराईं ॥५२॥
ता ते हो निर्भय निर्शोक । 'आतम' को नहिं लागत जोक ॥
'वप' को कुचलो और पछारो । चोट न लागे कुछ 'आतम' को ।५३।

द्वितीय यक्ति

चौपाइ

दूसर युक्ती सुन अब, अर्जुन । आवे जग में 'जीव' पुनर्पुन ॥
यिह विचार भी दे सन्तोखा । जावत आवत का क्या दोखा ।५४।
जो जन्मा तिस ने पुन मरना । मूए ने फिर अवश उभरना ॥
ऐसी जग की जब है नीती । अर्जुन, शोक करें किस रीती ?-५५
जैस 'निकलना' अर 'छुप जाना' । वा जैसे है 'आना' 'जाना' ॥
जैस 'डूबना' और 'उभरना' । तैसे ,अर्जुन, 'जीना' 'मरना' ॥५६॥
'आने' 'जाने' से क्या जावे ? । 'छुपने' से क्या पुरुष घटावे ? ॥
तैसे 'मरने' से क्या हान । 'मरना' 'छुपना' आँहि समान ।५७।
'सून' भाव से सब ही आवें । 'सून' विखे सब अन्त समावें ॥
मध में ही सब 'रूप' प्रभासे । जैसे नीला वर्ण अकासे ॥५८॥
आद अर अन्त "सून" हो जाँ का । मध स्वरूप "छल" होवे ताँ का ॥

चौपाई

"छल" जब आँखों से चल भागे । शोक उस का मूरख को लागे ॥५९॥
अलख अगोचर "आतम" मानो । अन्तः करण न जाने ताँ को ॥
है अश्चर्य स्वरूपा तिस का । नाम न रूप न लक्षन जिस का ।६०।
ऐसे "रूप" रहित को भाई । कैसे "रूप" बिगार सकाई ॥
ऐसे निर्भय "आतम" कारन । मूरखता है चिन्ता धारन ॥६१॥

तृतीय युक्ति

चौपाई

फिर यदि तू स्वय वर्ण पछाने । तो भी शोक न मन में आने ॥
क्षत्री उत्तम भाग विचारे । रण में यदि बिन्से वा मारे ॥६२॥
धर्म युद्ध में यदि वुह लागे । इस से उत्तम क्या वुह माँगे ?
सीधा स्वर्ग लोक में जावे । ममता तज कर नर्क जरावे ॥६३॥
अब यदि रण से तू चल भागे । दुरगत, अर्जुन, पावे आगे ॥
पित्र धर्म को दूर हटावें । यश खोवें अरु पाप कमावें ॥६४॥
निन्दा अपयश तेरे होवें । जग कीरत तू सकली खोवें ॥
कोविद आगे अपयश जोई । मरने से भी मन्दा होई ॥६५॥
वीर शूर समझेंगे मन में । भाग गया तू भय से रन में ॥
जो जानें थे तोहि प्रवीना । समझेंगे अब अति मत हीना॥६६॥
बच्चे भी तुम पर हन्सेंगे । नारी भी तुम पर थूकेंगे ॥
निन्देंगे तेरी सामर्था । और कहेंगे "तू कायर" था ।६७।

चौपाई

मर जावे भी तू यदि रन में। स्वर्ग मिले तेरे हाथन में ॥
अर यदि जय पावे तू भाई। अधिराजा तू समझा जाई ॥६८॥
ताँ ते, अर्जुन, बाँधो कट को। त्यागो मन से घबराहट को ॥
उठ कर युध में चित से लागो। डावन डोल वृती परित्यागो॥६९॥

चतुर्थ युक्ति

चौपाई

मोह् को मानो जकड़ी फाँसी। मोह फँसावे बीच्र चुराँसी ॥
मोह् से चिन्ता, मोह् से शोक। मोह् से दुखिये होवें लोक ॥७०॥
मोह् ऐसा अन्धा कर देवे। धर्म विचार सभी हर लेवे ॥
मोही 'देही पूजक' भाई। मोही को नहिं ज्ञाता राई ॥७१॥
झूँटा ताँ को सच हो भासे। और सचाई झूँट प्रकासे ॥
ऐसी उल्टी आँखें ताँ की। मोह बिगारी दृष्टी जाँ की ॥७२॥

किस से मोह करो तुम भाई। यिह जग तो बादल की छाई ॥
कोई भी याँ नाहीं इस्थित। जो जन्मा होता है वुह मृत ॥७३॥
जब ऐसी रीती सन्सार। किस से तू करता है प्यार ?
जितना मोह करोगे भाई। उतना शोक चढ़े अधिकाई ॥७४॥
पुत्र कलत्र मित्र अर साके। दो दिन के सब आँहि तमाशे ॥
खेल कूद कर सब छुप जाएँ। पर मोह् ममता तोहि रुलाएँ ॥७५॥

चौपाई

यदि रोना नहिं चाहो मीत । इस छल से नहिं राखो प्रीत ॥
यिह तो है सुपने का सिनिमा । इस के छल पर काहे मरना ? ७६॥
दृष्टमान जो जग है भाई । यिह सब झूटा सुपना आही ॥
देखत देखत ही उड़ जावे । इस से मूरख मोह लगावे ॥७७॥
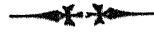
फिर सब मानुष अर्थ अभिलासी । अर्थ न निकसे होत उदासी ॥
सब कुछ धन वित खा पी जावें । निरधनता में निकिट न आवें ।७८॥
उलटा तात अर मात सितावें । घूरें ताँ को, जूत लगावें ॥
विषय विखे हूँ ऐसे अन्ध । तिर्या मोह विखे हूँ बन्ध ॥७९॥
लड़का लड़की जब हो जावें । सब कुछ ताँ के भेट चढ़ावें ॥
उन के मोह् में ऐसे फन्सें । उन पर लोग लुगाई हन्सें ॥८०॥
उल्लू बन जावें वुह सचले । बुद्धी के बन जाएँ अँधले ॥
सोच न साकें 'सब मतलब के' । जैसे हम यिह भी हैं तैसे ॥८१॥
उड़ जावे सारो वीचार । "छिन भङ्गुर है यिह सन्सार" ॥
और न सोचें चित में राई । जग के मित्र सभी दुखदाई ॥८२॥
वेशा वत सारे हैं जगती । "देते" की करते हैं भगती ॥
'लेना' बन्द हुआ वेशा का । वेशा तुर्त लगावे जूता ॥८३॥
ऐसे जब जग के - सम्बन्धी । उन से मोह अहे बुध अन्धी ॥
इस झूटे जग से मुँह मोरो । *आतम* हित से ही वृत जोरो ।८४।
"प्रेम" करो पर "प्रीत" न धारो । "आतम" देखो, "रूप" बिसारो ॥

चौपाई

प्रीत विखे चिन्ता अर शोक। ताँ ते मन की प्रीती रोक ॥८५॥
छिन भङ्गुर जो नाम अर रूप। वुह तो इच्छा ही का कूप ॥
तुम को भी इच्छा उपजावे। जग भी स्वय अर्थी बन जावे ॥८६॥
जिस विध 'वप' सब चलने वाले। त्यों ही 'मन' नहिं प्रीती पाले ॥
जिस विध "वप" सब का है काचा। त्यों ही "मन" जग का नहिं साचा-८७
जिस विध रूप न साथ निभावें। त्यों प्रीतम ठगडे हो जावें ॥
जब तक उन की "इच्छा" पलती। तब तक उन की 'प्रीती' चलती।८८।
अर्थ उन का जब नहिँ पूरा हो। छोर चलें पिछले सजनों को ॥
इस से सब ही हैं मतलब के। तज प्रीती अर ममता सब के ॥८९॥
प्रेम लगा तू "सत" वस्तू से। "सत" अर "इस्थित" चिन आतम के।
आतम सर्व वियापी जाँ ते। सब से प्रेम अर हित रख ताँ ते-९०
इक जावे दूसर भी जावे। "सब" नहिं पर जग से बिस्मावे ॥
"सब" का प्रेमी जो जन होई। सर्व वियापी होवे सोई ॥९१॥
प्रीत विशेष अहे दुख दाई। प्रेम समान शान्त की माई ॥
"प्रेम समान" 'प्रेम' कहिलावे। प्रेमी आनँद माँहि समावे ॥९२॥
"प्रेम" अहे "आतम" का लक्षन। "प्रीत" गनो तुम "मन" से उत्पन ॥
जाँ ते "मन" दूसर का भ्रम है। ताँ ते "प्रीत" अविद्या तम है ॥९३॥
"प्रीत" चहे नाशी "रूपन" को। "प्रेम" चहे "आतम" इस्थित जो ॥
ताँ ते "प्रीत" दिलावे "शोक"। प्रेम दिलावे "आनँद मोक" ॥९४॥
"रूप" अर "मन" तुम समझो एक। "मन" मानो "रूपन" की टेक ॥
दोनो ताँ ते जानो जूठ। हे अर्जुन, दोनो से रूठ ॥९५॥

चौपाई

क्यों तू फन्सा छल प्रीती में। शोक विखे तू काहे तड़पें ॥
जाग नींद से नयन उघार। "प्रीत जाल" से हो जा पार ॥९६॥
यिह जो तेरा "शोक" अर "कश्मल"। उपजावे तेरी "मन" की मल ॥
"आतम प्रेम" नहीं कुछ इस में। तू तो "छल प्रीती" में फरकें ॥९७॥
"प्रेमी" ममता सारी जारे। "प्रेमी" पसरे जग में सारे ॥
"प्रेमी" भक्त अर भगवत एक। "प्रेमी" को नहिं दुख का सेक।९८।
"प्रेम" अर "परमानन्द" समान। "आतम" बिन तेंह कुछ नहिं आन ॥
ममता मोह उसे दुख दाई। निरभय सेवा तेंह तृप्ताई ॥९९॥
जिन को 'अपने' मानें लोक। वुह तो दें चिन्ता अर शोक ॥
जो कुछ आँहि "साक" ते दूर। ता की सेवा सुख भरपूर ॥१००॥
काहेते जाँ "ममता" नाँहीं। वाँ "आतम" का रस बरसाँई ॥
अर जाँ "मेरी तेरी" आहे। दुख की विष उस ही के माहे।१०१।

ताँ ते "अर्जुन" "ममता" त्याग। सम्बन्धों के मोह् ते जाग ॥
"आतम हित" को सन्मुख राख। फिर युध कर अर अमृत चाख।१०२।
मोह गिलानी को तुम छोरो। राग द्वेष को मन ते होरो ॥
मारन से नहिं हन्सो रोवो। पर उपकार विखे नित सोवो।१०३।
निश्चय यिह हो तब चित माँहीं। दुष्ट अर पापी जग ते जाँईं ॥
भले पुरुष अर जन सुख दाई। जगत सिंगार शेष रहि जाई॥१०४॥

चौपाई

दुष्ट "अपने" वा "शत्रू लोक" । वुह मर जावें, कर नहिं शोक ॥
धर्मवान चाहे "शत्रू" हो । अर्जुन, चूम उस के "चरनन" को १०५
इस बिधि मोह गिलानी पार । भावें तू मारे सन्सार ॥
तो भी तुम को लेश न राई । उलटा मुक्त पदारथ आई ॥ १०६॥
मुक्ती बाखें इस को भाई । "पापी 'जन' अर 'मन' मर जाई" ॥
ताँ ते वैर बिना जब मारे । पापी को, तू जनम सँवारे ॥१०७॥
पर यदि वैर रहे तव मन में । हर्ष होइ शत्रू मारन में ॥
शोक फुरे सजनों के मूए । तो तुम सच मुच पापी हूए ॥१०८॥

मुक्ति उपाय

चौपाई

सुख दुख को प्रीतम सम जानो । हान लाभ इक जैसा मानो ॥
जीत हार मानो इक जैसी । एक लखो सब ऐसी वैसी ॥१०९॥
नाम रूप ते होय अतीत । विचरो जगत विखे तुम मीत ॥
आतम में जब इस्थित पाओ । पाप दोष ते तुम छुट जाओ ॥११०॥
राग अर द्वेष बिना जो कर्म । अर्जुन, जान तिसी को धर्म ॥
ऐसे धर्म विखे इस्थाई । बे डर हो कर मार लराई ॥१११॥

पाप स्वरूप

चौपाई

"मन की मत को" "पाप" पछानो । "राग द्वेष" को पुन "मन" जानो ॥
मन ते पार बिराजे जोई । पाप लेश ता को नहिं होई ॥११२॥
पाप वुही जो बाँधे भाई । बन्धन. राग अर द्वेष बनाई ॥
राग अर द्वेष बिना जो कीजे । कैसे ता का बन्धन लीजे ॥११३॥
नाम रूप को साचा मानन । पापन की जड़ है, हे अर्जुन ॥
इन को मान झूट जो वरते । तिस को पाप नहीं कुछ करते ।११४।
यिह विचार है साँख् अनुसारी । शान्त लहे इस से मन मारी ॥
योग रीत अब तू सुन भाई । जिस से दुख होवे सुख दाई ।११५।

योग विचार

चौपाई

दृढ बुध की मत राखे ठौर । फिरतू गिरतू छिन में और ॥
प्रण धारी "आतम" को दरसे । डावन डोल "रूप" को परसे ।११६।
योग मिलावे आतम सेती । नाम रूप की काटे खेती ॥
इस्थित बुध का वुह रस देवे । चञ्चलता मन की हर लेवे ॥११७॥
आशा तृष्णा देत जलाई । काहेले रूपन की छाई ॥
धर्म मात्र में देत जमाई । बिन इच्छा पुन कर्म कराई ॥११८॥

चौपाई

धर्म मात्र में जो हो लीन। योग विखे वुह आँहि प्रवीन ॥
जो रस लीन भाव में आवे। स्वर्ग निवासी भी नहिं पावे।११९।
"फल" भी "नाम रूप" ही आँहें। ताँ ते "फल" मूरख जन चाहें ॥
"फल इच्छा" बिन जो करतव्या। योग शास्त्र की यिह है सीक्षा।१२०।
निर सङ्कल्प अवस्था जोई। योग माँहि "परमातम" सोई ॥
जो जन निर इच्छित हो जावे। सोई परमानन्द समावे ॥१२१॥
ऐसो कर्मी धर्मी आहे। जो फल को रञ्चक नहिं चाहे ॥
केवल ध्यावे आतम नीत। राग द्वेष ते रहत अतीत ॥१२२॥
दृढ़ता धर्म चिह्न है भाई। ता ते दृढ़ता योग सिखाई ॥
चञ्चल मन को मारन जोई। साचा योग गनो तुम सोई ॥१२३॥

फोके ज्ञानी

चौपाई

बहुते जन विद्या अभिमानी। बातें कर जानें जो स्यानी ॥
शान्त सुधा का भेद न जानें। निशदिन दुब्धा में लिपटानें॥१२४॥
सोच विचार मूल नहिं राखें। "वेदन" को फिर स्वय गुरु बाखें ॥
स्वयम न जाँचें सुख का भेद। कहत फिरत "यों बाखत वेद"।१२५।
अभिलाषा के पाछे मरते। तँह पुन सिद्ध "वेद" से करते ॥
द्वेष करें विष वत नित पान। इस का भी दें "वेद" प्रमान ॥१२६॥
ऐसे मूरख "वेद" लजाएँ। "वेद" सार आतम नहिं पाएँ ॥

चौपाई

आतम अपना "मन" को मानें। धन सम्पत को मुक्त पछानें॥१२७॥
दुख नित पावें, पर नहिं जागें। मन की ममता को नहिं त्यागें॥
चञ्चल मन भटकें अर धावें। बुध की दृढ़ता रञ्च न पावें॥१२८॥

आनन्द स्वरूप

चौपाई

बुद्धी तीन गुनों को जानो। त्रय गुन ही चञ्चलता मानो॥
त्रय गुण पार रहे आनन्द। निर सङ्कल्प समान स्वछन्द॥१२९॥
सुख दुख, हर्ष शोक में समता। आनन्दी धारे यिह ममता॥
जावे मन ते सब "मैं मेरी"। यिह है जगत तरन की बेरी॥१३०॥
निशदिन आतम में मगनाना। रूप सभी भ्रम जिस ने जाना॥
सहज विखे जिस का अस्थान। आनन्दी ताँ की पहिचान॥१३१॥
ऐसो आनन्दी जो देव। रस देवे तिस को नित सेव॥
काहेते सब आतम देखे। भिन्न भाव को दोखा पेखे॥१३२॥
इस बिध ब्रह्म बने जब सन्त। वेदन को वुह तुच्छ गनन्त॥
जो स्वय ही होवे सामुद्र। कूँआँ उस को भासे खुद्र॥१३३॥
ऐसे पद में इस्थित पाओ। नाम रूप में नाहिं भ्रमाओ॥
ऐसे दृढ़ बुध जब तुम होवो। धर्म युद्ध में क्यों फिर सोवो।१३४।

धर्म स्वरूप

चौपाई

ताँ ते अर्जुन कर्म सँवारो। फल इच्छा नहिं मन में धारो ॥
बिन इच्छा आहे जो कर्म। समझो तिस को केवल धर्म ।१३५।
आलस से भी निश दिन भागो। काहेते यिह द्वेष अर रागो ॥
आलस चञ्चलता मध जोई। धर्म स्वरूप पछानो सोई ॥१३६॥
रूप सङ्ग को त्यागो भाई। लीन रहो नित आतम माही ॥
कर्म करो, अर्जुन, तुम ऐसे। नित्य रहो जैसे के तैसे ॥१३७॥
सम दृष्टी होवे बुध जिस की। योगी सँज्ञा मानो तिस की ॥
सुख में फूले, दुख में रोवे। ऐसो मानुष रोगी होवे ॥१३८॥
ता ते, अर्जुन, मन को मार। इस बिध चञ्चल भाव निकार ॥
इक आतम में होय विलीन। रूपन को तू छल ही चीन ॥१३९॥
शुभ्भ अशुभ्भ उभय जो कर्म। इनके पार पधारे धर्म ॥
सुख दुख जो इन दो की छाई। दोनों ही में चञ्चलताई ॥१४०॥
खेंचा तानी ते रहि पार। यूँ तर जा सारा सन्सार ॥
राग द्वेष ते होय वियुक्त। जन्म मरन ते हो जा मुक्त ॥१४१॥
जब तक बुद्धी हो इस्थाई। कुछ ताँ को नहिँ सकत हिलाई ॥
तब तू परमानन्द समाई। दुख, भय ते उपरत हो जाई॥१४२॥
तब तव मन का कश्मल भागे। सोम अवस्था तुद में जागे ॥
ऊँचा नीचा, ऐसा वैसा,। सब भासे तुम को इक जैसा॥१४३॥
जीता तो क्या, हारा तो क्या ?। बिन्से तो क्या, मारा तो क्या ? ॥

चौपाई

जो जो आय बने सो छाई । "भ्रम" "आतम" को नाहिं हिलाई ॥
खाया तो क्या, बूखे तो क्या ? । फूले तो क्या, सूखे तो क्या ? ॥
यूँ होवे वा वूँ तूँ होवे । "है-ता" तेरी तो नहिं खोवे ।१४५।
इस निर्मल बुध में थित पा तू । समता को स्वय मित्र बना तू ॥
फूल नहीं अर नहिं कुमला तू । इसविध, अर्जुन, दिन बीता तू १४६
आतम में दृढ़ निश दिन रहिना । दुख आपद को हित सूँ सहिना ॥
इस्थिर रहिना गिर की न्याईं । तिनके सम तू उड़ना नाईं ।१४७।
यिह समझो तुम धर्म स्वरूप । जिस में है आनन्द अनूप ॥
ऐसा जो होवे धर्मिष्ट । एक बचावे सकली सृष्ट ॥१४८॥

उपसँहार

चौपाई

यदि समझो तुम यिह उपदेश । भय अर सन्शय होय न शेष ॥
भूलो तुम यिह देह अध्यास । जिस से उपजें सारे त्रास ॥१४९॥
सर्व ओर आतम को देखो । बिसरो सारे ही रूपन को ॥
आतम हित से कर्म कमाओ । इस बिध अपना धर्म दिखाओ।१५०।
धर्म विखे तुम इस्थित हो कर । धारो दो कर में चाप् अर शर ॥
इस बिध यदि तुम सारे मारो । पाप न कोई चिमटे तुम को ।१५१।
पूर्व युक्तियों को वीचारो । निर्भय निश्चल हो कर मारो ॥
द्वेष न मन में रञ्चक धारो । आतम ही सब माँहिं चितारो।१५२।
उट्ठो अर हो जावो चाक । आदर से धारो मम वाक ॥

चौपाई

प्रान कला अपनी सम्भारो । सारी दुर्बलता को हारो ॥१५३॥
सिङ्घ समा रण में ललकारो । धनुष धरो अर धारो मारो ॥
वीर्य दिखा कर जग दहिलाओ । धर्मी उपकारी कहिलाओ ॥१५४॥
पाप उखाड़ो जड़ से भाई । चित में वैर न होवे राई ॥
पर उपकारी तीर चलाओ । मरने की नहिं चिन्त लगाओ ।१५५।
कष्मल त्यागो लयता त्यागो । त्यागो हमता अर ममता को ॥
देह दृष्ट को अर्जुन मूँदो । अपना आप लखो सब ही को ॥१५६॥

अर्जुन उवाच

दोहा

हे *केशव,* दृढ़ बुद्ध के, क्या क्या लक्षण आँहि ।
कैसे बैठे, किम चले, किम बोले जग माँहि ॥ १५७ ॥
और कहें उस पुरुष के, लक्षण दीन दयार ।
निर सङ्कल्प समाध जो, धारे मन को मार ॥ १५८ ॥

श्री भगवान उवाच

व्यवहार में समाधि

तोटक छन्द

जिस ने तज दी सकली तृपना । अर जो है भय अर भ्रान्त बिना ॥
जो आतम माँहि प्रसन्न रहे । *तिस की दिन रात समाध अहे* १५९

चौपाई

जिस स्वय को ब्रह्म किये निश्चय । अर दग्ध कियो जिस ने सब भय ॥
बिन मोह बसे सन्सार बिखे । *तिस की दिन रात समाध अहे* १६०
जिस को जीवन अर मौत समा । जिस को सम भासत शत्र सखा ॥
जो रोग अरोग समान लखे । *तिस की दिन रात समाध अहे* १६१
यदि आइ उसे धन की गठरी । वा जाय हरी सम्पद सगरी ॥
जो काल उभय निर खोब रहे । *तिस की दिन रात समाध अहे* १६२
इक वासर तास कुटुम्ब बरा । अगले दिन सब को काल हरा ॥
सम बुद्ध उभय दिन जोइ रहे । *तिस की दिन रात समाध अहे* १६३

दृढ़ बुद्ध लत्तण

तोटक छन्द

दुख भीतर जो निर चिन्त सदा । सुख माहिं नहीं अभिमान कदा ॥
जो राग अर द्वेष विहीन रहें । *तिन को निश्चल दृढ़ बुद्ध कहें* ॥ १६४ ॥
जो कुछ सिर ऊपर आन बनें । चित में कुछ हान न लाभ गनें ॥
जो प्रीत गिलान अतीत अहें । *तिन को निश्चल दृढ़ बुद्ध कहें* ॥ १६५ ॥
मन को जिन ने बस माँहि रख्यो । जिन ने पुन वप को तुच्छ लख्यो ॥
जो काम बिना नित ही विचरें । *तिन को निश्चल दृढ़ बुद्ध कहें* ॥ १६६ ॥
जिनका व्यवहार अहे सुधरा । अर कपट बिना, बिन झूट, खरा ॥

चौपाई

नित ही जो श्रेष्ठाचार रखें। *तिन को निश्चल दृढ़ बुद्ध कहें*॥१६७॥
आहार विखे निर लोभ सदा। खावें नहिं रञ्च अपथ्य कदा॥
रसना ससना वश माँहि जिन्हें। *तिन को निश्चल दृढ़ बुद्ध कहें*॥१६८॥
अपना धन दें पर के हित में। जो द्वेष न रञ्च रखें चित में॥
पुन हित से जो दुख भार सहें। *तिन को निश्चल दृढ़ बुद्ध कहें*॥१६९॥
जब आसन धार बिराजत जो। तिन को न हिलाइ सके फिर को॥
यदि सन्मुख ईश खरे होवें। *तिन को निश्चल दृढ़ बुद्ध कहें*॥१७०॥
जो भूके प्यासे नगन फिरें। नहिं ईश्वर से भी याच करें॥
जो मान अपमान समान लहें। *तिन को निश्चल दृढ़ बुद्ध कहें*॥१७१॥
हस्ती सम जो नित मस्त चलें। जो लाज सभी जग में बिसरें॥
जिन में अश्चर्य अर भय न रमें। *तिन को निश्चल दृढ़ बुद्ध कहें*॥१७२॥
प्रन नाहिं हरें, यदि प्रान तजें। जिन के वच व्यर्थ नहीं निकलें॥
तप माँहि हृदय जिन के प्रफुलें। *तिन को निश्चल दृढ़ बुद्ध कहें*॥१७३॥
जो वाक मनोहर ही उचरें। जो वाक न रञ्चक हान करें॥
पुन पर के अर्थ विषाद झलें। *तिन को निश्चल दृढ़ बुद्ध कहें*॥१७४॥
जो आस निरास अतीत रहें। नहिं पास करें, नहिं द्रोह करें॥
सब सूँ नित ही इक सा बरतें। *तिन को निश्चल दृढ़ बुद्ध कहें*॥१७५॥
यदि निद्रा में भी वाक करें। तिस की भी जो जन लाज धरें॥
वच पालन में जो शूर बनें। *तिन को निश्चल दृढ़ बुद्ध कहें*॥१७६॥

मन स्वरूप

दोहा

हे अर्जुन, मन डीठ है, शत्रू द्रोह स्वरूप ।
दिखलावे उद्यान जो, पटके दुख के कूप ॥१७७॥
इस ते ज्ञानी सन्त जन, रहें सदीव निरास ।
शत्रू मन की बात पर, धरें न कुछ विश्वास ॥१७८॥
इन्द्रिय गण को वश रखें, रहें आप में आप ।
नहिं डोलें इस्थित रहें, खोवें सब सन्ताप ॥१७९॥
मन का निग्रह उचित है, अन्त काल परयन्त ।
निग्रह ही को सुख कहें, कोविद संन्त महन्त ॥१८०॥
यदि इक पल भी छोर दें, मन मरकट की बाग ।
बीस साल का तप हरे, छिन में जावे भाग ॥१८१॥
युग भर के आनन्द को, पल में विष कर देत ।
ताँ ते ऐसे साँप को, योगी खेह करेत ॥१८२॥
जैसे मेंड़क को करो, क्यों नहिं कैसा चूर ।
वर्षा जब उस पर परे, हूँ अनेक डेड्डूर ॥१८३॥
तैसे मन को क्यों नहीं, कैसा कीजे धूर ।
इच्छा की वर्षा करे, फिर उस को भरपूर ॥१८४॥
काहेते, अर्जुन, अहें, "मन""इच्छा"इक रूप ।
इच्छा बिन जो जीव है, वुह है ब्रह्म अनूप ॥१८५॥

दोहा

ताँ ते इच्छा "रूप" की, सन्त तजें दिन रात ।
उन को विष वत लगत है, विषय भोग की बात ॥१८६॥

चौपाई

जिस ने मन इन्द्रय वश कीने । विषय भोग जिस ने तज दीने ॥
आतम में जो नित इस्थाई । *इस्थित प्रज्ञ वुही है भाई* ॥१८७॥
दुख आपद नहिं भासे जिस को । ता में राम प्रकासे तिस को ॥
आपद में जो नहिं घबराई । *इस्थित प्रज्ञ वुही है भाई* ॥१८८॥
प्रण का पूरा, वच का पूरा । काम न छोड़े कोइ अधूरा ॥
धर्म अपने पर पैर जमाई । *इस्थित प्रज्ञ वुही है भाई* ॥१८९॥
समय अनुसार करे जो काम । फिर लेवे नहिं उस का नाम ॥
कर्म विखे जो लय हो जाई । *इस्थित प्रज्ञ वुही है भाई* ॥१९०॥
यतन मात्र का जो रस लेवे । निष्फल सफल उभय सम सेवे ॥
फल जिस को नहिं रञ्च भ्रमाई । *इस्थित प्रज्ञ वुही है भाई*॥१९१॥
नित्य प्रसन्न सदीव उदासी । शान्त सदा निर चिन्त निरासी ॥
जिस में क्रोध अर शोक न राई । *इस्थित प्रज्ञ वुही है भाई*॥१९२॥
शीत उषण में निश्चल जोई । मान अपमान जिसे सम होई ॥
रोग अरोग जिसे इक साई । *इस्थित प्रज्ञ वुही है भाई* ॥१९३॥
जीवन मरण जिसे सामान । सोम वृती निर्भय निरमान ॥
पर इस्त्री को समझे माई । *इस्थित प्रज्ञ वुही है भाई*॥१९४॥

चौपाई

वैर विरोध न जिस में कोई । सब में आतम समझे जोई ॥
जग जिस को छल ही दरसाई । *इस्थित प्रज्ञ वुही है भाई* ॥११५॥
थोरे में जो हो तृप्ताई । बहुते को जग में वरताई ॥
चञ्चलता में निश्चल आही । *इस्थित प्रज्ञ वुही है भाई* ॥११६॥

चौपाई

जो दिन रात विषय को ध्यावे । विषयन की रत तँह हो जावे ॥
"प्रीती" से हो "इच्छा" भाई । "इच्छा" से "कामादिक" आई-११७
"कामादिक" तें जावे "ज्ञान" । "ज्ञान" बिना "बुद्धी" नहिं आन ॥
"बुद्ध" गई फिर क्या रहि जावे । मानुष "मानुष भाव" गँवावे ।११८।

तोटक छन्द

जिन को नहिं राग अर द्वेष कदा । उन ही को हो आनन्द सदा ॥
ममता आहे सब दुख की माँ । ममता जावे, तब दुःख कहाँ ।११९।
इस तें योगीश्वर मान तजें । सर्वातम ब्रह्म समान भजें ॥
हर वस्त विखे आतम लाखें । दुख कष्ट विखे अमृत चाखें ।२००।
दुख मानत केवल द्वेष विखे । अथवा दुख दृष्ट विशेष विखे ॥
जिस के मन में कुछ द्वेश नहीं । उन को जग में दुख लेश नहीं-२०१
"इतनी" "उतनी" उन को सम है । नहिं लोभ उन्हें नाहीं मम है ॥
पाथर उन को शय्या कोमल । है क्षीर समा ही उन को जल ।२०२।
निर्भय निरचिन्त बिराजत सो । अर मुदता से नित साजत सो ॥
जग में कैसे ही विपदा हों । योगी निर्भय हो ज्यों का त्यों ॥२०३॥

शठ और योगी भेद

तोटक छन्द

जिस का मन लोचत रूपन को। उसको ही, अर्जुन, शठ समझो॥
नित शोक अर चिन्त विखे तरपे। पुन सुख अर दुःख विखे फरके।२०४।
ससरूख विखे, अर त्रास विखे। अर क्रोध विखे निशदिन भटके॥
उस को, अर्जुन, किम शान्त मिले। पीछे जो धावत रूपन के॥२०५॥
ताँ ते, अर्जुन, मन चूर करो। अर इच्छा से तुम युद्ध लड़ो॥
इच्छा को चिन्ता मूल गनो। इच्छा ही में सब शूल गनों॥२०६॥
इच्छा होवे है रूपन की। पर रूप न देवें तृप्त कभी॥
"ऐसे" "वैसे" को रूप कहें। "ऐसा" "वैसा" भ्रम मात्र अहें२०७
जो शून अहे अर जो भ्रम है। उस की क्या कीजै इच्छा भै॥
इस ते योगीश्वर रूप तजें। अर निग्रह का अमृत भुञ्चें।२०८।
आतम इक देखें सर्व विखे। सब झूट लखें बिन आतम के॥
अद्वैत विखे इस्थित ताँ की। दुब्धा नासी सकली वाँकी।२०९।
इस विध वुह शान्त स्वरूप अहें। बिन वैर रहें बिन क्रोध रहें॥
शत्रू अर मित्र समान उन्हें। सम होवे मान् अपमान उन्हें।२१०।

दोहा

ऐसो द्वैत अतीत जन, ब्रह्म रूप ही आँहि।
जीवत भी निर्लेप हैं, मरे मुक्त हो जाँइ॥२११॥

दोहा

तिस आगे सब दुःख है, सुख बाखें जँह लोक ।
पुन समझे आनन्द वुह, लोक कहें जँह शोक ॥२१२॥
कथनी जिस की मौन है, सङ्गत तास इकाँत ।
वित ताँ की सन्तोष है, पुन प्रताप है शाँत ॥२१३॥
उपशम तास विहार है, लाभ तास है हान ।
यश तिस का अपमान है, अपयश है सन्मान ॥२१४॥
छादन उस का धर्म है, भूषण उस का ज्ञान ।
भक्ती ताँ की स्वर्ग है, शान्त तास है बान ॥२१५॥
जिस के पीछे जग फिरे, उस को मारे थूक ।
निर्धनता है धन उसे, अन्न उसे है भूक ॥२१६॥
जग की चुस्ती है उसे, सुस्ती का सङ्क्षेप ।
जग से सुस्ती को गने, चुस्ती रूप अलेप ॥२१७॥
मानो उस की रात है, लोक कहें जँह प्रात ।
और दिवस है तास का, जो लोकन की रात ॥२१८॥
इस ते मूरख पुरुष सब, माया माँहि विलीन ।
सन्तन को पागल कहें, उन्मादी मत हीन ॥२१९॥
यिह संज्ञा भी सन्त को, रञ्च नहीं कल्पाइ ।
उलटा बालिक जगत पर, दया कृपा उपजाइ ॥२२०॥
इस्थित वुध का यिह अहे, अर्जुन, मानो चित्र ।
दिवस रात जो सम रहे, लखे न शत्रु मित्र ॥२२१॥

दोहा

सब सूँ आतम हित करे, सेवा में रस पाइ।
पहिले सब से शत्र को, छाती साथ लगाइ ॥२२२॥
निन्दक का आदर करे, सेवक का अपमान।
इस विध अन्तः करण का, धो डाले अभिमान ॥२२३॥
द्वन्द रूप सन्सार में, जो निरद्वन्द समान।
सोई पावे अन्त में, हे अर्जुन, निर्वान ॥२२४॥
बहुत कठिन यिह पद अहे, कहिन कहानी नाहिं।
यिह पदवी उस को मिले, जो जीते मर जाइँ ॥२२५॥

❀ इति द्वितीय अध्याय ❀

सङ्क्षेप और धन्यवाद

गायन छन्द

श्रीकृष्ण अग्र नमाम कीजे, चरण ता के पकरिये ।
उपदेश जिन के ने सभी, अर्जुन के सङ्कट कट दिये ।।
सङ्ग्राम भूमी के विखे, अर्जुन को जब कश्मल हुआ ।
तो कैस *माधव* ने किया, उपदेश से उस को खरा ।। १ ।।
उपदेश यिह कीना कि आतम, जन्मता मरता नहीं ।
इस वासते, अर्जुन तुम्हें, कुछ शोक तो बनता नहीं ।।
इन तीन गुन को आतमा, समझो न, अर्जुन, तुम परे ।
इन तीन से है पार जो, सो तो नहीं जीवे मरे ।।२।।
यिह तीन गुन हैं बुद्ध का, भ्रम आतमा जाने उन्हें ।
फिर आतमा की आँहि इच्छा, माने नाँ माने उन्हें ।।
यिह नाश अर उत्पत जु है, वुह तीन गुण का खेल है ।
पर तीन गुन का आसरा, जो आतमा बिन मेल है ।।३।।
उन लहिर और तरङ्ग का, जो रूप वुह आया गया ।
पर नीर जो उन की है सत्ता, वुह तो ज्यों का त्यों रहा ।।
तिस भान्त उपजें वा मरें, दिन रात वप के बुल्बुले ।
पर आतमा जो तोय सम है, तास "अर्जुन" क्या हिले ।। ४ ।।
निज आतमा में लीन रहि तू, तीन गुन का तज विचार ।
पुन मारना मरना समझ तू, तीन गुन का ही विकार ।।

गायन छन्द

यिह तीन गुन भ्रम मात्र ही हैं, कुछ तास में सत्ता नहीं।
इस भान्त वा उस भान्त हो, कुछ वस्त का घाटा नहीं॥ ५॥
इस रीति *माधव* ने कियो, अर्जुन के मन ते शोक दूर।
पुन शान्त निध जो आँहि समता, तास बुध में कीन पूर॥
हो, ऐस उपदेशक महा के अग्र नम शत वार है।
पुन तास की दृढ़ बुद्ध पर, *रघुनाथ* सद् बलिहार है॥ ६॥
धन वाद मैं करता हूँ ऐसे, धर्म के अवतार का।
जिस की दया से *गीत* यिह, भाषा विखे उद्यत हुआ॥
सन्सार के लोगों को जब, देखा दुखातर शोक में।
रघुनाथ के मन माँहि आई, *गीत* को भाषा करें॥ ७॥
अब ऐस शुभ इच्छा को मन में, धार कर उद्यम किया।
अर *गीत* के अभिप्राय को, विस्तार से जग को दिया॥
पुन जब कहीं देखा कि पाठक, भाव को नहिं समझता।
तो एक की जा बीस पद में, लख्य को परगट किया॥ ८॥
मम था प्रयोजन यिह कि पढ़ कर लोग पावें ज्ञान को।
निज आत्मा को चीन कर के, छोड़ दें वप ध्यान को॥
सन्सार के द्वन्दन को मृग तृष्णा का पानी जान लें।
नहिं भूल कर उन पर कभी, विपदा कि खाड़ी में गिरें॥९॥
नित ही रहें निश्चल मती, निष्काम चित, सन्सार में।
पुन प्रेम की मूरत बनें, अवतार हूँ उपकार में॥

गायन छन्द

भावी भविष्यत को भुला, लिवलीन हों जो काम में ।
पुन फल कि चिन्ता त्याग कर, नित ही रहें विसराम में ।।१०।।
धर के प्रयोजन यिह किया, *अनुवाद भगवद्गीत का* ।
पढ़ कर जिसे होवे भला, जग माँही शत्रू मीत का ।
रघुनाथ की इच्छा यिही, सन्सार में समझें सभी ।
है "आतमा" गुन ते परे, नहिं जन्मता मरता कभी ।।११।।

अथ तृतीय अध्याय

अर्जुन उवाच

दोहा

हे केशव, यदि आप के, आगे "ज्ञान" विशेष ।
तो क्यों करते "कर्म" का, आप साथ उपदेश ॥ १ ॥
यदि बाखें आनन्द है, शान्त शील के माँहिं ।
तो क्यों अब सङ्कट हरन, युध में मोहि लगाँइँ ॥ २ ॥
इस मिश्रित उपदेश से, बुध मेरी चकराइ ।
ताँ ते निश्चय से कहें, कौन पन्थ सुख दाइ ॥ ३ ॥
"कर्म" करूँ वा शान्त से, घर में बैठूँ जाइ ।
युद्ध लड़ूँ वा ब्रह्म में, जाऊँ ध्यान लगाइ ॥ ४ ॥

श्रीभगवान उवाच

दोहा

"ज्ञान" "कर्म" अर्जुन उभय, जानो एक सरूप ।
इक बिन दूसर हो नहीं, बाखें वेद अनूप ॥ ५ ॥
"ज्ञान" आहिं, हे परन्तप, "कर्म योग" की आँख ।
ज्ञान बिना अन्धा रहे, यिह मत देवत साँख ॥ ६ ॥
"कर्म" बिना कुछ "ज्ञान" का, दीसत नहिं आकार ।
ताँ ते "कर्म", "ज्ञान" का, समझो एक विकार ॥ ७ ॥

दोहा

"कर्म" देह वत जानिए, जान "ज्ञान" को हन्स ।
कर्म लिये ही ज्ञान की, की है एत प्रशन्स ॥ ८ ॥
कर्म जगत का प्रान है, कर्म बिना जग जात ।
ताँ ते त्याग न सम्भवे, कर्म्मन का, हे भ्रात ॥ ९ ॥
एक कर्म को त्याग कर, दूसर करना ग्रहिन ।
"कर्म" त्याग है यिह नहीं, यिह तो केवल कहिन ॥१०॥
ऐसो भ्रामक त्याग नेंह, लावे परमानन्द ।
उलटा दुख की निध अहे, राग द्वेष का फन्द ॥११॥
शाँत नहीं उपजे कभी, सो जाने से मीत ।
शान्त तास की आँहि जो, "कर्म" करे मन जीत ॥१२॥
"ज्ञान" नैन को धार कर, "कर्म" करे जो सन्त ।
शान्त पदारथ पाय कर, परमानन्द लहन्त ॥१३॥
"ज्ञान" युक्त जो "कर्म" है, सोई देवे शान्त ।
कर्म त्याग से हो नहीं, नास चीत की भ्रान्त ॥१४॥
इन्द्रय गण की शिथिलता, शान्त नहीं उपजाइ ।
यदि मन चञ्चल ही रहे, हर्ष शोक को लाइ ॥१५॥
आलस सुस्ती भी अहें, मन नटुए के पूत ।
ताँ ते "ज्ञान" विरुद्ध हैं, मारो इन को जूत ॥१६॥
"मन" अथवा "अज्ञान" से, होवे जो जो कर्म ।
दुख चिन्ता सन्ताप में, डालें सकल अधर्म ॥१७॥

दोहा

"आतम" अथवा "ज्ञान" जो, जग में कार्य कराइ ।
शान्त पदारथ मुक्त का, कर्त्ता को फल लाइ ॥१८॥
ताँ ते "ज्ञान" सयुक्त जो, "कर्म" वुही है "धर्म" ।
"कर्म योग" भी है वुही, और वुही शुभ कर्म ॥१६॥
"ज्ञान" अहे "तत्वम् असि", "अहम ब्रह्म" है "ज्ञान" ।
इस निश्चय से "कर्म" जो, मुक्त अर शान्त निधान ॥२०॥
"ज्ञान" न केवल "समिझ" यिह, "मैं हूँ ब्रह्म अनूप" ।
केवल "कहिनी" मात्र ही, नहिं है "ज्ञान" स्वरूप ॥२१॥
"कहिनी" जब "रहिनी" बने, तब है "पूरन ज्ञान" ।
"रहिनी" बिन जो "ज्ञान" है, ताँ को दोखा मान ॥२२॥
जो फल बाखे "ज्ञान" के, सब "रहिनी" के आँहिँ ।
"रहिनी" बिन "कहिनी" निरी, नर्क कुण्ड ले जाँइँ ॥२३॥
ब्रह्म एक अद्वैत है, द्वैत लेश जेँह नाँहिँ ।
जब तक जन "द्वैती" अहें, कैस "ब्रह्म" बन जाँइँ ॥२४॥
"इच्छा" फुरती "द्वैत" से, जिस में "इच्छा" होइ ।
वुह तो "द्वैत विकार" में, "अद्वय ब्रह्म" न सोइ ॥२५॥
इस रीती बिन "कर्म" के, "ज्ञान" व्यर्थ पहिचान ।
"पक्का ज्ञान" तभी अहे, जब "इच्छा" हो हान ॥२६॥
"इच्छा" बिन जो "कर्म" है, वुही "धर्म" कहिलाइ ।
"धर्म" "ज्ञान" इक रूप हैं, "धर्मी" "कर्म" कहाइ ॥२७॥

दोहा

"ब्रह्म" "जीव" का तत्व है, "ब्रह्म" "जीव" का तात ।
"ब्रह्म" "जीव" का गोत्र है, "ब्रह्म" "जीव" की जात ॥२८॥
पर वुह बिगरा पूत है, जात पतित कङ्गाल ।
कैसे राजा बाप की, पदवी सके सँभाल ॥२९॥
जब तक लक्षन बाप के, धारे नाहिं सपूत ।
तब तक समझा जायगो, वुह कङ्गाल अछूत ॥३०॥
जब स्वभाव सब बाप के, वर्तें सुत के बीच ।
पिता समा वुह उच बने, रहे न रञ्चक नीच ॥३१॥
इसी भाँत जो "जीव" है, "ब्रह्म" तभी कहिलाइ ।
प्रेम दान अर धीरता, जब उस माँहिं समाइ ॥३२॥
"ब्रह्म धर्म" का धारना, यिह ही "कर्म" कहात ।
इसी "कर्म" से "जीव" सब, "ब्रह्म" रूप बन जात ॥३३॥
इस ही से मैं ने किया, "कर्म योग" को ऊच ।
"कर्म योग" से ही बने, "जीव" "ब्रह्म" अति शूच ॥३४॥
बिना "ब्रह्म लक्षन" धरे, "जीव" न "ब्रह्म" कहात ।
निर इच्छत जब ही बनें, "ब्रह्म" आप बन जात ॥३५॥
"करनी" बिन "कहिनी" सभी, सब है "ज्ञान पखण्ड" ।
ऐसे दम्भी पुरुष जो, सहें नर्क के दण्ड ॥३६॥
ताँ ते "धारन" "ज्ञान" का, "कर्म" यिही है मीत ।
ऐसे "धारन" के बिना, "मन" पर होइ न जीत ॥३७॥
अर "मन" के मारे बिना, मोक्ष न कब हूँ आत ।

दोहा

और न "जीवातम" कभी, परमानन्द समात ॥३८॥
और न "सञ्चित" दग्ध हूँ, "आगामी" नहिं जाँइँ ।
इस दुखमय सन्सार में, "मन" ही तो डोबाँइँ ॥३९॥
"मन मारन" ही को कहें, "कर्म योग" जग माँहि ।
इस ही कारन सन्त सब, "ज्ञान" "कर्म" सालाँहि ॥४०॥
"ज्ञान" कहत है "मन अहे, दुष्ट सर्व दुख मूल" ।
ताँ ते "कर्म" करात है, जो नाशें सब शूल ॥४१॥
निरा "ज्ञान" बिन "कर्म" के, आँहि "अधूरा ज्ञान" ।
ताँ ते "ज्ञान" अर "कर्म" को, "आगा" "पीछा" जान ॥४२॥

विषय भोगी ज्ञानी

चौपाई

विषय भोग को जो जन चाहें । चाहे कैस तपीश्वर आहें ॥
पाखण्डी उन को पहिचानो । शान्त पदारथ मिलत न ताँ को ॥४३॥
मन मरकट जिस का वश माँही । दुख नहिं व्यापत ताँहि कदाँही ॥
राग अर द्वेष बिना जो वरते । ज्ञानी मानुष ता को कहिये ॥४४॥

आलस निषेधी

चौपाई

कर्म करो, अर्जुन, सुख पाओ । आलस में नहिं जनम गँवाओ ॥
आलस से कुछ भी नहिं सुधरे । उलटा स्वास्थ देह का बिगरे ॥४५॥

चौपाई

आलस सब पापन का ताता। ताँ ते आलस को तज भ्राता॥
आलस ने जन बहुत प्रवीने। रोगी अर चञ्चल कर दीने॥४६॥

सन्सार कर्म स्वरूप है

चौपाई

धीरज सहित कर्म में लागो। कायर बन रण से नहिं भागो॥
राग द्वेष मन में नहिं लाओ। इस विध कर्तव्या भुगताओ॥४७॥
हे अर्जुन, यिह जो सन्सारा। कर्म बन्ध में बाँधा सारा॥
इस बन्धन से, कुन्ती पूता। कोई भी रञ्चक नहिं छूटा॥४८॥
आँहि निकम्मा पन भी भाई। कोविद आगे एक कमाई॥
"नहिं करना" यिह भी इक "करना"। कर्म अहें "सो जाना" "मरना"॥४९॥
ताँ ते कौन अहें बिन कर्म। पापी जन हो वा दृढ़ धर्म॥
भेद यिही, इक है अज्ञानी। दूसर की मत आँहि सियानी॥५०॥
नाम रूप में इक अनुरागे। दूसर आतम हित में लागे॥
एक क्षोब में काल बितावे। दूसर शान्त अमी रस खावे॥५१॥

कर्म विधान

चौपाई

इस विचार से, हे मम मीत। रहि तू राग अर द्वेष अतीत॥
करता कर्म क्रिया में भाई। तुम को इक आतम दरसाई॥५२॥

चौपाई

ऐसे कर्म अकर्म समान । काहेते नहिं द्वैत पछान ॥
आप सङ्ग जो आप कलोले । ताँ को करता मूरख बोले ॥५३॥
ऐसो आतम दरसी जोई । उस से पाप कभी नहिं होई ॥
स्वय को जग में कौन दुखाए । अपना कष्ट कवन जन चाहे ॥५४॥
ऐसे करते हुए अकरता । हो के, अर्जुन, क्यों नहि लरता ॥
फल काँक्षा तज दे तू मन ते । कर्म विखे लयता का रस ले ॥५५॥
त्याग करो तुम हमता ममता । धारो निश दिन रिद में समता ॥
समता रस को मोक्ष बतावें । देवी देव यिही रस पावें ॥५६॥
ममता ही है दुख की खान । निर्ममता है शान्त निधान ॥
ताँ ते ममता को परित्यागो । अप्ना आप लखो सब हो को॥५७॥
यिह है कर्म योग की ताली । छूटे जिस से चिन्त पँजाली ॥
हे अर्जुन, यिह सुख की रीती । बिसरो सब ही भावी बीती ॥५८॥
जो हो सन्मुख तेरे करना । ताँ के बीच लीन हो मरना ॥
यिह है अमृत फल की चाबी । यिह अमृत नहि स्वर्ग बिखे भी।५९।

दान वा यज्ञ महिमा

चौपाई

ममता त्याग "यज्ञ" कहिलावे । परमानन्द इसी से आवे ॥
जो माँगो सो देवे "दान" । अर्जुन "दान" अर "यज्ञ" समान-६०
"पाने" का जादू है "देना" । इक "देना" लावे सौ "लेना" ॥

चौपाई

"यज्ञ" बिना कुछ हाथ न आवे । कञ्जूसी कङ्गाल बनावे ॥६१॥
"त्याग" बनावे सब का बाप । "दान" देत है इन्द्र प्रताप ॥
रोग अर शोक विपद दुख दाई । "यज्ञ" अर "दान" सभी बिसमाई-६२
भीड़ परे यदि तुम पर भारी । "दान" उड़ावत है वुह सारी ॥
सिधता की कुञ्जी है "दान" । "दान" बिना खोखा है ज्ञान॥६३॥
ताँ ते तज दे ममता सगरी । यदि चाहे तू यश की पगरी ॥
"दे देने" को धर्म पछान । वप तक भी तू कर दे दान ॥६४॥
ईश्वर ने जब जगत बनाया । तो उस का यिह नियम सुनाया ॥
"दान बीज सब सुख का जानो । "करुणा दुख की औषध मानो।६५।
"तन मन धन अर सम्पद सारी । "पर सुख अर्थ करो तुम वारी॥
"ऐसो बीज कर्म का बोवो । "सुख शान्ती में राजा होवो ॥६६॥
'देव' 'यज्ञ' से होत प्रसन्न । "दें आयू, सन्तत अर धन्न ॥
"जब तुम उन को बलि से सेवो । "उन से तुम बल अर सुख लेवो"।६७।

कृपणता निषेधी

चौपाई

चोर जान वुह मानुष, प्यारे । धन पा कर जो दान न धारे ॥
धिक वुह जन जो आप धरापा । "देने" से जो करत सियापा ॥६८॥
उस मानुष पर शत धिक्कारा । नाम न जाने जो "देने" का ॥
खा पीं कर अँग्राई लेवे । भूके को टुकरा नहिं देवे ॥६९॥
ऐसे पुरुष नरक के वासी । मँगता पर जो करते हासी ॥

चौपाई

भूके को लत मार निकारें । कूकर को टुकरा नहिं डारें ॥७०॥
स्वय तो खीर मलाई खावें । दूसर अर्थ न पानी लावें ॥
हमसाया हो बूखा कैसा । दे न सकें ता को इक पैसा ॥७१॥
पाप महा कञ्जूसी भाई । धन, बुध, सन्तत सकल उड़ाई ।
"देने" को ही धन पहिचानो । "देने" में ही रिध सिध मानो ॥७२॥

अन्न दान महिमा

चौपाई

यज्ञ झूट को जो जन खावे । सकले पिछले पाप उड़ावे ॥
जो जन अन्न दान नहिं करते । भावी में वुह बूखे मरते ॥७३॥
"अन" से उपजे सारी सृष्टी । "अन" को उपजावे है "वृष्टी"॥
"दान यज्ञ" वर्षा को लावे । "ब्रह्म ज्ञान" ही दान करावे ॥७४॥
ब्रह्मा से उतपत हो कर्म । ब्रह्मा मानो पूरन धर्म ॥
"धर्म" "ब्रह्म" को एक पछानो । ताँ ते "ब्रह्म" "दान" को मानो॥७५॥
"दान" पछानो जग की मात । "दान" विखे "आतम" साक्षात॥
ताँ ते जो नहिं करते "दान" । ताँ को नहिं है "आतम ज्ञान" ॥७६॥

महात्मा लच्चण

तोटक छन्द

जो आपन माँहि प्रसन्न रहें । अर रूपन को छल ही समझें ॥
सन्तोष जिन्हें पुन आतम पे । *ऐसे जन हैं जग में विरले*॥७७॥

तोटक छन्द

लङ्गोट विखे अधिराजा जो । नहिं हान न लाभ रती जिन को ॥
नहिं हर्ष न शोक कभी जिन के । *ऐसे जन हैं जग में विरले* ॥७८॥
बिन चिन्त सदा जग में विचरें । तृष्णा अर आस सभी तज दें ॥
नहिं क्रोध कभी जिन को उपजे । *ऐसे जन हैं जग में विरले* ॥७९॥
नित सोम रहें, निर खोब रहें । दुख सुख में नित सम बुद्ध अहें ॥
विपदा जिन को न हिलाइ सके । *ऐसे जन हैं जग में विरले* ॥८०॥
कूटस्थ सदा अपमान विखे । निर्मान सदा सन्मान विखे ॥
सम वृत जो जीत् अर हार विखे । *ऐसे जन हैं जग में विरले* ॥८१॥
जो प्रण को पूरण कर छोड़ें । अर इस ही को तप सार लखें ॥
हित प्रेम अहें भूषण जिन के । *ऐसे जन हैं जग में विरले* ॥८२॥
जो युक्त अहार विहार करें । बिन राग अर द्वेष सदा विचरें ॥
नहि वैर विरोध कभी जिन के । *ऐसे जन हैं जग में विरले* ॥८३॥

तोटक छन्द

इन सन्तन को कुछ चाह नहीं । अश्चर्य् अर भय् अर दाह नहीं ॥
करने की कुछ अभिलाष नहीं । फल की तिन को कुछ आश नहीं ॥८४॥
विषयन को विष्ट समा देखें । अमृत शम अर दम में पेखें ॥
आरम्भ बिना अर अर्थ बिना । उपकार करें नित गङ्ग समा ॥८५॥
इन सन्तन सम नित कर्म करो । जग में निर्मम हो कर विचरो ॥
बिन प्रीत गिलान करो कर्मा । समझो इस को अपना धर्मा ॥८६॥

तोटक छन्द

यदि इत विध तुम सद कर्म करो । सन्सार समुन्दर पार तरो ॥
पुन ब्रह्म विखे निज धाम लहो । आनन्द विखे दिन रात रहो॥८७॥
इस ही पद को निर्वान कहें । इस ही में सब कल्यान अहें ॥
इस पदवी को मुक्ती बाखें । इस ही में अमृत को चाखें ॥८८॥

दोहा

जनक आद सब सन्त जन, सिद्ध हुए जग माहिं ।
कर्म योग से ही हुए, और शोभ नहिं ताहिं ॥८९॥
"अहम ब्रह्म" के ज्ञान को, करनी में वुह लाए ।
सब को "आतम" जान कर, सब को सुख पहुँचाए ॥९०॥
तन मन धन अर्पन किया, दुखी जनों के हेत ।
ममता सगरी त्याग कर, धर्म कमाए जेत ॥९१॥
दान् अर धीरज मूरती, यथा लाभ सन्तुष्ट ।
सम दर्शी, शीतल रिदय, आतम बल में पुष्ट ॥९२॥
हान लाभ में एक थे, मान अपमाने एक ।
रूपन को छल समझते, आतम की तेंह टेक ॥९३॥
जो कीना उस धर्म में, भये लीन सिर पैर ।
धर्म मात्र का रस लिया, मन में प्रीत न वैर ॥९४॥
ताँ ते, अर्जुन, त्याग तू, राग द्वेष का शूल ।
धर्म विखे चित लाय तू, धर्म शान्त का मूल ॥९५॥
जो कुछ जग में करत हैं, राजा पुरुष महान ।

दोहा

सोई लोकन का बने, पाछे एक प्रमान ॥९६॥
ताँ ते छोर न जग विखे, अर्जुन, मन्द प्रमान ।
अपने पीछे सर्व को, दे नहिं दुख का दान ॥९७॥
जग में, अर्जुन, है नहीं, इस जैसा उपकार ।
अपने ही दृष्टान्त से, तारें सब सन्सार ॥९८॥
धीरज, सहन दिखाय कर, खेंचें जग का चीत ।
इस सम क्या उपदेश है, जग भीतर, हे मीत ॥९९॥
मुझ को कुछ कर्तव्य नेंह, अर्जुन, जग के माँहिं ।
तो भी वरतूँ धर्म में, निशदिन चीत लगाँइँ ॥१००॥
यदि मैं त्यागूँ धर्म को, छोरूँ मन्द प्रमान ।
मेरी रीती देख कर, बिगरे सकल जहान ॥१०१॥
जात पतित हों सर्व जन, जावे जग की शाँत ।
बुद्धी में विष वत मिले, भय, गिलान अर भ्राँत ॥१०२॥
ऐस उपद्रव का बनूँ, अर्जुन, मैं करतार ।
यदि मैं धर्म म्रयाद को, छोरूँ मूरख वार ॥१०३॥
इस ते निश वासर रहूँ, कर्म योग में लीन ।
ध्यान सुधा को चाख कर, फल इच्छा तज दीन ॥१०४॥
ध्यान बनावे कर्म को, अमृत रस की कन्द ।
भावें कैसा कर्म हो, उत्तम हो वा मन्द ॥१०५॥
जो इस रस के भेद को, जाने जग के माँहि ।

दोहा

नीच कर्म में भी कभी, बिन गिलान लग जाँइ ॥१०६॥
देखो मुझ को, मित्र वर, जग का हूँ आधार।
पर तेरा रथवान बन, हाकूँ घोड़े चार ॥१०७॥
पाता हूँ इस सेव में, उतना रस, हे मीत।
जितना जगत प्रबन्ध में, पावे ईश्वर नीत ॥१०८॥
स्वय दृष्टान्त दिखाय कर, समझाऊँ यिह भेद।
कर्म सभी हैं एक से, रस दायक बिन खेद ॥१०९॥
नाम रूप जो कर्म का, वुह तो खोब स्वरूप।
आतम सब ही कर्म का, परमानन्द अनूप ॥११०॥
ताँ ते कोई कर्म हो, जब करता हो लीन।
अमृत रस दायक बने, आतम तत को चीन ॥१११॥
लीन भाव है आतमा, ताँ ते सुख की खान।
कर्म विखे जो लीनता, सोई "योग" पछान ॥११२॥
इस ही हेतू से सभी, अपना, अपना काम।
राखें प्यारा जग विखे, समझें ताँ को राम ॥११३॥
कर्म सङ्ग जो कर्म हो, भूले उस का नाम।
सहजे ही मुक्ती लहे, पावे आतम राम ॥११४॥
बहुते ऐसे पुरुष जो, करें कर्म दिन रैन।
धर्म अधर्म विचार के, पावें सहजे नैन ॥११५॥
ताँ ते अपना कर्म जो, चाहे कैसा मन्द।

दोहा

उत्तम सब से जानिए, दायक परमानन्द ॥११६॥
दोश नहीं कुछ कर्म पे, करता पर है दोश।
करने की रीती बिना, कर्म सभी दुख कोश ॥११७॥
आतम सब ही कर्म का, अर्जुन समझो प्रान।
ताँ ते निन्दक कर्म के, हैं सब मूढ़ समान ॥११८॥
"कर्म स्वाद" का भेद यिह, अर्जुन, रख मन माँहि।
कर्म विखे हो कर्म तू, तज फल की सब चाँहि ॥११९॥
राग द्वेष के लेश बिन, करो धर्म वत काम।
लय हो जावो काम में, पाओ सुख को धाम ॥१२०॥
जग में उत्तम पुरुष जो, कर्मों को न भ्रमाँइ।
उलटा उस को कर्म में, अमृत धार दिखाँइ ॥१२१॥
कर्म त्याग को, मित्र वर, कहत नहीं सन्यास।
सन्यासी वुह पुरुष है, जो त्यागे "फल आस" ॥१२२॥
दुख देवे रञ्चक नहीं, अर्जुन, जग विवहार।
दुख तो हैं सब मोह में, मोह अहे सन्सार ॥१२३॥
ताँ ते त्यागो मोह को, अर गिलान को त्याग।
बालिक वत विवहार से, अर घर से नहिं भाग ॥१२४॥
राग द्वेष को छोर कर, कर्म माँहि हो लीन।
हे अर्जुन, इस रीति को, कर्म योग तू चीन ॥१२५॥
किसी कर्म में भी नहीं, धारो द्वेष गिलान।

दोहा

सब में पूरन राम हैं, सब आनन्द निधान ॥१२६॥
ऊँच नीच सब कर्म ही, जगत सहायक मान।
भङ्गी ही के नास से, नासे सकल जहान ॥१२७॥
ताँ ते नीच न समझिये, कोई भी हो काम।
नीच "द्वेष" को मानिए, यिही छुपावे राम ॥१२८॥
सर्व कर्म इक दूज के, अङ्ग मानिए मीत।
"इस" बिन "वुह" सोभे नहीं, यिह जग की है नीत ॥१२९॥
नीच बिना क्या ऊँच है, ऊँच बिना क्या नीच।
सापेक्षक पद आँहि यिह, भेद नहीं इन बीच ॥१३०॥
नीच बनावे ऊँच को, ऊँच जगत के माँहि।
बिना नीच सब ऊँच भी, नीच रूप ही आँहि ॥१३१॥
नोकर जो सेवा करे, वुह भी तेज बढ़ाय।
कैसे नीचा बाखिये, ऐसो तेज उपाय ॥१३२॥
नीचा ऊँचा भाव तज, काम सभी हैं काम।
लय हो कर रस भुञ्च तू, भूल रूप अर नाम ॥१३३॥
नीच ऊँच नहिं कर्म में, नीच ऊँच है भाव।
शुद्ध भाव जो चीत का, नीचे ऊँच बनाव ॥१३४॥
रूप प्रीत अर द्वेष जो, यिही बनावे नीच।
प्रेम अर सेवा भाव जो, आतम इस के बीच ॥१३५॥
आतम हित से कर्म जो, ताँ को उत्तम जान।

दोहा

आतम प्रेमी के लिये, सब ही कर्म समान ॥१३६॥
लीन भाव भी तभी हो, जब आतम में ध्यान ।
नाम रूप के ध्यान से, मन नित चञ्चल मान॥१३७॥

गायन छन्द

यिह सोच तू मन माँहि अर्जुन, कौन करता काम को ।
पुन काम कहिते हैं किसे, कैसे मिलावे राम को ॥१३८॥
सुन, एक गुन से दूसरा, उत्पन करन यिह काम है।
जो गुण करे उतपत किसीको, तास करता नाम है ॥१३९॥
इस रीत से गुण आँहि करता, और गुण ही काम है ।
यूँ खेलते गुण हैं गुणों से, पार इनके राम है ॥१४०॥
है आतमा गुण ते अतीता, गुण तो उसका ज्ञान है ।
गुण ऐस हो वा वैस हो, आतम में क्या कुछ हान है-१४१
इस रीत से आतम किसी ही, काम का करता नहीं ।
पुन आतमा का काम से, कुछ बिगरता सजता नहीं॥१४२॥
वुह मूढ़ हैं जो आतमा को, काम करता मानते ।
वुह आतमा अर जीव में, कुछ भेद ही नहिं जानते ॥१४३॥
"गुण रहित" जो सत्ता अहे, "आतम" उसी को मानिए ।
"गुण सहित" जो है आतमा, पुन "जीव" तिस को जानिए १४४
गुण हैं उपाधी जीव में, इत्तर के भ्रम की छाय जो ।
वुह जीव रहि जाता है आतम, द्वैत भ्रम को खाय जो ॥१४५॥

गायन छन्द

अब जीव का गुण है जु भ्रम, वुह कर्म का करता अहे ।
उस कर्म से भ्रम का पटल, घटता तथा बढ़ता अहे ॥
जो कर्म भ्रम को नाश कर के, जीव को धो डालता ।
वुह काम, अर्जुन, धर्म है, भ्रम बन्धनों को जालता ॥१४६॥
पुन कर्म जो भ्रम को बढ़ावे, द्वैत में इस्थित करे ।
उस कर्म को ही पाप बाखें, कष्ट दुख से मन भरे ॥
जो कर्म आतम इष्ट को, धर कर सदा सेवा करे ।
सुख शान्त को देवे वुही, भय चिन्त सब उस से डरे ॥१४७॥
इस रीत, अर्जुन, नीत ही, तू मान "आतम" आप को ।
अर "रूप गुण" को जान तू, भ्रम मात्र, माता पाप को ॥
इस नीच भ्रम को दूर कर, अर जीव-पन को त्याग तू ।
पुन प्रेम सेवा दान में, दिन रात, अर्जुन, लाग तू ॥१४८॥
ममता बिना जो कर्म है, वुह नित्य होवे रस भरा ।
आनन्द देवे आपको, हर्षित बनावे दूसरा ॥
इस कर्म निर्मम को गनो, परमातमा में लीनता ।
पुन धर्म इस ही को लखो, वैकुण्ठ का अमृत सुधा ॥१४९॥
बिन द्वेष पुन बिन राग जो, इस रीत करते काम को ।
उस को कभी बन्धन नहीं, तज देत रूप अर नाम को ॥
जिन के रिदे में है नहीं, इच्छा किसी भी वस्त की ।
बाँधे कवन इस जग विखे, बुध ऐस आतम मस्त की ॥१५०॥

गायन छन्द

हे भ्रात, ममता त्याग तू, अर आश को तू छोड़ दे ।
पुन वैर को तू दूर रख, अर प्रीत को भी तोर दे ॥
इस रीत मन के बन्धनों से, मुक्त हो कर हो खरा ।
शर चाप कर में धार कर, इस धर्म की युध को निभा ॥१५१॥

दोहा

जो धारे उपदेश मम, सहज मुक्त हो जाइ ।
जन्म मरण के बन्ध से, अपना जीव छुराइ ॥१५२॥
पर जो मेरे वाक पर, हाँसी ठाने मीत ।
बुद्ध हीन अज्ञात जन, दुख पावे वुह नीत ॥१५३॥
कर्म बिना है को कहाँ, ढूँढो जग के माँहि ।
कर्म रहित तो एक पल भी नहिं सम्भव आँहि ॥१५४॥
दुख सुख दोनों कर्म में, कर्म माँहि आनन्द ।
बाँधन हारा कर्म है, कर्म बनाइ स्वछन्द ॥१५५॥
भाँत भाँत के फल अहें, कर्म रीति के माँहि ।
इक रीती आनन्द दे, दूजी दुख सुख लाँइ ॥१५६॥
कर्म नहीं है निन्दनी, रीत निन्दनी आँहि ।
ताँ ते, अर्जुन, तव प्रती, रीत विवेक सिखाँइ ॥१५७॥
अर्जुन इस सन्सांर में, अपने अपने काम ।
जिन से फेर सके नहीं, उन को कोई दाम ॥१५८॥
मूरख-ताइ है बड़ी, यदि कोई फिरकाइ ।

दोहा

काहू को स्वय कर्म से, दूसर कर्म सिखाइ ॥१५९॥
अप्ने अप्ने कर्म में, सब ही मुक्ती पाँइ ।
पर का उत्तम कर्म भी, दुख सङ्कट फल लाँइ ॥१६०॥
नीच मुक्त हो नीच से, जब वुह नीचा कर्म ।
भुग्तावे हित प्रेम से, लख कर अप्ना धर्म ॥१६१॥
जो भङ्गी धर्मिष्टं है, पावे दूसर जन्म ।
ब्रह्मन के घर के विखे, यूँ "मुक्ती" दे धर्म ॥१६२॥
नीच जनम नहिं छुट सके, तज देने से "नीच" ।
उस से छुटने की कला, है नीच जनम के बीच ॥१६३॥
नीच जनम तब ही मिले, जब स्वभाव हूँ नीच ।
नीच भाव जब नष्ट हो, नीच जनम हो मीच ॥१६४॥
त्याग करो नहिं कर्म को, इच्छा को कर त्याग ।
कर्म नहीं दुख रूप हैं, दुख का कारन राग ॥१६५॥
राग द्वेष को जार कर, कर्म माँहि हो लीन ।
निर सङ्कल्प स्वरूप हो, आतम रस को चीन ॥१६६॥
यिह है रीती कर्म से, रस लेने की भ्रात ।
कर्म योग इस को कहें, और नहीं कुछ बात ॥१६७॥
कर्म सङ्ग हो कर्म ही, बिसरे रूप अर नाम ।
रस इस रीती से मिले, कर्म विखे है राम ॥१६८॥
ऐसो जन ही जानिये, धर्म माँहिं अवतार ।
रस ले केवल कर्म का, इच्छा आश बिसार ॥१६९॥

अर्जुन उवाच

दोहा

हे भगवन किस हेतु से, पापी पाप करेत ।
किस शक्ती बलवान से, धर्म पुरुष तज देत ॥१७०॥
मन में यद्यपि पुरुष वुह, करता पश्चात्ताप ।
फिर भी वुह रुक्ता नहीं, पुन पुन चितवे पाप ॥१७१॥
इस का कारण *कृष्णजी,* समझावें हित धार ।
जाँ ते मैं अभ्यास कर, पापन को दूँ जार ॥१७२॥

श्री भगवान उवाच

दोहा

सर्व पाप का मूल अर, सर्व दुःख की खान ।
हे अर्जुन, इस जग विखे, आशा तृष्णा मान ॥१७३॥
ताँ ते जो जन त्याग दे, इच्छा को, हे भ्रात ।
पावे परमानन्द को, पुन्य करे दिन रात ॥१७४॥
जेतक दोश अहें सभी, इच्छा के हैं पूट ।
जब ही इच्छा त्याग हो, जावें अवगुण छूट ॥१७५॥
इच्छा देह अध्यास का, फल है जग के माहिं ।
इच्छा तब तक ही फुरे, जब तक ज्ञान न आँइ ॥१७६॥
जब जाने मम आतमा, नाम रूप से पार ।
अर धोका जब जान ले, नाम रूप सन्सार ॥१७७॥

दोहा

तब सहजे ही दूर हो, इच्छा नाम अर रूप ।
आतम तब दीसे सदा, परमानन्द अनूप ॥१७८॥
तब धावे ज्ञानी नहीं, विषयन के पश्चात ।
ठण्डा बैठा ही रहे, निश्चल चित, हे भ्रात ॥१७९॥
मृग तृष्णा के नीर सम, जाने नाम अर रूप ।
देख देख ललचे नहीं, गिरे न दुख के कूप ॥१८०॥
शान्त, कुशल, कल्यान पुन, आतम ही में पाइ ।
ताँ ते आतम त्याग कर, ज्ञानी दूर न जाइ ॥१८१॥
सर्व विखे पूरन लखे, आतम को सम भाय ।
ताँ ते राग अर द्वेष को, मन ते देत नसाय ॥१८२॥
दुख वा सुख अपमान वा, मान विखे सम आँहि ।
काहेते इक आतमा, सब ही रूप धराँइ ॥१८३॥
जब दुख को वुह देखता, अपना आतम शून ।
"दुख" देवे आनन्द तब, "सुख" से भी सौ गून ॥१८४॥
ताँ ते इच्छा त्याग का, मन्त्र ज्ञान को जान ।
ज्ञान बिना इच्छा नहीं, छोरे, हे बलवान ॥१८५॥
इच्छा ने सन्सार को, जारा है बिन आग ।
जल जल कर तरपें सभी, करें न इच्छा त्याग ॥१८६॥
बुद्धी मैली, रोग तन, चित चञ्चल, मन पाप ।
यिह हैं इच्छा भूत के, हे अर्जुन, सन्ताप ॥१८७॥

दोहा

ताँ ते बल से काट तू, ऐसे अरि का सीस ।
शान्त नींद को पाय तू, मार लोभ अर रीस ॥१८८॥
सब कामों से कठिन है, अभिलाषा का त्याग ।
जो सुख इच्छा त्याग में, वुह नहि देवे राग ॥१८९॥
ताँ ते, अर्जुन, साध तू, ऐस कर्म दुसाध ।
चलते फिरते आँहि तव, फिर दिन रात समाध ॥१९०॥
शान्त कुण्ड अर क्षेम निध, मन उपशम के माँह ।
जिस ने मन को वश कियो, तिस को फिर क्या चाँह ॥१९१॥
ताँ ते, अर्जुन, पाइ तू, मन उपशम की खान ।
कोई भी रिध सिध नहीं, जग में तास समान ॥१९२॥
त्यागी के पाछे फिरें, माया और प्रताप ।
इन्द्रादिक उसकी करें, निश दिन सेवा आप ॥१९३॥
त्याग बनावे पुरुष को, आकर्षण का कुगड ।
देवी देवा तास के, गिर्द बनावें झुगड ॥१९४॥
पर इस पर भी वुह सदा, चित को रखे कठोर ।
कोई भी वस्तू कभी, ताँ को सके न मोर ॥१९५॥
ईश्वर के भी तेज को, मारे वुह जन थूक ।
आतम में सन्तुष्ट वुह, रहे सदा बिन भूक ॥१९६॥
ऐसी पदवी पाइ तूँ, हे अर्जुन, जग माँहि ।
जो पद चित बुध ते परे, शून अगोचर आँहि ॥१९७॥

चौपाई

जन्म जन्म का देह अध्यास । जीवों का वुह हो अभ्यास ॥
ऐसो व्यसन न तोड़ा जाई । इक छिन में, हे अर्जुन भाई ।१९८।
"मन" है एक पुराना ताप । पागल करत, करावत पाप ॥
थोरी औषध से नहिं जाई । ढीला होकर फिर फिर आई॥ १९९॥
मुद्दत का पथ्य् और दवाई । ऐसे तप को मार सकाई ॥
पथ्य् है "सङ्गत योगी जन" की । और दवाई "तप धारन" की-२००
करने से यिह "औषध, खाना" । मर जावे यिह "ताप पुराना" ॥
नहिं तो "तप" बिन जो "सत सङ्गत" । मन के तप को नाहिं उतारत ।२०१।
यिह कारन है, अर्जुन प्यारे । जीव पुनर्पुन पाप चितारे ॥
छिनक विचार न तोड़ सकाई । जन्मों की जो होय बुराई ॥२०२॥
जब तक मन का रोग न जाई । तब तक पाप करोगे भाई ॥
जब तक इच्छा नाहिं जलाओ । तब तक विषयन को तुम चाहो-२०३
विषयन की जो इच्छा होई । अर्जुन, पाप वृती है सोई ॥
"इच्छा" अर "माया" है एकी । माया के बल से तू पापी ॥२०४॥
यिह क्या कहिता 'मन नहिं रुकता' । यिह कहि 'मैं अर मन इक हूआ' ॥
जब तुम से निकसे यिह भ्राँती । तब मन को मिल जावे फाँसी-२०५
ज्ञान नहीं है कथन कहानो । "धर्मातम" को कहिते "ज्ञानी" ॥
ब्रह्म ज्ञान तो धर्म सिखावे । धर्मी बनना ही सुख लावे ॥२०६॥
पक्का ज्ञान तभी हो जावे । भोग विषय जब छल दरसावे ॥
तब ही सकली इच्छा नासे । पाप बीज भी तब जल जावे ॥२०७॥

चौपाई

जो निश्चय में ज्ञानी होई। पाप न कर सकता है सोई॥
निश वासर वुह धर्म विलीना। जिस ने भूट अनातम चीना।२०८।
उन सब को "मुख ज्ञानी" समझो। आशा तृष्णा व्यापे जिन को॥
दृढ़ निश्चय में उन के नाहीं। "यिह सन्सार सभी छल आहीं-"२०९
यदि यिह दृढ़ निश्चय हो जाई। "जगत भोग हैं सब दुख दाई"॥
तब मानुष उन से डर पाई। जैसे उस को सर्प डराई॥२१०॥

कर्म और जगत

चौपाई

शासक और प्रबन्धक जग का। धर्म राज वा कर्म विधाता॥
ईश्वर भी इस ही का नाम। इस ही को कहिते हैं राम॥२११॥
माया उपहित ब्रह्म यिही है। अजर अमर अक्षर अर निर भै॥
न्याय स्वरूप इसी को जानो। निरपक्षक इस ही को मानो॥२१२॥
कर्म बिना को उतपत करता? कर्म बिना को भरता हरता?
कर्म पिता अर कर्मा माता। कर्मा रक्षक कर्मा दाता॥२१३॥
कर्म बनावे बिक्षक, राजा। दुख सुख सब कर्मन की आज्ञा॥
सन्त असन्त कर्म से बनिये। नीच अर ऊँच कर्म से गनिये॥२१४॥
वर्षा आदिक कर्म करावें। विपदा भी कर्मा से आवें॥
सुख दुख जग के आहें जेते। निश्चय सब हैं फल कर्मन के।२१५।
"शुभ कर्मा" जो "धर्म" कहावें। सब भाँती का सुख ले आवें॥

चौपाई

और "अशुभ" आहें जो कर्मा । रोग अर दुख आपद फल उनका २१६
जगत आँहि कर्मन की खेती । हन्से पुन्यी, रोवे पापी ॥
पुन्यी को जग है उद्यान । पापी को काँटों की खान ॥२१७॥
"जग" अर "मानुष" एकी मानो । मानुष की छाया जग जानो ॥
"मानुष" कर्मों का है पुतला । "जग" है आश्रम कर्म फलों का-२१८
"मूरख" हैं जो हैं यिह कहिते । "जगत" जुदा है "मानुष्यों" से ॥
मानुष "कर्म", जगत "फल" मानो । "कर्म" अर "फल" में भेद न जानो ॥
कर्म अनुसार लगे सन्सार । दुख मय अर सुख का भण्डार ॥
इक ताँ को निज मित्र पछाने । दूसर ताँ को शत्रू जाने ॥२२०॥
मूरख चित में यिह नहिं समझे । "जग" प्रतिबिम्ब "कर्म" का मेरे ॥
मैं अच्छा तो जग भी मीठा । मैं पापी तो जग भी कड़वा ॥२२१॥

मन और जगत

चौपाई

मन अर जग है एक स्वरूप । जैसा "मन" वैसा "जग" रूप ॥
जाँ ते कर्म करे सब "मन" ही । "मन" ही है माता सब जग की-२२२
"मन" के बिन कोई भी नाँहीं । तुम को सुख दुख दे जग माँहीं ॥
"मन" उपजावे किस्मत तेरी । "मन" तैरावे डोबे बेरी ॥२२३॥
"मन" ही देवे सब सन्ताप । "मन" मानो है विष मय साप ॥
"मन" का जो "सुख" वुह भी "दुख" मय । "मन" ही देवे चिन्ता अर भय-२२४

चौपाई

"मन" ही बाहिर "जग" हो भासे। "मन" मारो सब "जगत" बिनासे ॥
"मन" ही है सब बन्धन मूल। "मन" जीतो जावे सब शूल॥२२५॥
"मन" की करनी पाप कहावे। "आतम" नित ही पुन्य करावे ॥
पुन्य करम से हो आनन्द। उड़ जावे "मन" का सब फन्द।२२६।
"साचा सुख" पुन्यी को आवे। "पापी का सुख" दुख उपजावे ॥
यदि "सुख" चाहे, "पुन्य" कमा तू। "दुख" नहिं चाहे, "पाप" नसा तू-२२७
राग द्वेष की जड़ को काट। यिह है सर्व सुखों का वाट ॥
राग अर द्वेष वृति ही "मन" है। "मन" ही तो तेरा दुश्मन है ।२२८।
जब "आतम" को व्यापक देखे। अर सब सूँ हित प्रेमा वरते ॥
कर्म बने सब धर्म स्वरूप। मानुष पावे मोक्ष अनूप ॥२२९॥
"मन" को पहिचानो तुम बिम्ब। "जग" है "मन" ही का प्रतिबिम्ब ॥
यावत मन का रहत कलङ्क। तावत जग दर्से निःशङ्क ॥२३०॥
"अन्तर" अपना "बाहिर" दीसे। "माया" इस ही को हैं कहिते ॥
जाँ ते "अन्तर" "बाहिर" एक। "मन" "माया" में नाँहिं विवेक२३१।
जब तक राग अर द्वेष रती भर। "मन" अर "माया" होवें इस्थर ॥
पर जब द्वैत दृष्ट उड़ जाई। "मन" अर "माया" रहत न राई२३२
यिह, अर्जुन, है जग का भेद। इस ही की है टीका वेद ॥
ताँ ते तूँ जग से नहिं भाग। "मन की इच्छा" को तूँ त्याग।२३३।
यावत "मन" तावत "सन्सार"। "मन" को मार अर "जग" को जार ॥
यूँ तू भस्म बना सन्सार। "मन" नहिँ होने दे जग पार-२३४

चौपाई

कर्म राज अर आवा-गौन । यिह नासे जब "मन" हो मौन ॥
यावत "मन" का भ्रम नहिं जावे । तावत "मोक्ष" कभी नहिं आवे।२३५।
केवल यिह कहिना "मैं ब्रह्म" । मार न साके मन का भ्रम्म ॥
जब तक तूँ त्यागे नहिं "दूई" । तब तक दूर रहे तब मुक्ती॥२३६॥

ज्ञान स्वरूप

चौपाई

ज्ञान वुही जो वरता जाए । ज्ञान वुही जो प्रेम सिखाए ॥
ज्ञान वुही जो दान कराए । ज्ञान वुही जो ममता खाए ॥२३७॥
ज्ञान वुही जो शान्त बनाए । ज्ञान वुही जो समता लाए ॥
ज्ञानी हर दम ही खुश रहिते । ज्ञानी दुख को हित से सहिते॥२३८॥
ज्ञानी को यदि लूटें चौर । उन को वुह दे देवें और ॥
ज्ञानी को नहिं भेद प्रभासे । चोर बिखे भी आप प्रकासे ॥२३९॥
ज्ञानी का जब घर जल जावे । ज्ञानी तब हन्से अर गावे ॥
ज्ञानी को जब मारें थूकें । ज्ञानी उन को देत असीसें ॥२४०॥
ज्ञानी ममता समझे "लैना" । निरममता ज्ञानी को "देना" ॥
ज्ञानी "इक ले" "सौ सौ देवे" । ज्ञानी तन मन धन से सेवे ॥२४१॥
ऐसे ज्ञानी के जल जावें । सञ्चित अर आगामी भावें ॥
चमके जब यिह ज्ञान प्रभाकर । "मन" भागे तब पूछ दबा कर-२४२

कपटी ज्ञानी

चौपाई

ऐसे दम्भी, कपटी, ज्ञानी। जो कामी, लोभी, अभिमानी ॥
जिन की रहिनी प्रीत गिलानी। ता को मुक्त न कबहूँ आनी।२४३।
काहेते मुक्ती क्या हौत। मुक्ती तो है "मन" की मौत॥
"मन" ही तो है दुख की खान। 'मन' बिन 'आतम' मोक्ष निधान-२४४
ताँ ते यदि तू मुक्ती माँगे। तो चूरन कर "मन इच्छा" के॥
ज्ञान नहीं है कथनी कहिनी। ज्ञान अहे बरताओ रहिनी २४५
मूरख जो बोलें "अद्वैत"। रहिनी में वरतें जो "द्वैत"॥
उन का दुख किस बिध उड़ जावे। दुख तो द्वैत दृष्ट से आवे २४६
उन को नित कर्मों की फासी। नहिं छोड़े ता को चौरासी॥
फिर फिर जग में आवें जावें। नित दुख सङ्कट आपद लावें॥२४७॥
ऐसे झूटे सन्त जगत में। स्वय को ठागें पर को लूटें॥
एसों की नहिं करनी रीस। यिह ठग तो ठागें जगदीस॥२४८॥
इन ते रहिना नित ही दूरी। पापों से यिह हैं भरपूरी॥
स्वय डूबें, जग को भी डोवें। डीठ भये विषयन को भोगें॥२४९॥
अनजानों के गुरु कहिलावें। उनको भी पाखण्ड सिखावें॥
"विषयन" को बोलें "आनन्द"। "मन निग्रह" है तिनको फन्द।२५०।
पर धन अर पर इस्त्री भोगें। इस ही को वुह "समता" बोलें॥
"अहम ब्रह्म" का अर्थ निकालें। "औरों का सब कुछ हम खा लें"२५१

चौपाई

अवगुण को जब राखो प्यारा । अवगुण रोग बने अति भारा-२६०
कठिन बने उस का गुम करना । कष्ट अर आपद के यिह कर्मा ॥
"लोग" न देखत "तू" तो देखे । "आतम" तो अवगुण को पेखे।२६१।
दुष्ट करम जब करता कोई । जीव उस का सब शक्ती खोई ॥
बिन शक्ती का जाइ प्रताप । ताँ कों आ घेरे सन्ताप ॥२६२॥
ताँ ते क्यों पाखण्डी बनियो । यिह विष नष्ट करेगी तुम को ॥
विषय न होंगे तोर सहायक । पर होवेंगे तेरे घातक ॥२६३॥
ताँ ते दम्भ तियागो भाई । नहिं तो हो जाओगे छाई ॥
दम्भ बनावे देही रोगी । दुख आपद सङ्कट का भोगी ।२६४।
काहेते सौ रोग् उप्जावे । यिह रिप अन्तर सुख खा जावे ॥
दम्भ निकारन यद्यपि कठिना । पर इसमें आलस नहिं करना ।२६५।
दम्भी कपटी को नित सूली । ताँ को नित दिल धरकिन रहिती ॥
शरम अर डर से नित तड़पावे । काँपत काँपत ही मर जावे ।२६६।
विष खाकर मर जाते देखे । गुद से रक्त बहाते देखे ॥
चिन्ता से कुमलाते देखे । कपटी सब चिल्लाते देखे ॥२६७॥
ताँ ते क्यों ऐसे रिप पालो । वप अर जीव घटावत हैं जो ॥
इस बिच्छू का ऐसा डङ्ग । स्वास्थ अर यश कर देवे भङ्ग ।२६८।
शाँत उड़ावे सकली चित की । पुन खा जावे निद्रा को भी ॥
पाचक शक्ती सक्ली नासे । शत्रू हर तिनके में भासे ॥२६९॥
ऐसा व्याकुल कर्ता जो हो । क्यों न उखाड़ो जड़ से ताँ को ॥

चौपाई

पुनर जन्म भी इस से बिगरें । नीच गृहों में दम्भी उपजें ॥२७०॥
थूकें ताँ पर लोग लुगाई । दम्भी ऐसी दुरगत पाई ॥
अन्धे, लूले, उतपन होवें । लड़के ताँ पर बट्टे मारें ॥२७१॥
ताँ ते परित्यागो तुम वेग । ऐसो कष्ट उपजायक प्लेग ॥
अन्तर बाहिर होवो साचे । कपट लखो तुम छादन काचे॥२७२॥
"लोगन" से तो तुम भय करते । पर "आतम" से रञ्च न डरते ॥
कैसे छुप कर पाप करो तुम ? "आतम" के तो साथ रहो तुम।२७३।
करना तो डर "आतम" का था । "जग के डर" से क्या होना था ॥
पाप अवश तुम को तड़पावें । क्यों नहिं जग से ताहिं छुपावें।२७४।
"पाप" अर "दण्ड" अहें इक रूप । खुल वा छुप कर पटकें कूप ॥
उलटा छुप कर पापी जो हैं । दुगने दण्ड मिलें उन को हैं ॥२७५॥
ताँ ते पाखण्डी जो सन्त । सद ही दुख के बीच रहन्त ॥
उन को चहिये त्यागें झूट । दम्भ कपट पर मारें बूट ॥२७६॥
दम्भी जैसा मूढ़ न कोई । कूप गिरे, पर ज्ञान न होई ॥
अपनी समिझ विखे वुह स्याना । नहि पागल को तास समाना ।२७७।
पाखण्डी साधू है ऐसे । रङ्ग चढ़ा रोगी है जैसे ॥
लोगों को सो रङ्ग भुलावे । पर वुह रञ्च न रोग घटावे ॥२७८॥
ज्यों ज्यों रोगी रोग छुपाई । त्यों त्यों रोग बनत अधिकाई ॥
बढ़ता बढ़ता विष फैलावे । रोग अर दुख अर सङ्कट लावे ।२७९।
भय अर कपट बीज जो मन में । रहि जावत "देही कारन" में ॥

चौपाई

यिह जो बीज प्रफूले पीछे । रोग अर बिपद कष्ट बन जावे।२८०।
जग में जो दीसे हैं कुष्टी । छुप कर पाप करत थे सब ही ॥
यिह नहिं मानो मेरे भाई । मरने से "मन" भी मर जाई॥२८१॥
करम बीज जो "मन" के माहीं । मरने से वुह भी नहिं जाईं ॥
यिही बीज ही पुन जन्मों में । वप अर सुख अर दुख बनजाएँ-२८२
ताँ ते दम्भी पापी जोई । अप्ना ही वुह शत्रू होई ॥
अप्ने ही को नीच बनावे । कुम्भी नर्क विखे पुन जावे॥२८३॥

इति तृतीय अध्याय

सङ्क्षेप अर अर्दास

दोहा

नमस्कार पुन पुन करे, *केशव* को *रघुनाथ* ।
जास मया से हो गई, पूरन तीजी गाथ ॥ १ ॥
मैं नहिं कछु सब आप हैं, गीता का विस्तार ।
पद पद में व्यापक अहें, माला में जिम तार ॥ २ ॥
आप करें उपदेश पुन, आप करें अनुवाद ।
इस टीका को समझिए, उन ही के परसाद ॥ ३ ॥
ऐसे सर्व स्वरूप के, चरनन पर निज माथ ।
नम्र भूत हो कर धरे, बार बार *रघुनाथ* ॥ ४ ॥
और असीसा यिह मँगे, होवे चिन्त अतीत ।
कर्म माँहि लिवलीन हो, बिसरे भावी बीत ॥ ५ ॥
शान्त विखे मग्ना रहे, भूले वैर विरोध ।
आतम में सन्तुष्ट हो, जारे काम् अर क्रोध ॥ ६ ॥
सब ही से हित सूँ मिले, अप्ना आप पछान ।
स्वय धन को पर अर्थ पुन, खुल कर कर दे दान ॥ ७ ॥
कर्म योग के भेद को, वरते अर वरताइ ।
आनँद की इस रीत को, समझे अर समझाइ ॥ ८ ॥
जग में यिह गाथा रहे, नर नारी के साथ ।
कृष्ण मुरारी के विखे, लीन हुआ *रघुनाथ* ॥ ९ ॥
ऐसी बुध *रघुनाथ* की, हुई *कृष्ण* में लीन ।
बन्सी जो *रघुनाथ* की, आँहि *कृष्ण* की बीन ॥१०॥

अथ चतुर्थ अध्याय

श्री भगवान उवाच

चौपाई

अर्जुन भक्ती भाव तिहारा । लागे मुझ को अतिशय प्यारा ॥
तेरी सेवा मुझ को भाई । मोहे मुझ को तव मितराई॥ १ ॥
इस कारण से योग नयाय । मैं ने तुझ को दियो बताय ॥
ऐसो गुप्त भेद यिह योग । जानत ता को विरले लोग ॥ २ ॥
अर्जुन जिस ने इच्छा जीती । पावे कर्म योग की रीती ॥
ऐसो विरलो हो जग माहीं । जाँ के मन में तृष्णा नाहीं ॥ ३ ॥
तुम को पात्र जान कर भाई । कर्म योग की कल समझाई ॥
समझ न आवे सब को इस की । सुख का मन्त्र, शान्त की चाबी ।४।
अर्जुन, बहुत काल बीताया । योग यिही मैं ने समझाया ॥
ऋषी विवस्वत को चित लाई । उस में भी थी अति भक्ताई ॥ ५ ॥
फिर उस ने कीना उपकार । दियो मनू को योग विचार ॥
इस ने इक्शवाक को दीना । उस विद्या का भेद नवीना ॥ ६ ॥
इक्शवाक राजा से पीछे । उस के पुत्र पौतरे सीखे ॥
बहुत काल यिह विद्या गुप्ती । इक्शवाक की वन्श विखे थी॥ ७ ॥
राज ऋषी इन ही का नाम । योग दियो जिन को विसराम ॥
जिन ने स्वय भी अमृत पीना । और प्रजा को भी सुख दीना॥ ८ ॥
इतने तक तो योगिक धारी । चलती आई जगत मँझारी ॥

चौपाई

पर फिर काल चक्र ने ले ली। जब से इस विद्या की चाबी ॥ ६ ॥
बहुत काल ऐसे बिन योगे। जग ने सङ्कट अर दुख भोगे ॥
शान्त बिना, आनन्द विहीने। चिन्तातुर, शोकी, अति दीने ॥१०॥
ऐसी जग ने विपदा भोगी। सब थे शोकी, सब थे रोगी ॥
सुख तट अर कल्यान किनारा। ढूँड ढूँड जग थाका सारा ॥११॥
देख दशा यिह जग की, भाई। बुद्ध हमार कृपा वश आई ॥
फिर इच्छा यिह मन में जागी। जग को फिर दें सुख की चाबी ।१२।
तुम को पात्र योग का माना। और दया के योग पछाना ॥
ताँ ते तुम को दियो बताई। योग वेद का जो मत आही ॥१३॥
तेरे सङ्ग सर्व जन उधरें। जो जो इस गाथा को समझें ॥
तेरे साथ सर्व जग जागे। जो इस कर्म योग में लागे ॥१४॥
ताँ ते भाग समझ तूँ, भाई। तुम को यिह विद्या समुझाई ॥
धार रिदे इस का सुख पा तू। शाँत अर आनँद माँहि समा तू १५

अर्जुन उवाच

दोहा

पहिले मरा विवस्वता, पाछे उपजे आप।
केशव, है अश्चर्य, किम दो में हुआ मिलाप ॥१६॥
जब दोनों के बीच में, कोट वर्ष का भेद।
कैसे उस को आप ने, दिया योग का वेद ॥१७॥

दोहा

बुध मेरी समझे नहीं, हे *माधव*, यिह बात ।
ताँ ते करुणा कर कहें, मुझ को इस का तात ॥१८॥

श्री भगवान उवाच

दोहा

हे अर्जुन, अश्चर्य नहिं, समझो मेरी बात ।
यिह वच ऐसे सत्य है, जैसे दिन अर रात ॥१९॥
मैं अर तू जन्मे मरे, जग में नाना बार ।
मुझ को तो सब चेत है, तू ने दियो बिसार ॥२०॥
यद्यपि हूँ मैं अज अमर, आतम सर्व अधार ।
पर उपकारी जीव बन, जन्मूँ वारम वार ॥२१॥
पाप प्रबल हो जब कभी, होवे धर्म उदास ।
तब मैं वप को धार कर, जग में करूँ प्रकास ॥२२॥
साधू की रक्षा निमित, पापी के हन हेत ।
धर्म पुष्ट के अर्थ मैं, युग युग में वप लेत ॥२३॥
इस कारण से था कहा, मैं ने तुम को भ्रात ।
सत युग में मैं ने कियो, योग भेद की दात ॥२४॥

चौपाई

जीव अमर हैं, मेरे प्यारे । वप की मृत्यू जीव न मारे ॥
जिस विध नित प्रति जागें सोवें । उस विध वप मरने पर होवें ॥२५॥
बहुत काल वुह भ्वर अर स्वर में । भूर त्याग कर आयू भोगें ॥

चौपाई

नर्क स्वर्ग को भोगन कर के। जीव पुनः इस जग में उपजे ॥२६॥
करम अनुसारी देही धारे। पर मानुष देही नहिं हारे ॥
मानुष जीव न कब हूँ बनते। तरु, पसु, पक्षी, पाथर, कीरे॥२७॥
मानुष जीव सदा मानुष हो। अवर देह नहिं साजत उस को ॥
मानुष से जो नीची योनी। वुह बढ़ चढ़ कर मानुष होनी॥२८॥
पर जब जीव बनें मानुष में। वुह फिर नीचे गिर नहिं सार्के ॥
मानुष बुद्धी अर वीचार। मानुष देही का अधिकार ॥२९॥
अर फिर कर्म भोग मानुष के। मानुष देही पर ही आते ॥
ताँ ते यिह नहिं मानो मीत। मानुष जीव बनें पसु कीट ॥३०॥
मानुष योनी परम अपार। नीचन नीच इसी मञ्झार ॥
अन्धे, लूले, लँग्रे, पागल। कुष्टी, रोगी, दुखिए व्याकल ॥३१॥
दुष्ट अर चोर अर ठग अर पापी। दैत, यवन अर शठ सन्तापी ॥
ऐस अनेक दशा दुरभागी। क्या इन से नीचे पसु पक्षी ॥३२॥
दण्ड अर्थ तो मानुष देही। है जीवन को जग में बहुती ॥
उलटा पसु पक्षी तो छूटे। मानुष देही के दुःखों ते ॥३३॥
यदि कहिं बाखे उलटे वाक। वचन भयानक ताँ को ताक ॥
ऊँचन उच भी मानुष माँहिं। सन्त अर योगी रिषि मुनि आँहिं-३४
पुन्य करे मानुष जो कोई। वुह तो ज्यों ज्यों ऊँचा होई ॥
पर जो पापी, दम्भी, झूटे। वुह ज्यों ज्यों होते हैं नीचे॥३५॥
इस विध जीव पुनर्पुन जन्में। अप्ने कर्मों के फल भोगें ॥

चौपाई

पहिले भोगें नर्कें स्वर्गे। पाछे भोगें इस पृथवी पे ॥३६॥
नीच जनम ही शुद्ध बनाएँ। औषध से ही रोग नसाएँ ॥
यूँ इक दिन जीवा हो शुद्ध। नासे उस की सब दुर बुद्ध ॥३७॥
द्वैत भ्रान्त जब नासे जाँ की। मुक्त अवस्था होवे ताँ की ॥
तब वुह *जीव, ब्रह्म* बन जावे। भ्रम कृत परछिन भाव उड़ावे ॥३८॥
"मन मारे" बिन *ब्रह्म* न होई। "मन" ही से यिह *जीव* बनोई ॥
ताँ ते, अर्जुन, "मन को मार। तब मुक्ती आनन्द तिहार ॥३९॥
"मन मारी" ही कर्म सँवारे। "मन मारी" ही सञ्चित जाड़े ॥
"मन मारे" बिन अवर न जाप। "मन मारी" *परमेश्वर* आप ॥४०॥

शुद्ध शील और श्री कृष्ण की एकता

चौपाई

मैं, अर्जुन, हूँ शुद्ध विचार। सेवा हूँ, अर पर उपकार ॥
जिस जन को ऐसी पहिचान। अर्जुन, वुह है मेरा प्रान ॥४१॥
पर की सेवा मेरी सेवा। पर सूँ हित है मेरी पूजा ॥
निरभयता पुन मेरी प्रीती। दान पुनः मम वश की रीती ॥४२॥
जो जो इन नयमों को जानें। वुह, अर्जुन, मुझ को पहिचानें ॥
जो जो इन धर्मों के धारी। तिन पर मैं जाऊँ बलिहारी ॥४३॥
जो जो मुझ को सब में देखें। अर जो सब को मुझ में पेखें।
रिद में जिन के नाँहि गिलान। अर्जुन, वुह हैं मोर समान ॥४४॥

सन्तों के स्वभाव

चौपाई

ऐसे देव कहावें सन्त । जगत बनावें ताँहि महन्त ॥
मस्तक ताँ के तेज प्रताप । सचले ताँ के वर अर श्राप ॥४५॥
ऐसे मानुष हूँ निर्मान । च्योंटी को भी दें सम्मान ॥
आदर सहित बिठावें सब को । उन के आगे आवें जब को ॥४६॥
सन्तन पर जावें बलिहारी । कोमल चित पुन पर उपकारी ॥
दुखिये का दुख सहि नहिं साकें । सेवा में कब हूँ नहिं थाकें ॥४७॥
सब को मेरा मन्दर जानें । पर को स्वय से उत्तम मानें ॥
हर्ष अर शोक विखे सम रहिते । शान्त सहित आपद को सहिते ॥४८॥
मुझ विस्तीरण में लय होवें । मन को मार मुक्त हो सोवें ॥
बन्धन का घट तिन का फूटे । हमता ममता तिन से छूटे ॥४९॥

मत मतान्तर की एकता

चौपाई

जग के पथ अर मत हैं जोई । परमानन्द चहें सब कोई ॥
सब कोई शाँती को माँगें । अर मुक्ती के फल को ताँगें ॥५०॥
जप अर तप सब ही को भावें । दान दया सब ही सहिलावें ॥
मन का उपशम चाहें सब ही । इच्छा से सब माँगें मुक्ती ॥५१॥

चौपाई

सब ही इक मत को पहिचानें। इक आतम को पूरण मानें॥
यद्यपि हर इक भिन भिन भासे। पर अन्तर इक ज्योत प्रकासे।५२।

"मैं" और श्री कृष्ण की एकता

चौपाई

सब का इष्ट अहे "मैं" भाई। हर भक्ती "मैं" को तृप्ताई॥
जिस मारग से कोई आवे। अन्त विखे "मैं" ही को पावे॥५३॥
जो "मैं" सब मत्तन का अन्त। मैं हूँ सोई "मैं" भगवन्त॥
जैसे "मैं" है सब की टेक। तैसे मैं हूँ सब सूँ एक॥५४॥
सब मत्तन को इक सा देखूँ। सब को हित के रिद से पेखूँ॥
जिस मत में जो भक्ती भेंटे। वुह मेरी छाती पर लेटे॥५५॥
नाम रूप को कुछ नहिं जानूँ। "मैं" को सब का *आतम* मानूँ॥
जो कोई कुछ भी है करता। सब कुछ "मैं" के आगे धरता।५६।

ईश्वर निर पत्त है

चौपाई

भक्त अर सेवक प्रेमी भाई। *आतम* वत सब को सुख दाई॥
दानी, उपकारी, निर्मान। समझो इन को मोर समान॥५७॥
ऐसे जन जब देही त्यागें। मेरी छाती से आ लागें॥
चाहे वुह भङ्गी, चराडाल। चाहे वृद्ध, जवान, कुमार॥५८॥

चौपाई

नहीं पूछूँ "तव मत था कैसा" । और न पूछूँ उस का पैसा ॥
जात वर्ण नहिं पूछूँ भाई । *आतम* में दूँ ताँहि मिलाई ॥५९॥

कल्यान का मार्ग

सोरठा

चाहे जो कल्यान, दान, नयम, पुन व्रत करे ॥
नहि है तास समान, जग में सिधता की कला ॥ ६० ॥
देवन का सम्मान, होवे दान अर यज्ञ से ॥
करो यज्ञ अर दान, चाहो प्रभुता जब कभी ॥ ६१ ॥
अर्जुन, जग के मञ्ज, दान चतुर विध जानिए ॥
विद्या, रक्षा, वञ्ज, चौथो सेवा दान है ॥ ६२ ॥
दान बिना सन्सार, क्षण में होवे नष्ट सब ॥
इस दूसर में प्यार, फल है इस उपकार का ॥ ६३ ॥
विश्न यिही उपकार, रक्षक इस सन्सार का ॥
ज्ञान तथा ब्योपार, इन बिन अन पानी कहाँ ॥ ६४ ॥

चतुर विध दान

चार वरण

सोरठा

चार भाँत उपकार, रक्षक इस सन्सार का ॥
ज्ञान, राज, व्योपार, चौथो *सेवा* वरण है ॥ ६५ ॥

सोरठा

ब्राह्मण, क्षत्री, वेश, शूद्र लखो यिह नाम तुम ॥
चारों यिह गुद केश, जग के चव अस्तम्भ हैं ॥ ६६ ॥
सब में इक आनन्द, किसी भाँत का दान हो ॥
इक इक करे सुछन्द, नाम रूप यदि भूलिए ॥ ६७ ॥
ताँ ते गर्ब गुमान, किसी वर्ण का योग नेंह ॥
यिह करता गलतान, चौरासी के बीच में ॥ ६८ ॥
कोमल चित निर्मान, जोइ वरण जग में रहे ॥
पावे मुक्ती दान, भावें कैसा नीच हो ॥ ६९ ॥
डोबे देह अभिमान, नर्क कुण्ड के बीच में ॥
कैसा विद्या वान, अभिमानी क्यों नाँहिं हो ॥ ७० ॥
सब वरनन में एक, ब्यापक मैं *आतम* अहूँ ॥
इन में जोइ विवेक, नाम रूप का भेद है ॥ ७१ ॥
ताँ ते *आतम* माँहि, हो जावे लिवलीन जो ॥
मुक्त पदारथ पाइ, चाहे वुह चण्डाल हो ॥ ७२ ॥
अप्ना अप्ना कर्म, सब ही का बेरा बने ॥
निन्दे अपना धर्म, आतम की निन्दा करे ॥ ७३ ॥
एक वरण के धर्म, पूरन हूँ जब जीव के ॥
उस को नीती कर्म, ऊँचे वरणे जन्म दे ॥ ७४ ॥
इस बिध उस की मुक्त, हो जावे इक वरण से ॥
यिह माया की युक्त, ऊँचे से ऊँचा करे ॥ ७५ ॥

सामान "मैं" वा आत्मा

चौपाई

"मैं" नहिं करता, "मैं" नहिं भरता। "मैं" नहिं धरता, "मैं" नहीं हरता॥
"मैं" है सब कर्मों का आश्रय। "मैं" नहिं होवे उत्पन अर लय-७६
कर्ता कर्म क्रिया सब रूप। आतम आँहि अरूप अनूप॥
आतम जल वत, रूप तरङ्ग। इस से जल नहिं होवत भङ्ग॥७७॥
अन्तः करण परे "मैं" सोवे। ताँ ते "मैं" नहिं चञ्चल होवे॥
कर्ता भी भ्रम, भोगे भी भ्रम। "मैं" स्वरूप तो निर्गुण निर्गम॥७८॥
करमन में आतम निर्लेप। सङ्कल्पन में निर विक्षेप॥
उदय प्रलय में ज्यों का त्यों। "निर-क्या" "निर-कैसा" "निर-क्यों"

आतम ज्ञानी लक्षण

चौपाई

इस विधि योगी आतम जाने। "मैं" अर आतम एक पछाने॥
"मैं" को सर्व वियापी माने। ऊँच, नीच, दोखा पहिचाने॥८०॥
ऐसा जो है आतम ज्ञानी। सर्व अवस्था ताँहि समानी॥
यद्यपि निश दिन वुह निर्मान। पर राखे आतम अभिमान॥८१॥
इच्छा की जड़ को ही जारे। आशा मन ते सकल निकारे॥
चञ्चलता सब अपनी मेटे। द्वेष गिलानी सकली भेंटे॥८२॥
सब सुख निध आतम में माने। रिध सिध आतम में पहिचाने॥

चौपाई

शाँत, दया आतम में देखे। मुक्ती भी आतम में पेखे ॥८३॥
ऐसे देव परम आनन्द। कर्म करें पर रहत स्वछन्द ॥
कोई बन्धन ताँहि न बाँधे। मुक्ती ताहिं उठावे काँधे ॥८४॥
अर्जुन, जग में पुरुष महान। विष वत समझें मोह, गिलान ॥
सब सूँ राखें हित अर प्यार। झूटा छल समझें सन्सार ॥८५॥
ऐसे कर्म न करते कोई। राग अर द्वेष करावे जोई ॥
धर्म विखे नित इस्थित रहिते। उत्तम मन्द न मुख से कहिते॥८६॥
उन के कर से जो हो कर्म। सोई, अर्जुन, मानो धर्म ॥
योगी ऐसे पुरुष कहावें। निः सन्शय मुक्ती वुह पावें ॥८७॥
तू भी, अर्जुन, बन जा ऐसा। भूल रिदे से ऐसा वैसा ॥
आतम दृष्ट चढ़ा ले नैन। युद्ध बिखे लै जा तू सैन ॥८८॥
प्रीत, गिलानी मन से धो दे। राग द्वेष की वृत को खो दे ॥
ममता भीत गिरा दे भाई। हमता मन में राख न राई ॥८९॥
चित तेरे में यिह ध्वन लागे। "पापी द्वेत नींद ते जागे ॥
"इस्थित होवे धर्म अर न्याय। "युध सेवा से शुध हो काय"॥९०॥
इस ध्वन से जो तीर चलावे। हत्या कर के मुक्ती पावे ॥
पाप लेश नहिं लागे ताँ को। उलटा सो जन पुन्यातम हो॥९१॥
दुब्धा है बन्धन का हेतू। समता है मुक्ती का सेतू ॥
ताँ ते, अर्जुन, समता धार। क्षत्री वत लड़ युद्ध मँझार ॥९२॥
हार विखे नहिं तू कुम्लाना। जय में नहिं करना अभिमाना ॥

चौपाई

काटे तो तू, नहिं हर्षाना । कट जावे तो नहिं मुर्झाना ॥९३॥
हर्ष शोक ते पार निवासी । लड़ तू, जैसे लड़त उदासी ॥
मान अपमान न तुझ को भासे । सर्व अवस्था एक प्रकासे ॥९४॥
इस बिध ज्ञान सुरा ते माता । अर्जुन, रण में सरपट लग जा ॥
"स्वय" अर "पर" को डार भुलाई । धर्म विखे हो जा इस्थाई ॥९५॥

दोहा

अर्जुन जग जाने नहीं, कर्म अकर्म विवेक ।
पाप अर पुण्य विचार में, मूरख आँहि अनेक ॥९६॥
नहि जानें किस कर्म का, फल होवे है पाप ।
अर कुछ भी समझें नहीं, किस से हो सन्ताप ॥९७॥
पुन उन को यिह भ्रम अहे, आलस में है शाँत ।
कर्म विखे है कल्पना, यिह भी उन को भ्राँत ॥९८॥
साधारण जन मूढ़ हैं, उलटी है बुध तास ।
बन्धन को मुक्ती कहें, मुक्ती को वुह फास ॥९९॥
इस ते मैं वर्णन करूँ, कर्म अकर्म विचार ।
जिस से सीधे पन्थ पर, पग धारे सन्सार ॥१००॥
कर्म रीत को जान कर, धर्म विखे हो लीन ।
त्यागे आलस फन्द को, कर्म योग को चीन ॥१०१॥
ऐसे कर्म करो सदा, शाँत दिखावें जोइ ।
उन कर्मों को त्याग दें, जिन का फल दुख होइ ।१०२।

चौपाई

कर्म बिना मानुष नहिं कोई । आलस भी इक कर्मा होई ॥
अब कर्मा दो विध का जानो । एक अशुभ दूजा शुभ मानो।१०३।
जिन कर्मों का कारण प्रेम । आतम हित है जिन का नेम ॥
हमता ममता बिन जो कर्म । वेद कहत है ताँ को धर्म ॥१०४॥
धर्म अहे आतम में थिरता । धर्मी रूपन में नहिं गिरता ॥
राग द्वेष का मध है धर्म । इस ही को बाखें शुभ कर्म ।१०५।
देह प्रीत को जो जन त्यागे । आतम से केवल अनुरागे ॥
पुन जो रहित गिलानी होई । अर्जुन, है शुभ कर्मी सोई ॥१०६॥
जो जन विषयन में नहिं डोले । और असत कब हूँ नहिं बोले ॥
मन रोधन का जो रस पावे । अर्जुन, सो धर्मी कहिलावे ॥१०७॥
जिन कर्मों की जड़ हो इच्छा । हर्ष अर शोक पुनः फल जिन का ॥
नाम अर रूप जिन्हें उकसावें । ऐसे कर्म अशुभ कहिलावें ॥१०८॥
मन चञ्चल के चेले जोई । विषयन भीतर जो रत होई ॥
राग द्वेष जिन को भटकावें । पुरुष अधर्मी सो कहिलावें ॥१०९॥
समता दृष्टी के जो कर्म । पुन्य कहे जावें वा धर्म ॥
जो जन द्वैत दृष्ट को धारें । पापी तिन को सन्त पुकारें ।११०।
इस विचार को मन में राखो । पुन्य अर पाप विवेचन लाखो ॥
पुन्यी सब को आतम देखे । पापी हर को "पर" "पर" पेखे-१११
करते हुए अकर्ता जोई । नहिं करते जो करता होई ॥
करने में जो मरने सम हो । *योगीश्वर ऐसे को समझो* ११२

चौपाई

जाँ की इच्छा सकली मूई । जास शून ते तृप्ती हूई ॥
कर्ता कर्म जिसै हैं एको । *योगीश्वर ऐसे को समझो* ११३
कर्म माहिं जो होवें लीन । भूलें वुह इक, दो अर तीन ॥
लीन अवस्था ऐसी जोई । कर्म योग की युक्ती सोई ॥११४॥
इस युक्ती से ही विवहारी । बन जावे योगी ब्रह्मचारी ॥
कर्म उसे हो भजन समान । धन्धे में पेखे भगवान ॥११५॥
एसो धन्धा नाँहिं थकावे । उलटा अमृत धार पिलावे ॥
बुद्धी उज्जल, वप नीरोग । और बनावे पूजन योग ॥११६॥
यिह जो आतम रस की युक्ती । लावे दोनों सुख अर मुक्ती ॥
अर्जुन, यिह रीति तूँ धार । धर्म विखे तू हो लिवतार ॥११७॥
ऐसे योगी जो कुछ करते । मेरे आगे भेंटा धरते ॥
फल की इच्छा रञ्च न राखें । इच्छा को आपद मय लाखें ॥११८॥
धर्म मात्र का वुह रस लेवें । सब को वुह "देवें ही देवें" ॥
सेवा में उन की ध्वन लागी । वैर गिलानी उन से भागी ॥११९॥
दूसर को स्वय में जो देखें । स्वय को दूसर में वुह पेखें ॥
जो कुछ दूसर पर वुह करते । फल उस का अपने पर धरते ।१२०।
इस विचार से रहत अहिन्सी । सत्य वचन बोलें वुह नित ही ॥
पर का दुख अपना दुख मानें । सब में अपना आप पछानें ॥१२१॥
जाँ की द्वैत दृष्ट सब भागी । वुह मानुष है परम तियागी ॥
कर्म लेश नहिं ता को लागे । पाप परेरे तिन से भागे ॥१२२॥

चौपाई

करते हुए अकरते सोई। परम सुछन्द विचरते सोई ॥
पाप नहीं खेंचें हैं ता को। वृत ताँ की सद आतम में हो ।१२३।
मोह गिलानी के ही रस्से। जीवन को रखते हैं कस्से ॥
जब इन ते हो जाय खलासी। जन्म मरण की उतरे फासी ॥१२४॥
मन ही है दुख सुख भण्डारी। जग भासे भावन अनुसारी ॥
जब सब दीसे अपना आप। कवन करावे पुन्य अर पाप ॥१२५॥
मन जब मर जावे अत्यन्त। मुक्त इसी को बाखें सन्त ॥
बहुत कठिन है मन का मारन। मन ही है बन्धन का कारन॥१२६॥

योगीश्वर लच्छण

तोटक छन्द

योगीश्वर सद मन हीन रहें। अर ब्रह्म विखे लिवलीन रहें ॥
सम दृष्ट पुनः सन्तुष्ट सदा। मुख से टिपके तिन के मुदता॥१२७॥
योगीश्वर नित गम्भीर रहें। विपदा दुख में अति धीर रहें ॥
निर चिन्त सदीव सुछन्द रहें। निश वासर परमानन्द रहें॥१२८॥
सब काम करें जो नियत समय। इस रीत लताड़त रुच अर भय ॥
जो राग अर द्वेष बिना विचरें। *ऐसे जन जीवन मुक्त अहें*-१२९
जो नाम अर रूप लखें दुख मय। अर आतम को समझें आश्रय ॥
अभिलाष बिना बिन आश रहें। *ऐसे जन जीवन मुक्त अहें*-१३०
जो पुन्य अर पाप परे विचरें। आतम हित ते सब काम करें ॥
निर्द्वन्द, बिना अभिमान रहें। *ऐसे जन जीवन मुक्त अहें*-१३१

तोटक छन्द

रूखी सूखी खा कर जीवें। पानी को भी पय सम पीवें ॥
जो ऊँच अर नीच समान लखें। *ऐसे जन जीवन मुक्त अहें*-१३२
नहिं दूसर का अध्यास जिन्हें। नहिं चञ्चलता का भास तिन्हें ॥
तिन का सञ्योग बने किस से ? और कौन तिन्हें तब बाँध सके? १३३।
नहिं जीत उन्हें, नहि हार उन्हें। नहिं लाभ अर हान विचार उन्हें ॥
नहिं शोक उन्हें नहिं हर्ख उन्हें। नहिं मित्र अर अरि की पर्ख उन्हें-१३४
जो आप समान लखें सब को। उस से किस को तब क्या दुख हो ?
अपने को कौन करे दुखिया ? अपना तो माँगत सर्व भला।१३५।
आतम इस्थित जो पुरुष अहें। उन से सद सुकृत पुन्य बहें ॥
जिन में नहिं रञ्च गिलान अहे। उन का फुरना ही दान अहे।१३६।
जो केवल ब्रह्म लखें हर जा। उन को सम कर्म, क्रिया, करता ॥
आतम ही दे, अर आतम ले। आतम स्वय सङ्ग कलोल करे।१३७।

भाँति भाँति के दान

दोहा

ऐसे दान उपकार को, जिस में ममता नाँहि।
यज्ञ कहित हैं सन्त जन, वेद शास्त्र के माँहि ॥१३८॥
अल्प भाव ज्यों ज्यों मेरे, त्यों यग पूरण मान।
ताँ ते पूरण यज्ञ तक, बहुत भूमका जान ॥१३९॥
और समिझ तू जग विखे, भाँत भाँत के दान।
कइ शारीरक, मानसी, कइ वाचक पहिचान ॥१४०॥

दोहा

कइ बुद्धी के दान दें, कइ आतम के दान ।
निर्मम सेवा करत जो, सोई दानी मान ॥१४१॥
कुछ दानी वरनन करूँ, उदाहरण की रीत ।
उन के सुनने मात्र से, सब का चित हो शीत ॥१४२॥
कइ इन्द्रय को रोक कर, विषयन-को दें त्याग ।
अर मन को वश में करें, जीतें द्वेष अर राग ॥१४३॥
ऐसे जन भी जग विखे, करते यज्ञ अर दान ।
हान लाभ में सम रहें, लखत न मान अपमान ॥१४४॥
आप न भोगें रञ्च कुछ, जग भोगे, मुद सोइ ।
ऐसो दानी पुरुष भी, जग में विरलो होइ ॥१४५॥
कइ तप व्रत में लीन हो, शोधें बुध अर देह ।
ऐसे जन भी यग करें, जग उन से बल लेह ॥१४६॥
कइ विद्या में लीन हो, मत को शुद्ध बनाँइ ।
ऐसे जन भी यग करें, उज्जलता फैलाँइ ॥१४७॥
जो जो मन को थित करे, चाहे कैसे हेत ।
उस का बल सन्सार को, पापन से हर लेत ॥१४८॥
कइ धन वित को पाय कर, लोकन में वरताँइ ।
ऐसे जन भी यग करें, बाँट बाँट कर खाँइ ॥१४९॥
कइ मन को एकाग्र कर, ध्यान समाध लगाँइ ।
ऐसे जन भी यग करें, शान्त पवन फैलाँइ ॥१५०॥

दोहा

कइ देवन को सिद्ध कर, भक्ती तास कमाँइ ।
ऐसे जन भी यग करें, जग की विपद नसाँइ ॥१५१॥
कइ विद्या का दान दें, अन्धे को दें नैन ।
ऐसे जन भी यग करें, जग का दुख हर लैन ॥१५२॥
कइ हितकारी जगत्त में, ब्रह्म ज्ञान वरताँइ ।
ऐसे जन भी यग करें, वैर विरोध मिटाँइ ॥१५३॥
कइ भक्ती को धार कर, जग की सेव करेत ।
ऐसे जन भी यग करें, सुख कुन्का जग देत ॥१५४॥
कइ ताता अर मात को, सेवें भक्ती धार ।
ऐसे जन भी यग करें, शोभा दें सन्सार ॥१५५॥
कइ गुरु की पूजा करें, तन मन धन को भेट ।
ऐसे जन भी यग करें, हमता ममता मेट ॥१५६॥
कइ तिर्या स्वय पती की, प्रीती में मर जाइँ ।
यिह पत्नी भी यग करें, पतिव्रत धर्म सिखाइँ ॥१५७॥
कइ सन्तन की मूरती, पूजें भक्ती धार ।
ऐसे जन भी यग करें, श्रद्धा प्रेम पसार ॥१५८॥
कइ सन्तन की चिन्त में, जीवन करें समाप्त ।
ऐसे जन भी यग करें, धर्म करावें प्राप्त ॥१५९॥
कइ सन्तन की सेव में, सब कुछ कर दें त्याग ।
ऐसे जन भी यग करें, "मैं, मेरी" ते भाग ॥१६०॥

दोहा

कइ सुख दायक ग्रन्थ रच, शान्त कुराड दे जाँइ।
ऐसे जन भी यग करें, पढ़ पढ़ सब सुख पाँइ॥१६१॥
कइ सन्तों के ग्रन्थ को, पैसे दे छपवाँइ।
ऐसे जन भी यग करें, ज्ञान प्रकाश दिलाँइ॥१६२॥
कइ कूएँ, तालाब, सर, दान नमित बनवाँइ।
ऐसे जन भी यग करें, प्यासे तोय पिलाँइ॥१६३॥
कइ बनवाते प्रेम से, पन्थी अर्थ सराँइ।
ऐसे जन भी यग करें, बे घर को घर लाँइ॥१६४॥
कइ सञ्जम अर नेम से, लेवें अन अर तोय।
ऐसे जन भी यग करें, जगत प्रान शुध होय॥१६५॥
कइ हठ बल को धार कर, सेवें प्रानायाम।
ऐसे जन भी यग करें, सिद्ध करें सब काम॥१६६॥
इस रीती जो जन करें, तन मन धन को भेट।
सो करते हैं यज्ञ नित, निज ममता को मेट॥१६७॥
जो जन जानें आप सम, सारा ही सन्सार।
और धरें सुख शाँत धन, हित सूँ सर्व अगार॥१६८॥
ऐसे जन हैं यज्ञ के, ज्ञाता जग के माँहि।
अपने अर सन्सार के, दोष अर पाप जलाइँ॥१६९॥
ज्यों ज्यों सूक्षम दान हो, त्यों त्यों उत्तम मान।
सब से उत्तम दान है, ब्रह्म ज्ञान का दान॥१७०॥

दोहा

बानी से वा शास्त्र से, अथवा धीरज धार।
तीनों रीती से करें, ज्ञानी जगत सुधार ॥१७१॥
अर्जुन, यिह उपदेश की, जो हैं रीती तीन।
इस में से जो अन्त की, सब से उत्तम चीन ॥१७२॥
शाँत अवस्था जास की, मौन धीर जिस वाक।
ऐसो मानुष समझिए, वेद शास्त्र का नाक ॥१७३॥
अति बलिष्ट "शाँती" अहे, अर्जुन, जग के माँहि।
शत्रू को सेवक करे, मूरख सन्त बनाँइ ॥१७४॥
इस समान नहिं स्वर्ग को, जगत राज के हेत।
सब का सीस निवाय कर, जग को शिष्य करेत ॥१७५॥
शाँत समा को यग नहीं, मौन समा नहिं दान।
काहेते दोनों करें, जग को स्वर्ग समान ॥१७६॥
हे अर्जुन, इस रीत से, भाँत भाँत के दान।
मेरे आगे प्रेम से, राखे सकल जहान ॥१७७॥
जैसी इच्छा को करे, वैसा ही फल पाइ।
सुख इच्छू सुख को लहे, मोख इच्छू छुट जाइ ॥१७८॥

ब्रह्म ज्ञान महिमा

चौपाई

जग में सब से उत्तम दान। ब्रह्म ज्ञान का दान पछान ॥
चित से वैर विरोध नसावे। मन को निर्मल शाँत बनावे।१७९।

चौपाई

कर्म धर्म की रीती देवे। ममता मोह सभी हर लेवे ॥
नाम रूप का काटे फन्द। जज्ञासू को करत सुछन्द ॥१८०॥
ले तू सन्तन से यिह बिक्षा। ब्रह्म ज्ञान की उत्तम शिक्षा ॥
जाँ ते वप का धोका नासे। इक आतम सब माँहि प्रभासे।१८१।
कर्त्ता कर्म अभिन्न प्रकासें। इच्छा . आशा सर्व बिनासें ॥
कर्म करो, नहिं फल को चाहो। कर्म मात्र का ही रस पाओ ।१८२।
फल में सुख रञ्चक ही नाँहीं। सुख केवल "करने" में आँहीं ॥
कर्म विखे जब वृत हो लीन। उस ही को सुख की निध चीन।१८३।
"फल" तो नाम रूप है भाई। इन नीरस से क्या रस आई ॥
"रस" दे आतम की जज्ञासा। आतम में ही "रस" का वासा१८४
ताँ ते ले तू आतम ज्ञान। तज दे विष वत देह अभिमान ॥
नाम रूप सब को छल मान। सब में आतम एक समान ॥१८५॥
चित से द्वैत भाव बिसराओ। वैर विरोध न मन में लाओ ॥
रण में लड़ तू धर्म लड़ाई। क्रोध न चित में होवे राई ॥१८६॥
जैसे सुत से लड़ता ताता। तैसे रण में लर तू भ्राता ॥
चित में तू यिह इच्छा धार। "होवे मूरख का सुद्धार" ॥१८७॥
जैसे गुरु चेले को पीटे। अथवा पति डाँटे नारी के ॥
तैसे लड़ तू रण मञ्झार। पर लड़ने से कर उपकार ॥१८८॥
पर के अर्थ करे जो हिन्सा। ता को दोष नहीं कुछ लगता ॥
दोश अहे ममता के माँहीं। निर्मम समझो मुक्त सदा हीं।१८९।

चौपाई

स्वारथ से जो पर को मारे। अपने को बन्धन में डारे ॥
बन्धन द्वैत इष्ट की छाई। दुब्धा ही जग में है फाई ॥११०॥
लड़ तू जगत कुशल अर्थाई। ममता धर चित में नहिं राई ॥
निर इच्छत धर तीर कमान। निर भय, निर मत्सर, निर्मान।१११।
रण भूमी को वेदी मानो। भेट करो इस पर ममता को ॥
जग के हेतू कष्ट उठाओ। इस विध मुक्त पदारथ पाओ ।११२।
रण में ऐसी इच्छा चाहये। "जग ते द्रोह अर पाप नसाइए ॥
"पापी को यिह उपजे ज्ञान। "पाप अन्त है दुख अपमान"।११३।
काट सीस पहिले ममता का। पाछे भय नहिं कर हिन्सा का ॥
काहेते जो हित सूँ मारे। उस का कुछ नहिं कर्म बिगारे।११४।

सन्त सङ्गत

दोहा

सन्तन की सङ्गत करो, सीखो ध्यान अर ज्ञान।
पुण्य पाप का भेद लो, सत्य असत्य पछान ॥११५॥
ज्ञान बोध ते होत है, इस्थित बुध अर चीत।
ज्ञानी जन जानत भलो, क्या है नीत अनीत ॥११६॥
फिर घबरावे वुह नहीं, करमन की जाँ ग्रन्थ।
नाम रूप को त्याग कर, लेवे आतम पन्थ ॥११७॥
पाप सकल उसके जलें, होवे धर्म अवतार।
राग द्वेष से पार हो, तर जावे सन्सार ॥११८॥

दोहा

ज्ञान सहित जो जो करो, बन्धन ताँ में नाँहिं।
द्वैत भाव जब नाश हो, तब को बाधक आँहिं ?।१९९।

कथ्नी ज्ञान व्यर्थ

दोहा

केवल "कथनी" ज्ञान नेंह, बन्धन से छुड़वाइ।
आतम हित जब वरतिये, तब ही मुक्ती आइ ॥२००॥
"कहिनी" "रहिनी" सम बने, यिह है परमानन्द।
बिन "रहिनी" के कोइ जन, होवत नाँहिं सुछन्द ॥२०१॥
जब तक जन वरते नहीं, जग में ज्ञान प्रकाश।
तब तक दुःख कलेश का, तम नहिं होत विनाश॥२०२॥
वुह ज्ञानी ज्ञानी नहीं, सुख ही को जो चाहि।
अर दुख से भागे परे, विषयानन्द धियाइ ॥२०३॥
ताँ ते सब ऐसे पुरुष, मुख से बोलें ज्ञान।
पर बुध में समझें नहीं, भेद ज्ञान अज्ञान ॥२०४॥
यदि समझें वुह ज्ञान के, रस को बुध के माँहिं।
पाप दोष नहिं हो सके, उन से फेर कदाँहिं ॥२०५॥
काहेते हो ज्ञान से, वुध में एह प्रकास।
नाम रूप सब छल अहैं, जिम नीलो आकास ॥२०६॥
नाम रूप ही पाप है, इस बिन पाप न कोइ।
राग द्वेष जो पाप जड़, नाम रूप से होइ ॥२०७॥

दोहा

जब ज्ञानी को बुध विखे, यिह दृढ़ निश्चय होइ।
तब रज्जू के सर्प से, भागे कैसे सोइ ॥२०८॥
अर कैसे वुह सुक्त को, पकरे चाँदी मान।
परवत वत इस्थित रहे, तज कर देह् अभिमान ॥२०९॥
ताँ ते, अर्जुन, ज्ञान यिह, तत वेता से सीख।
नाम रूप को भूल कर, आतम सब में दीख ॥२१०॥
राग द्वेष को मार कर, धर्म विखे हो लीन।
फल की इच्छा त्याग दे, आतम रस को चीन ॥२११॥
शुध भावन को धार कर, यदि तू काटे सीस।
तुम को पाप न रूच है, उलटा लगत असीस ॥२१२॥
बन्धन मन ही को कहें, "जग" "मन" का आभास।
"आतम हित" मुक्ती अहे, "रूप प्रीत" है फास ॥२१३॥
यदि तू आतम हित धरे, कर डाले कुछ हान।
पाप नहीं तुम को लगे, पाप द्वेष में मान ॥२१४॥
ज्ञानी यदि सारा जगत, छिन में डारे जार।
तब भी वुह सद मुक्त है, हर्ष शोक ते पार ॥२१५॥

मुख ज्ञानी नित बन्ध

दोहा

मुख ज्ञानी होवे नहीं, ऐसे परम अनन्द।
हर्ष शोक छोरे नहीं, जब तक इच्छा फन्द ॥२१६॥

दोहा

बहुते ज्ञानी रात दिन, इच्छा में लोलप्त ।
विषय भोग में लत रहें, राग द्वेष आसक्त ॥२१७॥
अर फिर कपटी होइ कर, बोलें झूट असार ।
"हम तो इच्छातीत हैं, हर्ष शोक ते पार" ॥२१८॥
ऐसे कपटी पुरुष जो, दुष्ट महा हैं चोर ।
साधू वेष दिखाइ कर, पाप कमावें घोर ॥२१९॥
सीधे सादे जनों को, ऐसे पुरुष भ्रमाँइ ।
खाना पीना भोगना, ब्रह्मानन्द बताँइ ॥२२०॥
ऐसे कपटी पुरुष की, ऐस परिक्षा होइ ।
दुख विपदा उस पर परे, देखो कैसा रोइ ॥२२१॥
सुख, धन, वित में मस्त हो, मारे सौ फरतूक ।
जाने उत्तम आप को, मारे नभ को थूक ॥२२२॥
पर जब धन सुख हान हो, सब चतुराई जाइ ।
रुदन करे शोकी बने, रोगी देह बनाइ ॥२२३॥

पाप लेश

दोहा

ताँ ते अर्जुन, ज्ञान को, दीपक कर्म बनाइ ।
कर्म ज्ञान को एक कर, धर्म विखे धुन लाइ ॥२२४॥
जब तू ऐसा बन चले, योगी जग के माँहि ।
तब कोई भी पाप नहिं, तुम को लेश लगाँइ ॥२२५॥

दोहा

ज्ञान महा अग्नी अहे, भस्म करे सब पाप।
उज्जल निर्मल बुध करे, हर लेवे सन्ताप ॥२२६॥
यिह नहिं समझो ज्ञान में, पाप न कुछ फल लाइ।
पर यिह मानो ज्ञान में, पाप ईक्षणा जाइ ॥२२७॥
ज्ञान अग्नी में भस्म हो, पापन की जो भ्रांत।
पुन्य आतमा बृत रहे, सुख दाई अर शाँत ॥२२८॥
यिह कहिना भी पाप है, पापी ज्ञानी मुक्त।
पाप न कब हूँ कर सके, जो आतम सूँ युक्त ॥२२९॥

भोग अर योग का विरोध

दोहा

जो जन करता पाप है, वुह ज्ञानी ही नाँहि।
पाप कमाने के समय, आतम से गिर जाँइ ॥२३०॥
जग को जो सत मानते, सोई पाप कमाँइ।
बन्धन में लिपटे हुए, मुक्त कैस हो जाँइ ॥२३१॥
ज्ञानी अर पापी विखे, दिवस रात का भेद।
ज्ञानी को भासत अहें, पाप विखे सब खेद ॥२३२॥
ताँ ते पाप कमाइ जो, दुख बन्धन हो तास।
भावें चतुर प्रवीन हो, मुख में ज्ञान प्रभास ॥२३३॥
जो कीचर में गिर परे, मैला तो हो जाँइ।
कीचर काहू को नहीं, सुथरा कभी बनाँइ ॥२३४॥

दोहा

ताँ ते कपटी सन्त हैं, योगी जो कहिलाँइ।
पर निश दिन सुख के निमित, पाप विखे लिप्टाँइ ॥२३५॥
राग द्वेष जिन के विखे, वुह ज्ञानी नहिं होइ।
मुक्त न कब हूँ होत वुह, जन्म मरण ले सोइ ॥२३६॥

ज्ञान अनुसार कर्म, वा धर्म, वा कर्म योग

दोहा

ज्ञानी का लक्षण यिही, राग द्वेष हो दूर।
दुख सुख में वुह सम रहे, आतम हित भरपूर ॥२३७॥
ज्ञान भान चमके जभी, उत्तम मन्द दिखाइ।
दूषण से न्यारा करे, शोभावान बनाइ ॥२३८॥
ताँ ते ऐसे ज्ञान को, हे अर्जुन, तू धार।
ताँ ते उपजे बुध विखे, पाप अर पुन्य विचार ॥२३९॥
ताँ ते तू यिह जान ले, "पाप" द्वेष का नाम।
और "पुन्य" वुह काम है, जाँ में भक्ती राम ॥२४०॥
तेरा सन्शय ज्ञान से, होवे, अर्जुन, नास।
सत्य असत्य विचार कर, रिद में आन प्रकास ॥२४१॥
नाम रूप को भूल दे, राग अर द्वेष निवार।
ऐसे पद में बैठ कर, रण में मार कटार ॥२४२॥

दोहा

इस पावन बुध से यदी, मारे सब सन्सार ।
तो भी तेरा जीव है, पाप लेश से पार ॥२४३॥
ईश्वर जो पल पल विखे, मारे युवन् अर बाल ।
क्यों वुह सद निर्दोष है, चित में द्वेष न वाल ॥२४४॥
तैंसे ही यदि द्वेष को, चित से जोइ नसाइ ।
कर की करतव्या उसे, रञ्चक नाँहिं फसाइ ॥२४५॥
वुही काम दे "मुक्त" को, वुही काम दे "बन्द" ।
द्वेष बिना जन "मुक्त" है, द्वेष अहे जग फन्द॥२४६॥
ताँ ते, अर्जुन, द्वेष को, मन से तू धो डाल ।
फिर ले कर तू चाप शर, मार, धार, सम काल ॥२४७॥

इति चतुर्थ अध्याय

सङ्क्षेप अर बेनती

सोरठा

अब चतुर्थ अध्याय, हुआ समापत आन कर।
ज्ञान योग समुझाय, अर्जुन के प्रति खोल कर ॥ १ ॥
पाप पुन्य का भेद, देवें इस में *कृष्णजी*।
खोवें जग का खेद, जो इस विध वरतें सदा ॥ २ ॥
पुन्य पाप मन माँहिं, इन्द्रिय में रञ्चक नहीं।
जो द्वेषी जन आँहिं, पापी तिन को मानिए ॥ ३ ॥
जो वरतें अद्वैत, समता जाँ की दृष्ट में।
उन के कर्मा जैत, सब ही पुण्य स्वरूप हैं ॥ ४ ॥
हित सूँ डाले मार, यदि कोई स्वय पुत्र को।
ताँ को रञ्च न भार, सिर पर किल विष का चढ़े ॥ ५ ॥
काहेते सन्सार, मन का ही आभास है।
मन बन्धन ते पार, आतम सदा अछूत है ॥ ६ ॥
दुख सुख "मन" के माँहि, "मन" नासे, आनन्द है।
राग द्वेष "मन" माँहि, यिह है जड़ सब पाप की ॥ ७ ॥
आप विखे जो आप, ता को फल किस से मिले।
नासे सब ही ताप, ऐसे जन निर द्वन्द के ॥ ८ ॥
जाँ के मन में द्वेश, वुह करता अर भोगता।
और उसी को लेश, जग में अपने पाप का ॥ ९ ॥

सोरठा

ज्ञानी सदा अछूत, पर ज्ञानी "मन हीन" जो ।
"आतम है अनुस्यूत, सब में", ऐसे वुह लखे ॥१०॥
बिन आतम जिस नाँहिं, कोई भी सन्सार में ।
वुह किस को दुख लाँइं, अपने को दुख कौन दे ?॥११॥
ताँ ते आतम ज्ञान, मुक्त करे सब पाप से ।
नहिं को तास समान, दुख विपदा की औषधी ॥१२॥
कर्म करे फल चाँहि, ऐसा जन विक्षेप चित ।
कभी न आनँद पाँइ, फल चिन्ता में ही रहे ॥१३॥
सुख चिन्ता का नास, चिन्ता में है सुख कहाँ ?
फल चिन्ता का वास, मन में मिल कर ही रहे॥१४॥
आनँद आतम माँहि, नाम रूप दुख कूप है ।
नाम रूप फल आँहि, फल में ढूँढ़े सुख कहाँ ?॥१५॥
ताँ ते सुख की खान, फल को तज देने विखे ।
सब में आतम जान, पूरन जिम आकाश है॥१६॥
आगे जो हो काम, वुध चित उस में लीन हो ।
आनँद का यिह धाम, आतम में जो लीनता ॥१७॥
नाम अर रूप भुलाइ, आतम सब में देखिये ।
यिह दृष्टी सुख दाइ, नाम रूप में तत्व यिह ॥१८॥
फल की जो अभिलाश, नाम रूप की आश है ।
मृग जल वत आकाश, जग के जेते फल अहें ॥१९॥

सोरठा

ता ते आशा त्याग, कर्म विखे लिवलीन हो ।
मोह नींद से जाग, आतम लख सब वस्त में ॥२०॥
जोइ पदारथ आहि, सब में इक ही रस मिले ।
प्रीत गिलान नसाइ, सब वस्तू में प्रेम कर ॥२१॥
ऊँच नीच भ्रम जान, ममता को यिह छाय है ।
ममता नीच पञ्जान, ता को तज कर राज कर॥२२॥
यिह जो देह् अभिमान, सब पापन की मात है ।
यिह ही करत गिलान, अमृत में विष डाल दे ॥२३॥
आवे आतम ज्ञान, वप का गर्व नसाइ दे ।
क्षण भङ्गुर का मान, होवे जग में मूढ़ को ॥२४॥
ज्ञानी सब सूँ प्रेम, करते निश वासर अहें ।
सदा रहें वुह क्षेम, कण्टक द्वेष निकाल कर ॥२५॥
कर्म सङ्ग हों कर्म, सुध बुध सकल भुलाइ के ।
मुख्य रखें नित धर्म, इच्छा तज अमृत चखें ॥२६॥
इच्छा बिन जो बुद्ध, इस्थित शाँत अडोल जो ।
जाँ नासे सब सुद्ध, तुर्या पद इस को गनो ॥२७॥
इस प्रकार श्रीक्रिशन, अर्जुन को उज्जल करें ।
उस के मन के प्रश्न, इक इक का खण्डन करें ॥२८॥
और करें उपदेश, "हे अर्जुन ! तू युद्ध कर ।
"तज कर राग अर द्वेष, "धर्म नमित मार् और मर" ।२९।

सोरठा

यिह भाइयो सङ्क्षेप, है चौथे अध्याय का।
जो वरते, निरलेप, माया के जल में रहे ॥३०॥
सब सूँ राखे प्रेम, द्वैत दृष्ट को जार के।
सुखी रहे नित क्षेम, दुख का भ्रम ता सूँ हटे ॥३१॥
झुक कर टेके माथ, *उपदेशक* के चरन पर।
अनुवादक *रघुनाथ*, माँगे बिक्षा धर्म की ॥३२॥
"सदा रखो लिवलीन, वर्तमान ही के विखे।
"करो न मोह अधीन, निरममता का दान दो ॥३३॥
"कोइ न होवे काम, मुझ से अपने अर्थ का।
"भेटूँ पर के नाम, बुध, बल, धन अप्ना जु हो ॥३४॥
"सेवूँ व्रत अर दान, तप में निश वासर रहूँ।
"प्रन में हारूँ प्रान, तो भी कायर नाँ बनूँ" ॥३५॥
माँगे यिह *रघुनाथ*, वर *श्रीकृष्ण मुरार* से।
"रहो दास के साथ, *धीरज* बन हर समय में ॥३६॥
"ऐसा इस्थित प्रज्ञ, कीजे जी *रघुनाथ* को।
"पूरण हो यिह यज्ञ, उस के *इस अनुवाद का*" ॥३७॥
और चहूँ यिह दान, "सफल यज्ञ मेरा करो।
"बाल अर वृद्ध जवान, पीवें अमृत धार यिह" ॥३८॥

सोरठा

किये सहित विस्तार, टीका *भगवत गीत* की ।
मन में धर उपकार, भाषा छन्दों के विखे ॥३१॥
केवल अक्षर अर्थ, जग को कुछ नहिं लाभ् दे ।
पुरुष रहे असमर्थ, उस रूखे अनुवाद से ॥४०॥
इस ते *गीता* भाव, खोला है इस ग्रन्थ में ।
जग सागर में नाव, सच मुच यिह पुस्तक अहे ॥४१॥

अथ पञ्चम अध्याय

अर्जुन उवाच

चौपाई

आज सलाहत हो सन्यास । काल सलाहो कर्म निरास ॥
समझूँ मैं नहिं *कृष्ण कन्हाई* । दोनो से किस माँहि भलाई ॥१॥
धार मया मुझ को समझावें । इन दोनो का भेद बतावें ॥
निश्चय से यिह वरनन कीजे । कर्म गहें, वा त्याग गहीजे ॥२॥

श्री भगवान उवाच

चौपाई

हे अर्जुन, सुन तू यिह ज्ञान । "कर्म योग" अर "त्याग" समान ॥
यिह दोनों हैं पद पर्याय । "योग" अर "त्याग" अहें सम भाय३
"कर्म योग" है "इच्छा नास" । और यिही समझो "सन्यास" ॥
वुह नहिं त्यागी जो "घर" छोड़े । त्यागी वुह जो "ममता" तोड़े ॥४॥
"घर" का त्याग बतावे द्वेष । राग अर द्वेष पछान कलेश ॥
ऐसो सन्यासी दुख पावे । ताँ के चित को ठौर न आवे ॥५॥
छोर नगर जङ्गल में जावे । जङ्गल भी तब ताँहि थकावे ॥
इत उत भटकत मन कलपावे । शाँत पदारथ हाथ न आवे ॥६॥
शाँत अर दृढ़ बुध एक पछानो । चञ्चल भाव कलपना मानो ॥
शाँत मिले है, अर्जुन, उस को । सन्तोखी अर इस्थित हो जो ॥७॥

चौपाई

जो फाँदे मरकट की न्याईं। ता को मिलत न शाँत कदाहीं ॥
जा के मन में द्वेष गिलानी। ता के अन्तर विष की खानी ॥८॥
समझे नहिं मूरख बुध माँहीं। दुख को मूल द्वेष ही आँहीं ॥
द्वेष रखे जब अपने पाँसे। अमृत पात्रे मूढ़ कहाँ से ॥ ९ ॥
पुर अर घर में कण्टक नाँहीं। कराटक मोह गिलानो आँहीं ॥
जब तक मोह गिलानी मन में। सुख पावेगो तू नहिं बन में ॥१०॥
राग द्वेष को जब तू त्यागे। दुख कराटक सब तुम से भागे ॥
तब घर पुर भी बन सम भासे। नाद विखे चुप चाप प्रकासे ॥११॥
वुह, अर्जुन, है सचा त्यागी। इच्छा सकली जिस से भागी ॥
उसको नाहिं समझो सन्यासी। जिसके गल में आसा फासी
सकल सृष्ट मानो अध्यासी। दुख जिन को है बाहिर भासी ॥
दुख का है अन्तर अस्थान। "दुख" "इच्छा" की छाया मान-१२
जो जन इक को अच्छा मानें। और बुरा दूसर को जानें ॥
उन को सुख अर शाँत न आवें। नित ही भटकें नित ही धावें॥१४॥
बाहिर की वस्तू का त्याग। भड़कावे इच्छा की आग ॥
द्वेष भाव को पुष्ट बनावे। चञ्चलता अर खेद बढ़ावे ॥१५॥
त्याग करें सुख के अर्थाई। दुख के अर्थ न धारें भाई ॥
जो चञ्चल है पारे जैसा। वुह जग में सन्यासी कैसा ॥१६॥
इस विध "शाँत" अहे "सन्यास"। "शाँत" पुनः है "द्वेष विनास" ॥
राग द्वेष को जो जन मारें। सन्यासी सुर ताँहिं पुकारें ॥१७॥

चौपाई

मोह गिलानी बिन जो कर्म । उस ही को भाखत हैं धर्म ॥
"धर्मी" "त्यागी" आँहि अभेद । ऐसो समझावत है वेद ॥१८॥
फिर "योगी" "त्यागी" को जानो । "सन्यासी" भी उस को मानो ॥
"तोय", "उदक", अर "जल" हैं जैसे । यिह तीनो पद जानो तैसे ॥१९॥

साँख्य अर योग एकता

चौपाई

"साँख्य" माँहिं जो "त्याग" बतायो । "योग" विखे सो "धर्म" बुलायो ॥
"धर्म" अर "त्याग" अहें जब एक । "योग" "साँख्य" में नाहिं विवेक-२०
जो इस विध बुध माँहिं विचारें । तिन को पुरुष महान पुकारें ॥
साँख्यी का है योग सिँगार । साँख्य अहे योगी का द्वार ॥२१॥
जल अर अग्नी एको जैसे । साँख्य अर योग अभेदी तैसे ॥
मूल अर तत्व विखे सम दोनो । यद्यपि रूप विखे भासें दो ॥२२॥
अग्नी जल बिन ठैरे नाहिं । जल अग्नी बिन लैहे नाहिं ॥
अग्नी ही जल को दरसावे । जल ही अग्नी को फैलावे ॥२३॥
जल अग्नी बिन द्रवता खोवे । अग्नी जल बिन कैसे धोवे ॥
तादातम सम्बन्धी एह । योग साँख्य में ऐस सनेह ॥२४॥
बालक इन में भेद पछाने । मूरख इन को भिन भिन माने ॥
पर तत वेता जानत सारे । योग साँख्य के आहिं सहारे ॥२५॥

सन्यासी लक्षण

चौपाई

सन्यासी मन अपना मारे । और सदा सत वाक उचारे ॥
देखे सब में अपना आतम । प्रेम करे सारों से ही सम ॥२६॥
सन्यासी सब से निर्मोह । हित कारी, प्यारो, निर्द्रोह ॥
हान लाभ उस को सम भासे । मान अपमान समान प्रकासे ॥२७॥
सन्यासी इच्छा को मारे । इस विध अपना जीव सँवारे ॥
उस्तत निन्दा समझे थोथी । सर्वातम की देखे पोथी ॥२८॥
सन्यासी अश्चर्य उखारे । पुन चिन्ता अर भय को जारे ॥
परवत सम निश्चल निश वासर । मूल न डोले द्वैत जला कर ॥२९॥
सन्यासी सञ्जम मुख राखे । मध वर्ती मध का रस चाखे ॥
राग अर द्वेष अतोत बिराजे । निरममता से निश दिन साजे॥३०॥
सन्यासी का लक्षण "दान" । पर देवे हो कर निरमान ॥
देवे, देवे, देवे, देवे, । निश वासर वुह सेवे, सेवे, ॥३१॥
"इक" लेवे अर "सौ सौ" देवे । "देने" का रस निश दिन लेवे ॥
"ले" नासी अर "दे" अविनासी । "लेने" को समझे वुह फासी ॥३२॥
"लेना" नीचे, "देना" ऊपर । "लेना" चाकर, "देना" ठाकर ॥
"लेना" बन्धन, "देना" मोख । "ले" इच्छा, अर "दे" सन्तोख-३३
"लेना" मन, "देना" परमेश्वर । "लेना" भय, "देना" निर्भय कर ॥
"लेन" अँधेरा, "देन" प्रकासी । ताँ ते नित "देवे" सन्यासी ३४

चौपाई

विषय भोग समझे अपमान । उपशम को माने भगवान ॥
"मन रोधन" का "अमृत" पीवे । इस विध जीवे, जीवे, जीवे,॥३५॥
सुप्ने में भी काम हटावे । रूपन से तंह लज्जा आवे ॥
आतम पद से गिरत न कब हूँ । प्रण अपने से फिरत न कब हूँ ॥३६॥
पर सुख में वुह आँहि प्रसन्न । पर हित ही है उस का धन्न ॥
"सेवा" को वुह समझे "राम" । हिन्सा का नहिं जानत नाम ॥३७॥
बोल कबोल सहारे वीर । रहत विषाद विखे गम्भीर ॥
सर्व अवस्था में आनन्द । सम तिस को है उत्तम मन्द ॥३८॥
नारी को वुह विष वत माने । तेज अर बल का घातक जाने ॥
सुपने की भी नारी जोई । सन्यासी की शत्रू होई ॥३९॥
जो जन जीते रसना ससना । उस ने वप में बहुर न फँसना ॥
ससना सब से शत्रू भारी । ताँ ते योगी त्यागे नारी ॥४०॥

"नारी" अभिप्राय

चौपाइ

नारी-पन जो नारी माँहीं । योगी ताँ को त्यागत आँहीं ॥
यिह नारी-पन अन्तर मानो । मन अपने का भ्रम ही जानो ॥४१॥
सन्यासी समझे यिह ज्ञान । ताँ ते त्यागे द्वेष गिलान ॥
दुर दुर करत न "नारी गन" को । हटकत योगी अपने "मन" को ।४२।
जैसे भगनी अथवा माता । बैठे ले कर भ्राता ताता ॥
तैसे योगी हो निष्पाप । समझे स्वय को सब का बाप ॥४३॥

चौपाई

जैसे दूर रखें सब आग। तैसे कीजे नारी त्याग॥
मन में होय न रञ्च गिलानी। मानें केवल अपनी हानी॥४४॥
जैसे रोगी अपथ तियागे। पर उस से नहिं दूरी भागे॥
तैसे योगी त्यागे नारी। मन की तृष्ना मारे सारी॥४५॥
इस ही को बाखें वैराग। जिस में रञ्चक द्वेष न राग॥
वैरागी नहिं नारी छोरे। पर "नारी अभिलाषा" होरे॥४६॥

"नर" अर "नारी" विचार

चौपाई

जैसे पुरुष नार को त्यागे। वैसे नार पुरुष से भागे॥
उस को नर आगे ज्वर जागे। नर "नारी" है नारी आगे॥४७॥
नर नारी दोनों हैं "नारी"। दोनों काम जगावन हारी॥
ताँ ते जब "नारी" पद बाखें। लक्ष उस का "नर, नारी" लाखें॥४८॥
नर की "नारी" नारी जानो। नारी की "नारी" नर मानो॥
ताँ ते काम जगावत जोई। कामी की "नारी" हो सोई॥४९॥
काम वृती "नारी" कहिलावे। तेज प्रताप यिही खा जावे॥
ताँ ते काम वृती को होरो। नारी नर से प्रेम न छोरो॥५०॥

जिज्ञासू की उदासीनता

चौपाई

पर जिज्ञासी को है योग। त्यागे काम उपजाई लोग॥
उस में आतम बल नहिं इतना। राख सके मन निश्चल जितना॥५१॥

चौपाई

ताँ ते जिज्ञासिन जिज्ञासी । नर नारी से रहत उदासी ॥
जिस तें काम न उपजे ताँ में । सोम रहे बृत सहजे जाँ मे ॥५२॥
तप से मन जब वश में आवे । "नर" "नारी" तब नाँहि हिलावे ॥
नर आगे नारी निष्पाप । नारी आगे नर बिन ताप॥५३॥
तब जिज्ञासी होवे सिद्ध । योगी बन जावे इस विद्ध ॥
तब अग्नी में बैठा भी हो । सेंक अर आँच न लागत उसको-५४
ऐसो जन होवे सन्यासो । जा की नासत इच्छा फासी ॥
पृथ्वी सम जो निर अभिमान । जल वत जो हो प्रेम निधान ॥५५॥
नाम रूप से रञ्च न डोले । सद ही मिठरी बोली बोले ॥
काहू का मन नहिं कलपावे । शाँत अर सुख का मेहँ बरसावे ।५६।
इस रीती से, अर्जुन, समझो । योगी अर त्यागी हैं एको ॥
त्यागी राग अर द्वेषा छोरे । योगी आतम सूँ चित जोरे॥५७॥
तत दोनों का समता जानो । समता का तत आतम मानो ॥
दोनों नाम रूप छल मानें । राग द्वेष इन का फल जानें ॥५८॥

तप महिमा

चौपाई

फल सारे विष्टा सम जानें । फल ग्राहक को दुखिया मानें ॥
कर्म विखे जो होवे लीन । ताँ को अमृत पानी चीन ॥५९॥
श्रेष्ट त्याग तो इच्छा नाश । पर तप में भी शाँत प्रकाश ॥
सुख को त्याग ताप जो धारे । वुह भी लागे शाँत किनारे ॥६०॥

चौपाई

त्यागी को परमातम मानो । नाम अर रूप अतीत पछानो ॥
त्यागी ऐसे गुन दिखलावें । विषयन में जो निकट न आवें ।६१।
तप अर त्याग अहें पर्याय । तप बिन कुछ नाहीं सुख दाय ॥
तप से ही जग झूटा भासे । तप से आतम राम प्रकासे ॥६२॥
तप ही है अमृत की धारा । तप ही मानो शाँत दुवारा ॥
तप ही परमानन्द निधान । तप ही तेज अर बल की खान ।६३।
तप धारी को निश्चय होई । मृग वत छल है दुख सुख जोई ॥
दुख को सहि कर रहत अनन्द । सुख को तज कर होत सुछन्द ।६४।
तप ही जग को झूट दिखावे । तप ही आतम बोध दिलावे ॥
ताँ ते तप ऐसो रस दाई । जैसे सम दृष्टी है भाई ॥६५॥

त्याग महिमा

चौपाई

त्याग बिना आवे नहिं समता । तप बिन जीव रहे नित भ्रमता ॥
यद्यपि समता सम नहि त्याग । पर बिन त्याग न समता जाग ।६६।
ताँ ते त्याग नहीं है निन्दत । उलटा त्याग सलाहें पण्डत ॥
आतम ज्ञान त्याग से आवे । धीरज समता त्याग सिखावे ॥६७॥
इतना चेत रखो तुम भाई । त्याग गिलानी सहित बुराई ॥
ऐसो त्याग न कुछ फल लाई । उल्टा भय चिन्ता दुख दाई ॥६८॥
त्याग करो पर इस इच्छा से । "मन मेरे में धीरज उपजे ॥
"दुख विपदा को आतम देखूँ । "सुख को धोखा मात्र परेखूँ ॥६९॥

चौपाई

"कष्ट विखे विचरूँ आनन्दी। "शरदी गरमी माँहि सुछन्दी ॥
"शोक मिले तो शोक निभाऊँ। "भूक मिले तो ताँको खाऊँ ॥७०॥
"कबहूँ पीड़ा नहिं प्रगटाऊँ। "यद्यपि कुष्ट अवस्था पाऊँ ॥
"सहज विखे आयू बीताऊँ। सर्व अवस्था में सुख पाऊँ ॥७१॥
"बुध मेरी को नाँहि हिलावे। "कैसी विपदा सिर पर आवे ॥
"क्यों नहिं गो का गोला टूटे। "मम धी आतम से नहिं छूटे॥७२॥
"ममता बिन चिन्ता बिन निर्भय। "नीरस लागे मुझ को हर शय ॥
"लाभ अर हान अर मान अपमान। "नित भासे मुझ को सामान"॥७३॥
इस इच्छा से धारो त्याग। मन में रञ्चक द्वेष न राग ॥
ऐसे जो हैं त्याग अर ताप। मानो ताँ को आतम जाप ॥७४॥
ऐसा तप आनन्द निधान। और अहे समता की खान ॥
तप समता की, अर्जुन, माता। तप बिन धीरज मूल न आता ॥७५॥
इस कारण ते, अर्जुन प्यारे। दोनो कर्म अर त्याग उचारे ॥
त्यागी को ही कर्मी जानो। इच्छा होरन कर्म पछानो ॥७६॥
त्याग अर धर्म एक हैं भाई। निर ममता ही धर्म कहाई ॥
निर्ममता से जेते कर्म। सारे ही कहलावें धर्म ॥७७॥
ताँ ते अर्जुन निर इच्छित हो। कूट मार तू मन अपने को ॥
पर उपकार लिए युध कर तू। अर फिर भावी से नहिं डर तू ।७८।
बन्धन डाले ममता हमता। बन्धन सब फोरे निर ममता ॥
ममता छोर सर्व हित धारे। सब में अपना आप पसारे ॥७९॥

चौपाई

निरमम मुक्त होत हैं भाई। भावें काटें सर्व लुगाई ॥
"मैं प्रछिन्न" है करने हारी। "ब्रह्म" बनत है जब "मैं" मारी ८०
ताँ ते, अर्जुन, "मैं" को छोर। स्वारथ प्रीती से मुँह मोर ॥
जग हित कारन धार लराई। इस विध तुम को पाप न राई॥८१॥
मोह नींदँ से जागो भाई। राग द्वेष को त्यागो भाई ॥
मित्र समा धारो शर चाप। डर नहिं भावें मारो बाप ॥८२॥

कर्ता स्वरूप

चौपाई

तू नहिं करता, अर्जुन प्यारा। तव आतम निर्लेप नियारा ॥
करता मन करता है आश। तव आतम तो देत प्रकाश ॥८३॥
मन अर कर्म एक ही मानो। पुन कर्मा अर रूप समानो ॥
काहेते इक रूप मिटावे। उस पर दूसर रूप बनावे ॥८४॥
रूप अर गुन मानो पर्याय। केवल गुन को कर्म हिलाय ॥
कर्म न पहुँचे गुन के पार। आतम निर्गुन को क्या भार ?॥८५॥
गुन सब नाम अर रूप पछानो। नाम रूप को झूटा मानो ॥
ताँ ते कर्म न लैपे तुम को। तुम तो सूक्ष्म अर निर्गुण हो ।८६।
रूप रूप का गुण बदलावे। आतम का क्या इस में जावे ?।
यदि तरङ्ग आपस को फारें। जल का क्या यिह कर्म बिगारें।॥८७॥
यूँ विचार कर, अर्जुन भाई। हो निर भय लर मार लराई ॥
नाम रूप को मिथ्या मान। आतम सत अर निश्चल जान ।८८।

चौपाई

वैर बिना मारो अर धारो। जैसे अपने पुत्र सँवारो ॥
जैसे भर्ता पीटे नारी। पर समझे ता को अति प्यारी ।८९।
यिह विधान लड़ने का भाई। वैर विरोध न मन में राई ॥
जैसे गुरु चेले को मारे। पर कुछ वैर न रिद में धारे ॥१०॥
सुगम मन्त्र लड़ने का जानो। मन में राग अर द्वेष न आनो ॥
यिह वृत नाहिं असम्भव भाई। दिन में सौ वारी वरताई ॥११॥
जो कोई इस विध से मारे। कर्म न कुछ भी तास बिगारे ॥
पापी वुह जो द्वेषी रागी। वुह नहिं पापी जो वैरागी ॥१२॥
निरद्वेषी अर जो निरमोही। जग भीतर पुन्यातम सोई ॥
जो नहिं हन्से अर नहिं रोवे। ऐसो जन पुन्यातम होवे ॥१३॥
कमल पत्र सम जो निरलेप। जाँका चित है निर विक्षेप ॥
मित्र शत्र सम जाने जोई। ऐसो जन पुन्यातम होई ॥१४॥

सन्तन की कर्म रीती

दोहा

इन्द्रय मन अर बुद्ध से, सन्त कर्म निपटाँइ।
रिद में राग अर द्वेष का, रञ्च लेश नहिं लाँइ ॥१५॥
राग बिना किम पाप है, द्वेष बिना किम द्रोह।
ताँ ते सन्तन की वृती, रहे सदा बिन मोह ॥१६॥
निश दिन ऐसे कर्म में, रहें सन्त लिवलीन।
जाँ ते प्रेम अर रस स्रवे, सब से हित को चीन ॥१७॥

दोहा

दुख में भी सुख की निधी, पावें सन्त महन्त ।
विपदा में आनन्द को, भुञ्चें, मुक्त लहन्त ॥९८॥
जो सब को भावे नहीं, उन के आगे राम ।
उस से हित अर प्रेम कर, लहें मोक्ष को धाम ॥९९॥
ऐसे आतम पद विखे, इस्थित जो जन आँहि ।
घूरम निश वासर फिरें, हान लाभ तेंह नाहिं ॥१००॥
आदर में फूलें नहीं, माँहि निरादर सोम ।
जग के मान प्रताप में, फुरे न उन की रोम ॥१०१॥
सब में व्यापक आप को, देखें ऐसे सन्त ।
ताँ ते क्रोध बिना सदा, ईरख बिना रहन्त ॥१०२॥
मैल उतारें जीव की, वैरी सूँ हित लाइ ।
उज्जल मत अपनी करें, निरधनता को पाइ ॥१०३॥
निश दिन सुख अर खेम के, देवें सन्त डकार ।
भावें शिर पर तास हों, सौ विपदा के भार ॥१०४॥
विपदा भी उन के निकट, आतम बिन कुछ नाहि ।
ताँ ते आदर प्रेम युत, ताँ को रिद सूँ लाँइ ॥१०५॥
विपदा में पावें सदा, ऐसे गुण अर स्वाद ।
धन अर सुख सब जगत के, जिन के आगे गाद ॥१०६॥
आतम युत जो पुरुष हैं, जग के फल नहिं चाहिं ।
फल को नाम अर रूप लख, दुख मय उस को पाइँ ॥१०७॥

दोहा

फल का गुण है देह तक, देह परे नहिं जाइ ।
आतम इस्थित पुरुष को, कायक सुख न रजाइ ॥१०८॥
ऐसे को आनन्द है, समता रस के माँहि ।
फल होवे वा नाहिं हो, निश्चल वुह सद आँहि ॥१०९॥
जब वुह सब में देखता, अपना आतम पूर ।
तब वुह चाहे कास को, कास करे वुह दूर ॥११०॥
सर्व अवस्था जब उसे, सम है आनँद दाइ ।
तब किस की इच्छा करे, किस को परे हटाइ ॥१११॥
इस तैं सन्त सदा करें, काम सभी निष्काम ।
कर्म विखे हों लीन वुह, निर सङ्कल्प अनाम ॥११२॥
सुध बुध अपनी कर्म में, सन्त सभी बिसराँइ ।
ऐसे निर मम भाव में, आतम दरशन पाँइ ॥११३॥
जब जागें थाकें नहीं, उलटा बल ले आँइ ।
कर्म सङ्ग वुह कर्म हों, मुक्त पदारथ पाँइ ॥११४॥
आतम में करता नहीं, कर्म न फल कुछ तास ।
यिह मृग तृष्णा जल सभी, नाम रूप का भास ॥११५॥
आतम जब स्वय ज्ञान में, विचरे पाँउ पसार ।
शून रूप चिन्तन करे, जाँ ते सब सन्सार ॥११६॥
जब आतम ध्यावे यिही, "कुछ नहिं मोर सिवाइ" ।
तब "कुछ नाही" "रूप" बन, मोह में ताहिं फँसाइ ॥११७॥

दोहा

इस ही मिथ्या ज्ञान के, कर्मादिक हैं छाय।
जैसे झूठा ज्ञान है, तैसे कर्म सुभाय ॥११८॥

मोक्ष उपाय

दोहा

ताँ ते चञ्चल जगत को, अर्जुन, सुपना मान।
इस में राग अर द्वेष को, पागल पना पछान ॥ ११६ ॥
इस रीती से धार तू, समता रिद के माँहिं।
काहेते समता बिना, मोक्ष वाट को नाँहि ॥१२०॥
नाम रूप की भ्रान्त को, बन्धन बोलें सन्त।
इन में सम वृत रहिन को, ही वुह मुक्त कहन्त ॥१२१॥
जब समता अमृत हुआ, अन्तर बाहिर पूर।
तब यिह नाटक जगत का, नासे जैस कपूर ॥१२२॥
अपना बन्धन आप ही, काटे है यिह जीव।
बन्धन से वुह जीव है, नहि तो आतम सीव ॥१२३॥
जब दूसर की दृष्ट को, मन से डाले धोइ।
तब उस बन्धत जीव का, सङ्कट जाय विलोइ ॥१२४॥
बन्धन को रस्सी नहीं, नाँ है बन्धन कूप।
"बन्धन" "भ्रम है द्वैत का", "सम वृत" "ब्रह्म स्वरूप" ॥१२५॥

जीवन मुक्त अवस्था

दोहा

जो आतम में लीन हैं, सब जा आतम चीन ।
वुह पावें हैं मुक्त को, बन्धन को तज दीन ॥१२६॥
नाम रूप के ज्ञान को, जानो घोर अज्ञान ।
इन को मिथ्या जानना, ही है सच्चा ज्ञान ॥१२७॥
यिह सत दृष्टी पाय कर, द्वैत मैल को धोइ ।
सन्त रिषी जग के विखे, आतम माहिं विलोइ ॥१२८॥
ऐसे ज्ञानी देखते, सब ही को सम भाय ।
नीच् उत्तम की दृष्ट को, आँखों से बिसराय ॥१२९॥
ब्राह्मण हो वा शूद्र हो, गो हो वा हो श्वान ।
ईश्वर हो वा रङ्क हो, ताँ को एक समान ॥१३०॥
भिन भिन नामों के परे, एक् आतम दरसाँइ ।
हर देही के बीच में, हरि का दरशन पाँइ ॥१३१॥
ऐसे निश्चल बुद्ध ही, जानो परमानन्द ।
ऊँच नीच सन्सार में, विचरें होय सुछन्द ॥१३२॥
नहिं फूलें, कुमलें नहीं, तेंह नहिं घाट न वाध ।
जीना मरना एक तेहँ, नहिं तेंह मुक्त न बाध ॥१३३॥
लङ्गोटी में भी फिरें, जैसे राजा होइ ।
ताक न डाले इन्द्र पर, आतम माहिं विलोइ ॥१३४॥

दोहा

बूखे हैं तो भी नहीं, रञ्च धरें वुह याच ।
कुष्टी हैं तो भी नहीं, बोलें दुख का वाच ॥१३५॥
सर्व अवस्था में रहें, मुदता का वुह भान ।
कोई भी वस्तू उन्हें, आतम बिन नहिं आन॥१३६॥

योगीश्वर लक्षण

चौपाई

ब्रह्म आहिं, अर्जुन, अद्वैत । ताँ ते छल ही मानो द्वैत ॥
जो जन दुबधा सकल भुलावें । जीवन मुक्त वुही कहिलावें ।१३७।
जिस के मन में नाँहि गिलानी । पायो उस ने पद निरबानी ॥
चित चञ्चल को थामा जिस ने । शाँत पदारथ पाया तिस ने ।१३८।
जो जन आतम बल उपजावें । सर्व अवस्था में सुख पावें ॥
इच्छा उन को विपद समान । खावे बल अर तेज् अर मान ।१३९।
इष्ट पदारथ पाय न फूलें । कष्ट विखे नहिं दृढ़ता भूलें ॥
सम बुद्धी निरमान अड़ाल । सेवा सब को दें बिन मोल ।१४०।
प्रेम सहित वुह सब को देवें । तन मन धन कर सब को सेवें ॥
कोमल चित अर पर उपकारी । जत सत धारी अर तप धारी ।१४१।
मृग वत मानें यिह सन्सार । चिन्ता शोक् अर दुख भण्डार ॥
आतम में राखें अस्थान । निश दिन होवें समता वान ।१४२।
नाम रूप को जो जन चाहे । पछतावा तिस के कर आए ॥
पछतावा जाँ ते है सून । नाम रूप ताँ ते है सून ॥१४३॥

चौपाई

इस विचार को योगी धार। तर जावें दुस्तर सन्सार॥
विषय लालसा त्यागें सारी। अति गम्भीर बनें मन मारी।१४४।
ऊँच अर नीच लगें रस दाई। सब में आतम एक समाई॥
जिस में लीन बने जो कोई। उस ही में उस को रस होई।१४५।

भोग दूषण

चौपाई

"शोक" बिना कुछ "भोग" न लावे। भोगी चिन्ता लज्जा पावे॥
भोगी का मन निश दिन चञ्चल। भोगी पावे सङ्कट का फल॥१४६॥
भोग रोग की खानी जानो। दुख अर कष्ट इसी से मानो॥
विषय भोग कर देवे फोग। विषयी पाइ न कबहूँ योग॥१४७॥
जो उपजे अर नासे जोई। वुह, अर्जुन, केवल "छल" होई॥
ऐसी चञ्चल जाँ की नीत। कैसे स्वस्थ रखे वुह चीत ?।१४८॥

आतम स्थिति वान

चौपाई

याँ तें जो जन ढूँढ़े शाँत। धारे उपरत अर एकाँत॥
समता को एकाँत बुलावें। जिस से राग अर द्वेष न आवें।१४९।

चौपाई

जिस को सब कुछ आतम जैसा । उस को क्षोभ अर टण्टा कैसा ?।
ताँ को निस वासर एकाँत । तज दी जिस ने पर की भ्राँत ।१५०।
योगी आतम पूरन मानें । ताँ तें सब को आतम जानें ॥
आतम वत वुह सब को सेवें । कष्ट सहें, पर कष्ट न देवें ॥१५१॥
योगीश्वर जो होवे भाई । पापन की मल ताहिं न राई ॥
द्वैत विखे ही हो सन्ताप । राग अर द्वेष परे क्या पाप ?।१५२॥
रहत प्रसन्न शाँत मद माते । क्षोब रहित मन ताँ का जाँ ते ॥
दुख, पीड़ा, सङ्कट जब देखें । आतम रस उन भीतर पेखें ॥१५३॥
दूशन सारे दूर निकारें । इच्छा की जड़ सकल उखाड़ें ॥
रीस न लोभ न तृष्णा ताँ के । काम न क्रोध न ममता वाँ के ।१५४।
मित्र रखें वुह शाँत अर मौन । वैर करें फिर उन से कौन ? ।
उन पर मूरख करत बुराई । पर उन से सद होत भलाई ।१५५।
सारे यदि योगी से तोरें । तो भी योगी प्रेम न छोरें ॥
हाथी सम मस्ताने चलते । उस्तत निन्दा से नहिं हलते ।१५६।
सब उन पर थूकें वुह माते । चित में रञ्चक शोक न लाते ॥
बालक वत लोकन को जानें । उन की क्रीड़ा थोथी मानें ।१५७।
नीचे बन कर सब को भावें । हाथ जोर कर सर्व रिझावें ॥
हार मान कर सब को जीतें । भोले बन कर आतम रस लें ॥१५८॥
कड़वे को मीठा कर लेवें । जब तेंह प्रेम अहूती देवें ॥
वैरी का खा जावें वैर । जब वुह सेवें ता के पैर ॥१५९॥

प्रेमी और ससरूखी भेद

चौपाई

ससरूखी अर उन में भेद। योगी जाने सर्व अभेद ॥
योगी समता को मुख राखे। ससरूखी इच्छा विष चाखे ॥१६०॥
इक को सब कुछ आतम भासे। दूसर अन्तर द्वैत प्रकासे ॥
इक माने पर को सम आप। दुज को भिन्न भाव सन्ताप॥१६१॥
इक सेवे इच्छा को धो कर। दुज सेवे इच्छायुत हो कर ॥
इच्छा हीन लहे आनन्द। इच्छा डाले दुख के फन्द ॥१६२॥
इस विध ससरूखी की सेवा। भय चिन्ता का लावे मेवा ॥
योगी की जो सेवा पूजा। लावे फल जीवन मुक्ती का॥१६३॥
ऐसे पुरुष जगत में विरले। जो बैठें आतम में थिर ले ॥
लाभ तजें, वुह मागें हान। मान न लें, ढूँढें अपमान ॥१६४॥
मूरख उन को पागल मानें। आलस अर तम का घर जानें ॥
पर वुह वृद्ध पुरुष की न्याँई। बाल वचन पर खिजते नाँहीं।१६५।
हे अर्जुन, तू भी बन ऐसो। आनन्दी योगी है जैसो ॥
मन के राग अर द्वेष निकाल। समता का रस पी त्रय काल।१६६।

ईश्वर कोटी महात्मा

तोटक छन्द

जिन की वृत आतम माँहि घुसी। अर शब्दादिक से आँहि रुसी ॥
मन निश्चल होइ सदा जिन का। *ईश्वर भी ध्यान धरे तिन का॥*

तोटक छन्द

जिन प्रान अपान इकत्र कियो । अर हृदय कमल में ध्यान दियो ॥
सब लीन हुआ फुरना जिन का । *ईश्वर भी ध्यान धरे तिन का* ॥
इन्द्रय मन जास निरोध हुए । जिस के वश काम अर क्रोध हुए ॥
पुन देह अभिमान मुआ जिन का । *ईश्वर भी ध्यान धरे तिन का* ॥
तप माँहि रहें दिन रात डटे । जग के रस लागत ताँहि खटे ॥
समता सूँ प्रेम लगा जिन का । *ईश्वर भी ध्यान धरे तिन का* ॥
मुझ को सद जो "तप" ही समझें । अर ध्यान सदा मुझ माँहिं रखें ॥
हो दान लिए पैसा जिन का । *ईश्वर भी ध्यान धरे तिन का* ॥
जो मुक्त अर शाँत स्वरूप सदा । जिन को विक्षेप न होत कदा ॥
जिन को सम ईश्वर अर तिनका । *ईश्वर भी ध्यान धरे तिन का* ॥
जिन की तृष्णा सब दग्ध भयी । अर ममता जिन की दूर गई ॥
नहिं भावी भूत हुआ जिन का । *ईश्वर भी ध्यान धरे तिन का* ॥
॥१७३॥

इति पञ्चम अध्याय

सङ्क्षेप अर विनय

गायन छन्द

धनवाद है *श्रीकृष्ण* का, अवतार है जो "प्रेम" का ।
यिह कर्म अर सन्यास का, अध्याय आ पूरन हुआ ॥
जग के सुधारन अर्थ यिह, अध्याय मानो वेद है ।
जिस के विखे यिह ज्ञान है, तिस ब्रह्म से क्या भेद है?। १ ॥
करते करम जो आतमा में, लीन हो, वुह सन्त हैं ।
जो द्वन्द पद से पार हैं, मानों वुही भगवन्त हैं ॥
जिन राग अर जिन द्वेष को, दीनों जरा जड़ मूल से ।
तुम ताँहि सन्यासी लखो, वुह मुक्त हैं सब शूल से ॥ २ ॥
सुख चैन अर आनन्द की, रीती जगत में प्रेम है ।
रस की निधी सन्सार में, तप, दान अर व्रत नेम है॥
जो राग में माते, लगायें, बाट परमानन्द के ।
उन को न समझो सन्त वुह, हैं कीट मानो गन्द के ॥ ३ ॥
दुख सुख विखे जो एक हैं, अर हर्ष से हैं पार जो ।
फिर दुख जिन्हें प्यारा लगे, तर जाँइ सो सन्सार को॥
सुख त्याग जो दुख को लगाएँ, प्रेम से निज कण्ठ में ।
वुह पुरुष पाएँ रस सदा, आतम लखें हर गण्ठ में ॥ ४ ॥
जो पुरुष तप पाछे लगे, रहिते हैं दिन अर रात में ।
श्रीकृष्ण कहिते हैं कि वुह, भगवन्त हैं हर बात में ॥

गायन छन्द

"तप" "ब्रह्म" एक स्वरूप हैं, नहिं भेद इन में रञ्च भी।
"तप" "द्वन्द" से जावे परे, अर ब्रह्म भी होवे वुही ॥ ५ ॥
उपदेश इस निरमोल का, *रघुनाथ* सद आधीन है।
इस से रहे वुह निश दिवस, तप ब्रत विखे लिवलीन है।
दिन रात माँगूँ *कृष्ण* से, निर मान हो कर यिह अशीर।
जत सत विखे इस्थित रहूँ, अर तप विखे हारूँ शरीर ॥ ६ ॥

अथ षष्ठ अध्याय

श्री भगवान उवाच

सन्यासी लक्षण

दोहा

फल की इच्छा ते रहित, जो जन कर्म कमाइ।
ताँ को सन्यासी कहें, योगी वुही कहाइ ॥१॥
योगी सन्यासी वुही, जो त्यागे सब भोग।
केवल निर अग्नी पना, नहिं कहिलावे योग ॥२॥
निर अग्नी ताँ को कहें, जाँ में क्रोध न लेश।
निर्मम जो मानुष फिरे, वुह गनिए निर केश ॥३॥
ताँ ते सन्यासी वुही, जो निर्मम अर शाँत।
दूसर का भ्रम जो तजे, सो विचरे एकाँत ॥४॥
मन को जो रोधन करे, वुह योगी कहिलाइ।
इन्द्रय निग्रह जास के, वुह सन्यासी आहि ॥५॥
इच्छा जाँ की जल गई, नाश भई पुन आश।
तृष्णा जाँ की उड़ गई, जिस का मोह विनाश ॥६॥
ऐसो जो सम दृष्ट है, निश्चल परम उदास।
हितकारी निष्कपट जो, योगी सँज्ञा तास ॥७॥

दोहा

साधन जो हैं चतुर विध, मानो योग उपाय ।
पूरन निर हङ्कारता, जीवन मुक्त बनाय ॥८॥
विषयन के मध माँहि जो, राखे जीव अडोल ।
ऐसो उत्तम पुरुष है, सन्यासी निर मोल ॥९॥
राग द्वेष जाँ में नहीं, जाँ में मीन न मेख ।
ऐसे योगी के चरण, अर्जुन, फिर फिर देख ॥१०॥

आतमा वा ब्रह्म ॥ अनातमा वा भ्रम
सन्सार वा जीव = ब्रह्म अर भ्रम

तोटक छन्द

आतम अर ब्रह्म अभेद अहीं । बिन आतम पुन को जीव नहीं ॥
आतम तत है सब जीवन का । भ्रम है कारन नाना-पन का ॥११॥
भ्रम ही से एक अनेक दिसे । भ्रम जावे नाना भाव फिसे ॥
सुपने सम जगत प्रभासत है । जाग्रत् में सर्व विनासत है ॥१२॥
जब आतम "दूसर" को कलपे । इस भ्रम ही से वुह जीव बने ॥
व्यापक ते होइ प्रछिन्न तभी । "दूसर" को मानत भिन्न जभी ।१३।
जब द्वैत निवारन जीव करे । तब आतम में निज ठौर धरे ॥
तब अल्प-पना सब फूंटत है । जावे उस का सब शोक अर भै ।१४।
सङ्कल्प बिना वुह ब्रह्म बने । वुह जीव बना था फुरने से ॥
सङ्कल्प लखो सब बन्धन ही । सङ्कल्प गयो तब मुक्त भई ॥१५॥

तोटक छन्द

सङ्कल्प अहे रिपु आतम का। सङ्कल्प स्वरूप गनो यम का॥
सङ्कल्प गयो तब कौन डरे ? अर कौन जनम ले कौन मरे ?।१६॥
सङ्कल्प निवारन जिन कीने। वुह परमानन्द विखे लीने॥
सद ही वुह शाँत स्वरूप रहें। धीरज से आपद कष्ट सहें॥१७॥
तेंह शरदी गरमी तुल्य अहें। पुन हर्ष अर शोक समान उन्हें॥
अपमान विखे, सन्मान . विखे। उन का निरक्षोभ अडोल रिदे॥१८॥
वुह आतम को पेखें सब में। ताँ ते सब सूँ वुह प्रेम करें॥
मृतका अर स्वरण समान उन्हें। सम अपना अथवा आन उन्हें॥१९॥
नहिं द्वेष उन्हें, नहिं प्रीत उन्हें। सम भासत शत्र अर मात उन्हें॥
जीना, मरना है एक उन्हें। परमातम की सद टेक उन्हें॥२०॥

उपासना विधान

चौपाई

योगी को, अर्जुन, है योग। त्यागे सब ही इन्द्रय भोग॥
निम्न रीत से मन को होरे। वृत को आतम के सँग जोरे॥२१॥
देश इकन्त अर शुच जो होई। ताँ में योगी इस्थित होई॥
कोमल आसन तहाँ बिछावे। तिस पर बैठ पालती लावे॥२२॥
पूरब ओर वदन कर बैठे। द्वै कर घुटनों पर धर बैठे॥
आँखें मूँदे, मूँदे कान। होंट मूँद कर धारे ध्यान॥२३॥
इन्द्रय हिलें न आसन खिसके। प्रान कला बस में हो तिस के॥
मेरू दण्ड तीर की न्याईं। सीधा ऊँचा डोले नाहीं॥२४॥

चौपाई

छाती उभरी, ठोड़ी अन्दर । इस विध बैठे अकड़ जकड़ कर ॥
नाक नोक पर ध्यान टिकावे । लोकन ओर न इत उत ध्यावे ॥२५॥
अन्तर ध्यान नाक पर लावे । बाहिर दृष्ट न मूल जमावे ॥
बाहिर दृष्ट आँख को तोड़े । थकनी लावे सिर को फोड़े ॥२६॥
किँवा ध्यान हृदय में धारे । किँवा नाभ विखे चित डारे ॥
किँवा भ्रू मध को चित देवे । ब्रह्म रन्ध्र को किँवा सेवे ॥२७॥
इन युक्तन में से को एक । कर अभ्यास बनावे टेक ॥
नियत समय प्रति दिन तेंह सेवे । निर सङ्कल्प अवस्था लेवे ॥२८॥
चित में शाँत, रिदे में सोम । इस विध योगी सिमरे "ओम" ॥
निर सङ्कल्प अवस्था जाँ की । धुन लागे आतम में ताँ की ।२९।
इस विध योगी ध्यान लगावे । इस विध आतम माँहि विलावे ॥
आतम "मैं" में भेद न जाने । "मैं" को निर सङ्कल्प पछाने ॥३०॥
आतम को पुन व्यापक माने । "आतम" "प्रेम" रूप पहिचाने ॥
सब सूँ रल मिल जाना जोई । आतम इस्थित ताँ को सोई ॥३१॥
प्रेम रूप वृत ऐसी जाँ की । जल जावे सब भावी ताँ की ॥
जीवन मुक्त, सहज में वासी । जारे जन्म मरण की फासी ॥३२॥
देह बन्ध तब उन का फूटे । राग द्वेष जब ताँ का छूटे ॥
जगत खेलबा सब लय होवे । जब योगी व्यापक हो सोवे ॥३३॥

दोहा

"भजन" न कहिते "रटन" को, "राम राम अर राम" ।
"निर मम प्रेम" अर "दान" जो, "भजन" तास का नाम ॥३४॥

दोहा

"राम" कहत जो "रम" रहा, अणू अणू के माँहि ।
ताँ ते हर इक वस्त से, "प्रेम", "भजन" कहिलाँइ ॥३५॥
केवल "रटना" "राम पद", यिह नहि "राम" बुलाइ ।
इस "बकने" से कभी नेंह, शाँत पदारथ आइ ॥३६॥
यदि तुमरा वुह 'राम' हो, द्वापर का अवतार ।
तो भी "राम स्वभांव" से, तेरा होइ उधार ॥३७॥
आज्ञा कारी पुत्र बन, धीरज शाँत दिखाइ ।
ऐसो जो हो श्रेष्ठ जन, "राम" उपासक आहि ॥३८॥
"पर" को समझे "आतमा", ताँ सूँ "प्रेम" दिखाइ ।
वुह "सोऽहम" को सिमरता, नहिं तो जीभ थकाइ ॥३९॥
जो सतगुरु के शील को, वर्तें सन्त समान ।
वुह सिमरे है "वाह गुरू", नहिं तो मूढ़ पुमान ॥४०॥
जो जग में वरते सदा, कमल समान अलेप ।
वुह सिमरे है "कृष्न" को, मुख रटना विक्षेप ॥४१॥

चौपाई

"राधा कृष्ना', 'सीता राम' । यिह जानो 'ईश्वर' का नाम ॥
'राधा' वा 'सीता' है 'माया' । 'कृष्न' 'राम' हैं ब्रह्म उमाया ॥४२॥
ईश्वर भी "माया युत आतम" । ताँ ते ईश अर यिह पद हैं सम ॥
'राधा कृष्ना', 'सीता राम' । जब बोलें जन ऐसे नाम ॥४३॥

चौपाई

तास प्रयोजन यिह तुम जानो । "'माया' से निज को भिन मानो ॥
"अर माया को राख अधीन । "माया अर्थ न हो तू दीन" ॥४४॥
जो इस विध वरतें जग माँहीं । उन का साचा सिमरन आँहीं ॥
चित में धारो यिह उपदेश । भजन नहीं है "रटन 'गनेश' "-४५
भजन "राम" के अर्थ विचारन । अर वुह अर्थ शील में धारन ॥
जो नहिं धारे "ओम" अर्थ को । केवल मुख सिमरन बिर्था हो॥४६॥
"सिमरन" कहिये "धारन" को हैं । वुह नहिं सिमरें "रटने" जो हैं ॥
साचा भजन उसी को मानो । जब "विश्नू" "करनी" में आनो॥४७।
जब तुम धारो "सेवा, दान", । तब तुम सच सिमरो भगवान ॥
यिह उलटी है रीत जगत की । "रटने" में ही मानें भक्ती ॥४८॥
'रट रट' कर मुख माला घासे । पर चित में नहिं शाँत निवासे ॥
साचा सिमरन धारो, अर्जुन । जग की रीत लतारो, अर्जुन ॥४९॥
"करनी" में बनियो "भगवान" । "दान अबिध अर प्रेम निधान ॥
मुख सिमरन में नाहीं भगती । प्रेम शील में आँहीं भगती ॥५०॥
"भजन" "दान" बिन ऐसे, भाई । बिन भर्ता जिम तिर्या आही ॥
जिम तिर्या "भरता" बिन साँड । त्यों "सिमरन" "दाना" बिन राँड५१
"तिर्या" "भरता बिन नहिं फलती । "दान" बिना त्यों "सिमरन" थोथी॥
"सिमरन" चित एकाग्र बनाए । अर शक्ती को भी उपजाए ॥५२॥
पर "सञ्चित" को नाँहिं जलाई । अर "आगामी" नाँहिं हटाई ॥
यूँ "मुक्ती" नहिं लावे "भजना" । जिस में केवल होवे "रटना"॥५३॥

चौपाई

सङ्कल्पों को तो बिसमाए। पर "माया" को नाँहिं भुलाए॥
अन्तर तो "एकाँत" बनाए। पर बाहिर नहिं "एक" दिखाए।५४।
जब तक बाहिर लखें न "एक"। "दूई" की नहिं भूलें टेक॥
तब तक आनँद कैसे आई? वैर विरोध कैस उड़ जाई?।५५॥
चिन्त अर शोक अर भय रहि जावें। यूँ मुक्ती हम किस विध पावें?।
ताँ ते केवल "अन्तर ध्यान"। "मुक्ती फल" दायक नहिं जान॥५६॥
इस से "ममता" अर "हङ्कार"। बढ़ता जावे वप मञ्झार॥
"बाहिर शाँत" न आवे कब हूँ। "कर्म जाल" नहिं जावे कब हूँ।५७।
ताँ ते "बाहिर का जो ध्यान"। उस ही में है "मुक्त निधान"॥
"बाह्य ध्यान" है रूप भुलावन। सब ही को आतम ही मानन॥५८॥
प्रेम अर दान क्षमा का धारन। तन मन धन जग अर्थे वारन॥
द्वैत दृष्ट को मूल निकारन। शत्रू भाव रिदय से जारन॥५९॥
इस "बाहिर के भजन" बिनाई। "बन्धन" से नहिं छूट सकाई॥
अर मुक्ती नहिं पावे कब हूँ। "सञ्चित" नाँहिं जरावे कब हूँ।६०।
ताँ ते "दान" बिना जो "ध्यान"। ताँ को, अर्जुन, निष्फल मान॥
"फल" उस को हैं, अर्जुन, कहिते। "सञ्चित" सब जल जावें जिस से६१
अन्तर बाहिर शाँत प्रकासे। मानुष से सब वैर विनासे॥
"साकों" से जो होवें न्यारे। वुह लागें अतिशय ही प्यारे॥६२॥
ताँ ते, अर्जुन, बुध में रखना। "सिमरन", "दान" बिना नहिं करना।
"सिमरन" हो, चाहे नहिं होवे। "दान" विखे "सच सिमरन" सोवे६३

चौपाई

"साचा सिमरन" "प्रेम" अर "दान" । "धीरज", "क्षमा", "शाँत" "निरमान" ।
इस साचे सिमरन बिन "भजना" । समझो ताँहिं अकारथ "बकना" ।६४।
आँख मूँद कर जोइ "समाधी" । वुह तो, अर्जुन, हो निद्रा सी ॥
उस से "चुप" हो उत्ना काल । जितना मन की रखो सँभाल ॥६५॥
पर जब उठ कर जग में वरते । मन, बुध उस को व्याकुल करते ॥
आशा, तृष्ना, चिन्ता, शोक । ताँहिं लगी नहिं रञ्चक जोक ।६६।
उलटा, "जगत" "कल्पना" दीसे । ताँ को, जो उट्ठे "भजनों" ते ॥
ताँ ते अन्तर का जो ध्यान । लाइ न मुक्ती अर कल्यान ॥६७॥
इस से सिद्ध अहे, हे भाई । मुक्ती "दान" बिना नहिं आई ॥
प्रेम अर दान अर धीरज जो हो । सोइ गनो मुक्ती की नाओ ॥६८॥
ध्यान विखे हट से हो योग । धर्म शील से सहजे होग ॥
ताँ ते इस्थित बुध है जोई । साचा योगी होवे सोई ॥६९॥
"राज योग" इस ही को कहिये । "ज्ञान योग" भी बाखें इस के ॥
यिह देवे त्रय काल अनन्द । इस से जीव सदीव स्वछन्द ॥७०॥
धर्म, अर्थ अर काम् अर मोख । इस से सिध हूँ, हो सन्तोख ॥
ताँ ते चेत रखो मम मीत । "दान" अहे "मुक्ती" की नीत॥७१॥
"ममता मारन", "दान" कहावे । "सब कुछ हारन", "दान" बतावे ॥
"पर हित" धारन "दान" सिखावे । "इच्छा" जारन "दान" सुनावे॥७२॥

मध्य अवस्था और आत्मा
देह मध्य और चित स्थिति

चौपाई

वृत को "मध्य भाव" में राखो। "मध" को ही परमातम लाखो ॥
"वप का मध" भी आतम मानो। ताँ में इस्थित शाँत पछानो ॥७३॥
"नाक मूल" से तलक "उपस्थ"। इस धारा में है कूटस्थ ॥
अथवा पीछे "मेरू दराड"। ताँ में करत निवास अखराड ॥७४॥
इस मध मार्ग विखे जो कन्द। ताँ में इस्थित दे आनन्द ॥
याँ ही ते योगी जन जेते। देह मध्य में इस्थिति लेते ॥७५॥
नाक अग्र भी देही माध। बाँटे वप को आधो आध ॥
ताँ में ध्यान अडोल बनावे। प्रान सुषुम्ना माँहि चलावे ॥७६॥
तकड़ी की दण्डी का सूआ। मानो नाक नोक का जूआ ॥
ध्यान विखे जब उस को जो लें। प्रान कला को सम कर तोलें ॥७७॥
इत उत ध्यान डुलावे प्राना। मध्य विखे चित शाँत समाना ॥
जब ही ध्यान मध्य में दीजे। निर सङ्कल्प अवस्था लीजे ॥७८॥
ताँ ते, अर्जुन, जब मन डोले। ध्यान नाक नोक पर जो ले ॥
तब तव प्रान सुषमना जावे। इत उत बहि कर नाँहि डुलावे ॥७९॥
मन होरन का यिह जो मन्त। जानें सब ही योगी सन्त ॥
इस ही को हठ योग पुकारें। बल कर प्राण बीच में धारें ॥८०॥

चौपाई

राग द्वेष के मध्य निवासुन । राज योग की युक्ती, अर्जुन ॥
राज योग जब सिध हो जावे । सहजे प्रान बीच में जावे ॥८१॥
इस दीक्षा को चेते राख । योग शास्त्र का तत यिह लाख ॥
रात दिवस रख यिह व्यवहार । बल कर ध्यान मध्य में धार ॥८२॥
मन अर प्रान इकट्ठे चालें । मन को जकड़ें, प्रान कमा लें ॥
सिद्ध प्रान है योग दुवार । बुद्धी, बल, शक्ती दातार ॥८३॥

स्वास और प्रान भेद

चौपाई

स्वास प्रान में भेद विचार । स्वासन का है प्रान अधार ॥
प्रान कला से वप मञ्झार । होवें स्वासादिक व्यवहार ॥८४॥
प्रान अर स्वासा ऐसे दोई । जैसे पवन अर पानी होई ॥
प्रान हेत है, फल है स्वास । जिम बल हेत, कर्म फल तास ॥८५॥
मन जीतो, प्राना वश होई । प्रान सिद्ध का मन नश होई ॥
प्रान अर मन का एको सार । इक दूसर के हैं आधार ॥८६॥
जो पहिले मनुए को मारे । राज योग पर वुह पग धारे ॥
पर जो प्राण सिधारे पहिले । हठ योगी की संज्ञा वुह ले ॥८७॥
पहिले पीछे का वीचार । पर दोऊ में "मन को मार" ॥
ताँ ते दोनो योगी एक । दोनो की है आतम टेक ॥८८॥

मध्य वर्ती महात्मा

तोटक छन्द

नहिं शाँत लहे कबहूँ वुह जन । भ्रामक नित ही हो जिस का मन ॥
जो रागी हो अर द्वेषी हो । दृढ़ता किस रीत मिले उस को ।८९।
जो राग अर द्वेष विनास करें । वृत अपनी को मध माँहि धरें ॥
अर युक्त अहार विहार रखें । अमृत रस सोई पुरुष चखें ॥९०॥
सब जीव समान लहें वो जन । सब सूँ सम प्रेम रखें वो जन ॥
इस ते नहिं मोह गिलान करें । समता की दृष्ट सदीव धरें ॥९१॥
सद हैं जो मानुष मध वरती । तिन को नहिं हर्ष न शोक कभी ॥
निर्मल बुध तिन की नीत रहे । चिन्ता बिन तिन का चीत रहे ।९२।
इस विध जिन की वृत सोम रहे । योगीश्वर तिस का नाम अहे ॥
वुह मानुष देव समान अहे । उस को ही ब्रह्म स्वरूप कहे ।९३।
सब कर्म समय अनुसार करे । अपने प्रण से अति प्यार करे ॥
सद सहित विचार विहार करे । सञ्जम सूँ नित्य अहार करे ।९४।
नहिं सोवत बहुत न जागत वो । नहि बैठत बहुत न भागत वो ॥
पाले वुह नयम सदा अपना । तोरे नहिं वाक कदा अपना ॥९५॥
सब कर्मन में सञ्जम वरते । खाते, पीते, सोते, करते ॥
निश वासर आतम माँहि बसे । दुख, आंपद, सङ्कट माँहि हसे ।९६।
"मध भाव" अर "आतम" एक गनो । "मध वरती" को "योगी" समझो ॥
सब द्वन्दन बीच बिराजत वो । अर समता से नित साजत वो ।९७।

तोटक छन्द

"सन्धी" ही "ब्रह्म" स्वरूप अहे । "सन्धी" में "परमानन्द" रहे ॥
"योगी जन" "सन्धी" में विचरें । अर "सन्ध्या" इस ही को समझें-९८
ऐसे जन जीवन मुक्त अहें । काहेते आतम युक्त अहें ॥
जो जन उन के अनुसार करे । उन के बल से सन्सार तरे ॥९९॥
ऐसो मानुष योगीश्वर है । जिस की ममता हो जावत खै ॥
"मध वरती" को "निर द्वन्द" कहें । सम दृष्ट. सभी ही सन्त अहें ।१००।

युक्त आहार

तोटक छन्द

उत्कण्ठ गिलानी नाँहि जिसे । भाखत हैं ज्ञानी "युक्त" तिसे ॥
ऐसों का भोजन "युक्त" रहे । अथवा "समता सञ्युक्त" रहे।१०१।
वुह भूख पुकार सुनें केवल । नहिं स्वाद करें उन को चञ्चल ॥
नहिं खाएँ बहुत न थोरो सो । उन को भासे सम यिह अर वो १०२
निर्मम अर सम हो कर खावें । इस विध पाथर भी पच जावें ॥
नित प्रीत गिलान बिना वरतें । अर इष्ट अनिष्ट समान लहें ।१०३।
खाने में भ्रम अर भ्राँत परे । पीने में सन्शय नाँहि धरे ॥
खा कर जो खाए को बिसरे । खाना नहिं ताँहि विकार करे।१०४।
आतम समझें भोजन को सो । चाहे वुह कैसा दुर्गत हो ॥
इस भक्ती से भोजन खावे । तो विष भी अमृत हो जावे ।१०५।
यिह, अर्जुन, "युक्त अहारी" है । ऐसो जन नित "ब्रत धारी" है ॥
नहिं रोग उसे, नहिं कष्ट उसे । नित यौवन, जड़ता नष्ट उसे ।१०६।

ब्रत महातम

तोटक छन्द

ब्रत धारन भी पुन योग्य अहे । ब्रत धारी नित नीरोग रहे ॥
पर नेम अनुसारी ब्रत अच्छा । बिन नेम करे वप को कच्चा ।१०७।
पन्द्राँ वा आठ दिनों पीछे । इक दिन मानुष लङ्घन राखे ॥
इस से वप को विसराम मिले । अर पिछली मैल सभी पिगिले-१०८
देही सुथरी अर शुद्ध बने । नासें सब कारन रोगन के ॥
आमाशय यकृत तीक्षन हों । फिर डट कर काम करें हित सों-१०९
पुन आतम बल भी पुष्ट बने । इच्छा को मानुष तुच्छ गने ॥
दुख को सहिने की शक्त बढ़े । भय अर निर्बलता तास जड़े ।११०।
ऐसे ब्रत में गुण हैं भाई । यिह पूरन वैद, न ले पाई ॥
सब रोगन को चाटे ऐसे । दुरगन्धी को सूरज जैसे ॥१११॥
ताँ ते जो युक्त अहार रखे । वुह ब्रत भी नेम अनुसार रखे ॥
उस दिन नहिं कुछ खाना खावे । पर जल इच्छा पूरी कर ले ।११२।
ब्रत के दिन मन वश माँहि रखे । नहिं पाप करे, नहिं द्वेष चखे ॥
पुन दान करे, जितना बल हो । इस विध शोधे सूक्षम वप को ।११३।
यिह चेत रखो तुम हे भाइयो । बिन "दान" न ब्रत कुछ फल लाइयो ॥
तुम "दान" लखो "ब्रत" का भरता । बिन "भरता" "ब्रत" फल नहि करता ॥
यदि बहुत न कर साको दाना । उस दिन का तो दे दो "खाना" ॥
जो ब्रत के दिन तुम नहिं खाया । तेहँ समझो तुम "पर" की माया-११५

तोटक छन्द

पर याद रखो यिह मम सीक्षा । दे कर तुम भूलो "दान" सदा ॥
नहिं चित में कुछ अभिमान फुरे । नहिं "लेते" पर एह्सान फुरे। ११६।
यिह भ्रम है "तुम 'पर' को देवो" । तुम ही को आवे, जो देवो ॥
"देना" तो होत "बना रखना" । "देने" को नहिं "हानी" लखना ११७
घर में तो इक दिन चोर परें । बङ्कों में भी घाटे होवें ॥
पर "दान" लखो तुम ऐसो बङ्क । जाँ को लागत नहिं रञ्च कलङ्क ११८
मर जावो तो पैसा खासा । मिल जावेगो मासा मासा ॥
नहिं लिखत पढ़त उसकी चाह्ये । इस पे न कचैह्री में जाइये ।११९।
लेने वाला स्वय ही ढूँढे । अर मिन्नत से सब कुछ दे दे ॥
पुन उस की जोइ "असीसा" थी । वुह "सूद" बने "असली धन" की १२०
जैसा बल होत "असीसा" का । उत्ना पैसा भी बढ़ जाता ॥
इस रीती इक से लाखूँ हो । जो कुछ तुम जग में दान करो-१२१
अब जो कुछ हम खाते जग से । वुह पिछ्ले हमरे "दान" किये ॥
अर अब जो कुछ् हम "दान" करें । उन के फल आगे जाय मिलें-१२२
जग का कुछ भी नहिं साथ चले । केवल चालें जो "दान" किये ॥
ताँ ते सफले सो पैसे हैं । "पर" सेवा पर जो खर्च करैं।१२३।
जित्ना तुम "दान दिया" भूलो । उत्ना तुम "मूल" बढ़ाते हो ॥
है "दान बढ़ाने" का मन्तर । "भूलो उस को तुम 'देने' पर" ।१२४।
"जग के रिन" अर "दानी के रिन" । उल्टी रीती से इन को गिन ॥
वुह चेत रखे से अधिक बने । यिह भूले से दिन दिन बढ़ते।१२५।

तोटक छन्द

इस जग में समझो "लाभ" उसे । जो तुम ने "दान" विखे ख़र्चे ॥
दूसर जो ख़रच भया तेरा । वुह सब "नुक़्सान" हुआ तेरा १२६
जो स्याने पुरुष अहें जग में । वुह अधकी धन को "दान" करें ॥
लाखों नहिं छोरें "सुत" के हाँ । जिस से वुह होवें नेष्ट महाँ ।१२७।

युक्त व्यवहार

तोटक छन्द

पुन योगी युक्त विहार रखे । व्यवहार समय अनुसार रखे ॥
हर कर्म विखे रस ले ऐसा । बेटे को मिलते हो जैसा ॥१२८॥
लय हो जावे जब काम विखे । तब आगा पीछा सब बिसरे ॥
रस मात्र बसे बुद्धी में तब । सङ्कल्प विकल्प मरत हैं सब।१२९।
यिह, अर्जुन, युक्त विहार अहे । आतम रस का भण्डार अहे ॥
विवहार करे योगी इतना । भोजन छादन लावे जितना ।१३०।
सादा खाना, सादा पीना । सादा कपड़ा, सादा जीना ॥
नहिं लैश उटाट धरे योगी । नहिं सोचे "आगे क्या होगी"-१३१
विवहार "सुधारन" अर्थ करे । साचा तोले, साचा उचरे ॥
नहिं खोट रखे मन में रञ्चक । आतम ही समझे शत्रू तक ।१३२।
ऐसे को "युक्त विहार" कहें । जाँ में समता सन्तोष रहें ॥
पुन राग अर द्वेष नहीं जाँ में । हो युक्त विहार सभी ताँ में॥१३३॥
कैसा ही नीच न हो कर्मा । रस ताँ में हो उत्तम जितना ॥
ऊँचा नीचा दो रूप अहें । आतम एको है दोनो में ॥१३४॥

तोटक छन्द

इस विध योगी बुध में समझे। नहिं प्रीत करे न गिलान करे ॥
आगे जो काम परे उस के। रस कुराड उसी में वुह समझे।१३५।
कर्ता अर कर्म क्रिया भूले। आतम में बुध को लीन करे ॥
ऐसी युक्ती से जो कर्मा। मानो उस को, अर्जुन, धर्मा।१३६।
इस रीती से योगी जग में। विवहारों में भी युक्त रहें ॥
करते, लरते, पीते, खाते। वुह भजन विखे समझे जाते।१३७।

परम आनन्दी योगी

चौपाई

जो सङ्कल्प विकल्प निवारे। अर आतम वत सर्व निहारे ॥
जा की इच्छा सब मर जावे। योगीश्वर सोई कहिलावे ॥१३८॥
योगी की वृत मूल न डोले। चाहे ईश्वर सब कुछ खो ले ॥
परम अडोल ज्योत हो जैसे। प्राण धार योगी की तैसे ॥१३९
शाँत अर सोम रहे मन जाँ का। गद गद मङ्गल चेह्रा ताँ का ॥
जाँ को सुख आतम में केवल। कैसे दुख से होवे चञ्चल ?।१४०॥
मन मारन का जो रस लेवे। इच्छा को वुह कैसे सेवे ?।
इन्द्रय दमन जास हो धन्धा। क्यों माँगे वुह और अनन्दा?१४१।
जिस को निग्रह रस आ जावे। वुह क्यों विषयन पाछे धावे ?।
जगत पदारथ है छिन वासी। चिन्त अर शोक भरे दुख रासी-१४२
विषय न काहू को तृप्तावें। भोगी नित भूखे रहि जावें ॥
मन जीती ऐसो रस पावे। जाँ की उपमा सोच न आवे।१४३।

चौपाई

वीर अहें जो मन को मारें। रूप वासना सकल निकारें ॥
भोगन से भोगे नहिं जाएँ। विषयन ओर न दृष्ट लगाएँ।१४४।
तिन को दुख रञ्चक नहिं भासे। आपद में आनन्द प्रकासे ॥
मन निग्रह को समझें अमृत। इस को पी पी कर फूलें नित-१४५
आपद सूँ हित प्रीत लगावें। परमानन्द इसी से पावें ॥
अपना आप लखें सब सृष्टी। हान अर लाभ विखे सम दृष्टी-१४६
भूख मरें तो भी नहिं दीने। कुष्टी हों तो भी रस भीने ॥
मारो तो भी वुह हँस देवें। दुख में धीरज का रस लेवें।१४७।
कोई वस्त न खेंचे ताँ को। ऐसा ताँ का तृप्त रिदय हो ॥
देख न दूसर को वुह रीसें। नित ही राजन राजा दीसें।१४८।
लङ्गोटी जितना नहिं लीड़ा। तो भी उन का मन बिन पीड़ा ॥
रोटी को आटा नहिं आवे। तो भी योगी नहिं कुमलावे।१४९।
धीरज उन का परम अपारा। कष्ट उन्हें लागे अति प्यारा ॥
जब वुह दुख से प्रीत लगावें। ता में अनमोलक रस पावें।१५०।
योगी ऐसे पुरुष कहावें। जो समता में काल निभावें ॥
परम अडोल रहें निर्मम जो। वरतें सञ्जम और नयम जो-१५१
तृप्त, थकित, विचरत एकाँत। निश वासर बरसावें शाँत ॥
बिसरें सकली तात पराई। सब ही सूँ उन की बन आई।१५२।

दोहा

इच्छा सकली त्याग कर, आतम में सन्तुष्ट।
योगी मन निग्रह करे, निरममता को पुष्ट ॥१५३॥

दोहा

धीरे धीरे शाँत पद, पावे निर सङ्कल्प ।
बहुती को चाहे नहीं, दुर दुर करत न अल्प ॥१५४॥
जब ही चञ्चल मन फुरे, रोके तँह तत काल ।
आतम में इस्थित करे, परे न माया जाल ॥१५५॥
जिस का मन उपशम अहे, ताँ को. परमानन्द ।
विषय चिन्त उपजे नहीं, सच मुच ब्रह्म स्वछन्द ॥१५६॥
पाप वृती जल कर भई, राख समा तिस माँहि ।
सेव, दया अर प्रेम बिन, कर्म न ताँ के आँहि ॥१५७॥
नाम रूप के भेद से, जो जन विचरे पार ।
ब्रह्म सङ्ग वुह युक्त हो, लखे न दुख सन्सार ॥१५८॥
दुख सुख जो सन्सार के, नाम रूप ही आँहि ।
वप तक इन की पहुँच है, आतम को नहिं पाँइ ॥१५९॥
ताँ ते जो जन देह से, रहिते सदा अतीत ।
उन को दुख सुख जगत का, होवे नाँहि प्रतीत ॥१६०॥
दुख सुख केवल बदलते, देही का ही ढङ्ग ।
वप के बदले आतमा, तजे न अपना रङ्ग ॥१६१॥
योगी ऐसे ज्ञान से, इस्थित रहें सदीव ।
ताँ ते दुख सुख पार वुह, राखें अपना जीव ॥१६२॥
सब में आतम इक लखें, सब में अपना आप ।
किस को योगी कष्ट दें, किस को दें सन्ताप ?॥१६३॥

दोहा

दुख में भी वुह आतमा, देखें रूप उतार।
किस की वुह इच्छा करें, अर किस को दुरकार ?।१६४॥
चीटी से ब्रह्मा तलक, जब परखें वुह एक।
किस से हो तब भय उन्हें, अर किस की हो टेक ?।१६५॥
ऐस अवस्था जानिए, योगी की दिन रात।
निरभय, निरचिन्ता, अफुर, अर निरमान अघात ॥१६६॥
जो मूरख देते अहें, दूसर को दुख ताप।
वुह दुख उलटें उन्हीं पर, दूसर में भी आप ॥१६७॥
जैसे मानुष सुपन में, मारे पर को थाप।
जागे जब अश्चर्य हो, पीड़त हो वुह आप ॥१६८॥
तैसे माया सुपन में, इक हो नाना भान।
जिस से मूरख भूल कर, निज को मारे बान ॥१६९॥
इस रीती से कर्म फल, की जो है मरयाद।
वुह भी "तत्त्वम् असी" का, अर्जुन, है अनुवाद ॥१७०॥
यदि दूसर आतम नहीं, क्यों इक दूज मिलाप।
क्यों पर को दुख देन से, सङ्कट देखे आप ॥१७१॥
हे अर्जुन, इस रीत से, "तत्त्वम् असी" चितार ?।
इस निश्चय से पाप सब, मन अपने से डार ॥१७२॥
मुझ को सब में देख तू, अर सब को मुझ माँहि।
ऐसा निश्चय धार कर, इस्थित चित हो जाँइ ॥१७३॥

दोहा

जो आतम थिर लेत हैं, आतम तजे न ताँहि।
नेंह वुह आतम तज सकें, बिन आतम क्या आँहि?।१७४॥
समता में जा थित लहैं, देखें सब में आप।
ऐंसे योगी मुक्त हैं, उन से हो नहिं पाप ॥१७५॥
दुख में अथवा सुख विखे, जो इक ही रस पाँइ।
ऐसो दुर्लभ पुरुष ही, योगी महा कहाँइ ॥१७६॥

अर्जुन उवाच

दोहा

हे *मधुसूदन* तोहि हो, वारम्वार नमाम।
तुम समता अवतार हो, सङ्कट मोचन राम ॥१७७॥
हे सद्गुरु समझूँ नहीं, कैंसे समता आय।
देखत हूँ जब चीत का, चञ्चल रूप सुभाय ॥१७८॥
मन निग्रह ऐसा लखूँ, दुस्तर अर दुर साध।
जैंसे अतिशय कठिन है, अन्धेरी का वाध ॥१७९॥
नाम रूप ऐसा अहे, प्रबल महा छल वान।
इन को तुच्छ स्वरूप किम, समझूँ, हे भगवान ॥१८०॥
ऐसी युक्ती मया कर, खोलें, ब्रह्म स्वरूप।
जिस के धारन से लखूँ, सब को आतम रूप ॥१८१॥
नाम रूप सन्सार का, झूटा छल उड़ जाइ।
मन चित बुध हङ्कार सब, आतम माँहि समाइ ॥१८२॥

श्रीभगवान उवाच

दोहा

निर सन्शय, अर्जुन, अहे, मन चञ्चल दुरसाध ।
पर सम्भव है तास का, रोधन अथवा बाध ॥१८३॥
धीरे धीरे यतन से, मन वश में आ जाइ ।
जब बुध में वैराग का, अङ्कुर आन समाइ ॥१८४॥
विषय भोग का फल जभी, समझे पश्चात्ताप ।
प्रानी मन की दौर पर, अतिशय करत विलाप ॥१८५॥
इस पर लञ्जा वान हो, जब भोगों को ध्याइ ।
छिन छिन बोध् अर यतन से, चञ्चल भाव नसाइ ॥१८६॥
इस रीती से समझिये, "ज्ञान" तथा "वैराग" ।
और निरन्तर "यतन" से, मर जावे मन काग ॥१८७॥

अर्जुन उवाच

चौपाई

हे *मधुसूदन कृष्ण मुरारी* । तोर कृपा पर हूँ बलिहारी ॥
समझ लिया मैंने, हे तात । कैसे मन होवे बिसमात ॥१८८॥
अब इक सन्शय मोहि सितावे । भय दायक जो दृष्टी आवे ॥
धार कृपा यिह सन्शय मारो । चित में शाँत अमी रस डारो ।१८९।
यिह फुरना चित मोर जड़ावे । योग पतित क्या भावी पावे ॥
चित में शुभ इच्छा जो राखे । पर मन वश जो कर नहिं साके १९०

चौपाई

रहि जावे जिस योग अधूरा । शील प्रेम जामें नहिं पूरा ॥
ऐसो मानुष क्या गति पावे । ऐस दशा में जब मर जावे ॥१११॥
ऐसो चञ्चल मन जिज्ञासी । शरधा जाँ मे पूरन वासी ॥
क्या वुह भ्रष्ट नष्ट हो जावे ? क्या वुह ठौर कभी नहिं पावे।११२।
यिह सन्शय चित मेरा छेदे । मन मेरे को अति यिह खेदे ॥
धार मया यिह सन्श निवारें । तपते चित मेरे को ठारें ॥११३॥

श्री भगवान उवाच

चौपाई

हे अर्जुन, तव भय निर अर्था । शुभ सङ्कल्प कभी नहिं मरता ॥
प्रेमी अर श्रद्धा युत जोई । भव में नष्ट कभी नहिं होई॥११४॥
जितने तक हो जास कमाई । इस शरीर में, अर्जुन माई ॥
उस ते आगे पूरन करता । पुनर्जनम में जब अब मरता॥११५॥
आज चले जो पन्थ अधूरा । कल वुह ता को करता पूरा ॥
इस शरीर से जो रहि जावे । पुनर्जनम में पूरी पावे ॥११६॥
वप का कपड़ा उतरे उतरे । जीव कर्म कब हूँ नहिं बदरे ॥
भाँत भाँत देहों के माहीं । जीव रहे इक, बदले नाहीं ॥११७॥
देह देह में आगे चलता । जीव उन्नती अपनी करता ॥
एक ग्रास इस वप में खावे । दूज तीज आगे भुगतावे ॥११८॥
एक दिवस की जैस पढ़ाई । दूसर दिन सिमरत रहि जाई ॥
अर फिर पाठक पढ़ने लागे । पिछली सन्थाओं के आगे॥११९॥

चौपाई

तैसे एक जनम की करनी । नाँहि बिगारे वप की मरनी ॥
मरना है निद्रा की न्याई । इस सै चिन्तन बिगरे नाहीं ।२००।
जितना मन इस जनम सुधाइये । उतना सुधरा आगे पाइये ॥
उस से आगे होत सुधारा । अगले वप में, अर्जुन प्यारा॥२०१॥
इस रीती से आगे आगे । जनम जनम में, सेवक लागे ॥
इक दिन मन मर कर हो चूरी । सेवक की इच्छा हो पूरी ॥२०२॥
तब वुह पहुँचे मुक्त किनारे । तुरया पद की दृष्ट निहारे ॥
आतम बिन तेंह कुछ नहिं भासे । द्वन्द भाव सकलो ही नासे॥२०३॥
ऐसो को सन्सार न कोई । तीनो काल अफुर है सोई ॥
देह वन्ध ताँ का उड़ जावे । जाँ ते जगत न दृष्टी आवे॥२०४॥
इस म्रयाद को समझो भाई । जाँ ते सन्शय सकल विलाई ॥
त्रास न आवे चित में राई । आस रहे बुध माँहि सदा ही ।२०५।

दोहा

जो जन मन निग्रह विखे, पूरनता नहिं पाइ ।
पर मरने तक यतन को, चित से नाँहि भुलाइ ॥२०६॥
वुह मर कर वैकुण्ठ में, सीधा जावे मीत ।
और वुहाँ आनन्द में, आयू करत वितीत ॥२०७॥
शुभ कर्मों के फलों को, जब लेवे वुह भोग ।
तब पवित्र ग्रिह के विखे, उस का हो सन्योग ॥२०८॥
कहिये तब वुह जनम ले, सन्त ग्रेह के माँहि ।
अथवा योगी कुल विखे, उतपत होवत आँहि ॥२०९॥

दोहा

उतपत हो कर रखत वुह, पिछले वप का ज्ञान ।
जितना मन उस का मुआ, वुह भी उस के ध्यान ॥२१०॥
तब वुह आगे करत है, यत्न तथा अभ्यास ।
जिस से सिधता को लहे, पूरण हो जिज्ञास ॥२११॥
पूर्व जनम के यतन से, बुध ताँ की बलवान ।
सन्सकार पिछले करें, उस को पुरुष महान ॥२१२॥
सहजे ही वुह तप विखे, दिवस रात लग जाइ ।
तप में वुह अमृत चखे, विषय विखे मुरझाइ ॥२१३॥
इस विध से वुह प्रेम युत, आगे आगे होत ।
मन ताँ का चूरण बने, जागे अन्तर ज्योत ॥२१४॥
जन्म जन्म के यतन से, अन्त सिद्ध हो जाइ ।
पाप लेश ते मुक्त हो, योगी ब्रह्म समाइ ॥२१५॥

योगी महिमा

चौपाई

तपी जती अर ज्ञानी सारे । ऐसे योगी पर हों वारे ॥
योगी जगत गुरू पहिचानो । ता को शाँत सरोवर मानो ।२१६।
योगी यत्न बिना निष्पाप । विषय लगे ता को सन्ताप ॥
सहजे ही वुह शुधता राखे । हो पवित्र सद अमृत चाखे ॥२१७॥
ताँ ते योगी बन तू भाई । नाम रूप को मूल भुलाई ॥
आतम में अपनी वृत लाय । सर्व अवस्था में सुख पाय ॥२१८॥

चौपाई

राग द्वेष की जड़ को काट । यिह है शाँत लोक का वाट ॥
जो देखो सो आतम देखो । दुख की जड़ भ्रम ही में पेखो ॥२१९॥
कैसी ही विपदा हो भारी । कुछ दिन में लागे अति प्यारी ॥
प्रीत लगे तब ऐसी ताँ से । त्यागन ताँ का आपद भासे ।२२०।
इस ते सिद्ध अहे मम भाई । दुख सुख में रस है इक साई ॥
दुख सुख हैं दो मन के भर्मा । भर्म निवारन है इक धर्मा ॥२२१॥
जो रस सब वस्तू में आवे । तिस को आतम बोला जावे ॥
काहेते आतम बिन क्या हो । आतम को तृप्ताय सके जो ॥२२२॥
इस आतम में जो सञ्योग । इस ही को बाखें हैं योग ॥
नाम रूप को मृग जल न्याँई । नित ही योगीश्वर दरसाँई ॥२२३॥
ताँ ते, अर्जुन, तप ब्रत धारो । ब्रह्म ज्ञान से कर्म सुधारो ॥
जिस ते तुद में आवे योग । पाप अर दुख से हो विन्योग ॥२२४॥
मुझ को सब वस्तू में देखो । ऊँच अर नीच मोर को पेखो ॥
नाम रूप मम ज्योत छुपावे । राग द्वेष में पुन तरपावे ॥२२५॥
नाम रूप को भूलो जब ही । आतम दरशन होवे तब ही ॥
जब दरशन आतम का भासे । तब ही परमानन्द प्रकासे ॥२२६॥
मैं हूँ, अर्जुन, परमानन्द । मुझ को पाओ होय सुछन्द ॥
जो हों हर्ष शोक ते न्यारे । वुह हैं, अर्जुन, मेरे प्यारे ॥२२७॥
समता में सद ही वुह माते । सर्व अवस्था में मद राते ॥
विषय न ता को खेंचे कोई । विपदा में तिन को रस होई ।२२८।

चौपाई

दुख सुख भरम प्रकासे ताँ को । राग अर द्वेष न भासे ताँ को ॥
तीनो काल रहें आनन्द । ता को सम हैं उत्तम मन्द ॥२२९॥
उलटा कष्ट बिपद को ढूँढ़ें । बूख प्यास का अमृत रस लें ॥
इन में आतम पावें नेरे । मानें सुख अर राग अँधेरे ॥२३०॥
बल समझें सहि जाना योगी । चाहे कैसे कष्टी रोगी ॥
हार मानना उन की जीत । हाथ जोड़ना ताँ की नीत ॥२३१॥
नम्र भूत बिन मान बिराजें । सेवा, दान, तपस से साजें ॥
सब को मारिग शुभ बतलावें । विद्या धन "पर अर्थ" लगावें ।२३२।
हान लाभ में सम बृत जोई । "स्वय" "पर" तँह भासे नहिं कोई ॥
ताला ताली कुछ नहिं राखें । लुटवाने का वुह रस चाखें ॥२३३॥
ऐसे पुरुष योग की खान । नित हैं सुख अर शाँत निधान ॥
परमानन्द अवस्था ताँ की । उन को उपमा दीजे काँ की ।२३४।
देवा देवो सब कर जोरी । गावें इस योगी की होरी ॥
पर योगी इस पर नहिं फूले । सब को मिथ्या लख वुह भूले ।२३५।
धनिया हो वा हो दारिद्री । जाग्रत में हो वा हो निद्री ॥
सर्व दशा में वुह रस भीना । शाँत सुधा से सद तृप्तीना॥२३६॥
वैर विरोध न मन में राखे । सर्व मित्रता का रस चाखे ॥
रिपु को जा कर मुठियाँ देवे । ता का वैर सभी हर लेवे ॥२३७॥
जो जन गाली ताहिं निकाले । वुह उस को मैत्री से भाले ॥
जो जन तिस को धक्का देवे । वुह ता के चरणों को सेवे ॥२३८॥

चौपाई

ऐसे योगी के चरनाई । मम आतम भो सीस झुकाई ॥
ऐसे योगी की गत न्यारी । ईश्वर भी ता पर बलिहारी॥२३९॥
"कुछ नाँहीं" अपना धन माने । "मर जाना" सन्मान पछाने ॥
जिस को मृतका स्वर्ण समान । तिस को हो क्या लाभ अर हान-२४०
जिस को ऐसा वैसा इक सा । उस को यिह क्या हो अर वुह क्या ?।
जिस को धन अर दारिद एको । उस को ईश्वर से क्या भय हो ?२४१।
जिस को सम तृप्ती अर बूख । ऐस करे किस की ससरूख ॥
जिस को जीवन मरना एको । उस को ईश्वर से क्या भय हो ?२४२।
उलटा ईश्वर माया घेरा । निर इच्छत योगी का चेरा ॥
झुक झुक मस्तक टेके आगे । निरधनता का धन सद माँगे॥२४३॥
मैं भी ऐसा योगी मानूँ । ताँ को अपना आतम जानूँ ॥
निश दिन ध्यान धरूँ मैं तिस का । अन्तःकरण गया मर जिस का-२४४
हे अर्जुन, तू भी बन योगी । इन्द्रय जित, मन जित नीरोगी ॥
इस विध शाँत सुधा को पी तू । दुख सङ्कट से ले मुक्ती तू ॥२४५॥

इति षष्ठ अध्याय

सङ्क्षेप अर धन्यवाद

दोहा

इस विध षष्ट अध्याय को, सम्पूरन मैं कीन।
वासुदेव की मया से, मन निग्रह को चीन॥ १ ॥
बार बार वन्दन करूँ, *कृष्ण मुरारी* पाद।
पढ़ सुन कर हित प्रेम सूँ, यिह छटवाँ सम्वाद॥ २ ॥
इस में भगवन यों कहें, जानो परम अनन्द।
मन निग्रह के ही विखे, मन है दुख की फन्द॥ ३ ॥
नाम रूप को मन कहें, नाम रूप है झूट।
झूट अर दुख इक रूप हैं, ता ते मन को कूट॥ ४ ॥
सर्व ब्रह्म तू देख पुन, सब सों प्रेम लगाय।
स्वय पर जान समान तू, निरभय होय निभाय॥ ५ ॥
नाम रूप की खेंच से, उलटी रख निज रीत।
आतम हित ते जो विरुध, लात मार तेंह् नीत॥ ६ ॥
इस रीती से वीर बन, मन राक्षस को मार।
निषकण्टक तू राज कर, मन्त्री मान विचार॥ ७ ॥
नाम रूप के भ्रम तलक, जीव लखे सन्सार।
भ्रम के बिन वुह आतमा, राग द्वेष ते पार॥ ८ ॥
इस अनमोलक भेद को, पाय हुआ *रघुनाथ*।
कृत कृत्य् अर उज्जल मती, तज दीनो मन साथ॥ ९ ॥

दोहा

वन्दन पुन पुन करत हूँ, हो कर बुद्ध सुछन्द ।
प्रेम कुराड अवतार के, पद को जो आनन्द ॥१०॥
यिह छटवें अध्याय का, मानो है सङ्क्षेप ।
नाम रूप छल से करे, मानुष को निर लेप ॥११॥
जो धारे उपदेश यिह, मुक्त रूप वुह आँहि ।
दुख स्वरूप सन्सार से, सहज पार हो जाँइ ॥१२॥

अथ सप्तम अध्याय

श्री भगवान उवाच

चौपाई

हे अर्जुन, जो मुझ को चाहे। अर *कारे* से प्रीत लगाए ॥
उस को देता हूँ मैं ज्ञान। जिस से· मुझ को ले पहिचान ॥१॥
मैं नहिं दूर, निकट मो जानो। वरणाश्रम ते पार पछानो ॥
सब छूटें, मैं छूट न सार्कूँ। सब बदलें मैं हूँ ज्यों का त्यों ॥ २ ॥
मैं नहिं, ऐसा, मैं नहिं वैसा। मैं हूँ नित जैसे का तैसा ॥
रङ्ग जहाँ सब लय हो जावें। वुह मेरा अस्थान बतावें ॥ ३ ॥
इस ही ते मैं हूँ *"घनश्याम"*। *"कृष्ण"* इसी ते मेरा नाम ॥
नाम रूप जाँ रहत न राई। बसत वुहाँ है *कृष्णकन्हाई* ॥४॥
सोच मुझे नहिं पाय सकेगो। मैं आऊँ, जब सोच परे हो ॥
परम पियारा मैं जग भीतर। कोइ न सुन्दर मुझ से बढ़ कर ॥५॥
नहिं मम गुण, नहिं मम अस्थान। प्रेम दया की हूँ मैं खान ॥
याँ ते मैं सत चित आनन्द। सब में सत्ता मात्र सुछन्द ॥ ६ ॥
मुझ ही को परमातम जानो। सब का अपना आप पछानो ॥
अदल बदल में जो है एको। सब का आतम समझो सोई ॥ ७ ॥
सुक्षम हो कर जगत सहारूँ। मानो "गोवर्धन" सिर धारूँ ॥
जो इस रीत मुझे पहिचाने। *केशव* को सोई जन जाने॥ ८ ॥

चौपाई

पुरुष सहस्र विखे इक कोई । तप कर जिस को सिधता होई ॥
इन में से फिर कोई एक । "मुझ आतम" की लेवे टेक ॥ ९ ॥
मम "आतम" पहिचाने सोई । "मन" अपने को मारे जोई ॥
जो पहिचाने, बाख न साके । वाणी नाम रूप को बाखे ॥१०॥
मैं अतिशय मीठा, रस भीना । मुझ को पाना अमृत पीना ॥
जो मुझ को इक वारी पावे । उस से फिर मम प्रेम न जावे ॥११॥
मेरे रस से पृथ्वी घूमे । मेरे रस से सूरज चूमे ॥
ऋषि मुनि मेरे रस में मूए । योगी मम रस में लय हूए ॥१२ ॥
मेरे रस बिन रस नहिं कोई । नाम रूप रस विष वत होई ॥
मेरे रस को बाखें "प्रेम" । प्रेमी को नित शाँत अर क्षेम॥१३॥
जाँ ते मैं हूँ सर्व वियापी । मुझ से रहित नहीं तिनका भी ॥
ता तें सब सूँ हित अर प्रेम । मेरी पूजा का है नेम ॥१४॥
जो सब में मुझ को पहिचानें । अथवा आतम सब में मानें ॥
केवल उन को मेरा ज्ञान । वुह आनन्दी, परम पुमान ॥१५॥
जो केवल मम प्रतिमा सेवें । अर हाथन में माला लेवें ॥
पर हों द्वेषी अर हों हिन्सी । उन को बूझ न "मुझ आतम" की १६
द्वेष गिलानी माम गिलानी । और निरादर मेरी हानी ॥
पर की निन्दा मेरी निन्दा । पर की हत्या मेरी हिन्सा ॥१७॥
यिह तत बोध रखे जो कोई । ब्रह्मानन्द विखे लय होई ॥
चिन्त अर शोक अर काम अर क्रोध । सकलो खा जावे यिह बोध ॥१८॥

चौपाई

ऐसो जन ही है बुध वान । ऐसो पावे तेज अर मान ।।
ऐसो ही जग में अवतार । ऐसो आकर्षण भण्डार ।।१६।।
जिस में रञ्च न होय गिलानी । सुख दुख में जो होय समानी ।।
शत्रू मित्र जिसे सम भासें । अर्जुन, ताँ को ज्ञानी बाँखें ।।२०।।
ऐसो मुक्त फिरे जग बीच । भावें वुह कैसा हो नीच ।।
द्वैत भाव की नासे भ्राँत । जीव बने, अर्जुन, तब शाँत ।।२१।।
राग द्वेष के टूटें बन्धन । द्वैत भाव का मूआ जब मन ।।
"मन" ही "जीव" प्रछिन्न बनावे । मन ही सब को भिन्न बनावे ।।२२।।
जो इस विध भिनता को भूलें । अर यूँ सर्व दशा में फूलें ।।
वुह ही जानें सर्व वियापी । मेरा ज्ञान लखे बुध उन की ।।२३।।
ऐसो जावें मुझ पर वारी । अर मैं हूँ इन पर बलिहारी ।।
मैं उन में वुह मुझ में मानो । उन में मुझ में भेद न जानो ।।२४।।

माया स्वरूप

चौपाई

नाम रूप को समझो माया । नाम रूप है भ्रम तें आया ।।
ताँ ते नाम रूप सन्सार । मानो भ्रम ही का विस्तार ।।२५।।
देश काल वस्तू हैं माया । अर यिह तीनो बुध की छाया ।।
इन ते रहित न बुध की टेक । ताँ ते "बुध' अर "माया" एक ।२६।
देश काल अर वस्तू तीनो । नाम रूप इन ही के चीनो ।।
ताँ ते तुम दो मत नहिं मानो । नाम रूप अर देशादिक को ।।२७।।

चौपाई

सुपन समान अहे यिह माया। जाँ ते परिणामी सब काया ॥
जो अब ऐसे अर तब वैसे। उस "छल" को "सत" कहिये कैसे-२८

अधिष्ठान स्वरूप

चौपाई

मैं हूँ माया का आधार। अर हूँ मायातीत अपार ॥
माया मेरा फुरना जानो। ताँ ते मेरे आश्रय मानो ॥२९॥
माया युत ईश्वर कहिलाऊँ। माया रहित ब्रह्म पद पाऊँ ॥
माया युत हूँ शक्ती वान। माया रहित अहूँ सुन्सान ॥३०॥
"शक्ती" "माया" एक स्वरूप। "शक्ती बिन" है "ब्रह्म" अनूप ॥
"शक्ती" "नाम रूप" बदलावे। "शक्ती" जग में यिही कहावे॥३१॥
"शक्ती" को "निरबलता" मानो। "परछिनता" को "छाया" जानो ॥
यिह है भेद दृष्ट हङ्कार। द्वैत भ्राँत का यिह डङ्कार ॥३२॥
ताँ ते "शक्ती" नाहिं "बड़ाई"। "ब्रह्म-पना" इस ते गिर जाई ॥
"शक्ती" को मानो "अज्ञान"। "शक्ती बिन" को "ब्रह्म" पछान।३३।
ऐसो "ब्रह्म" अहे "गम्भीर"। "ब्रह्म नहीं है शूर अर वीर"।
"वीर, शूरता" आँहि विकार। शाँत बिना अर दुख का सार॥३४॥
मम स्वरूप है, अर्जुन, ब्रह्म। निर्माया, निशक्त अगम्म ॥
बिन फुरना, अर बिन हङ्कार। निश्चल, पूरन, रहित विकार ।३५।
ऐसो मैं आतम कहिलाऊँ। शाँत स्वरूप अफुर नित आहूँ ॥
जब माया का फुरना लाऊँ। तब ईश्वर की संज्ञा पाऊँ ॥३६॥

माया की शाखा

चौपाई

दो प्रकार की माया जानो । इक "जड़" दूसर "चेतन" मानो ॥
"जड़" में आँहिं "अनातम" "ऊपर" । "चेतन" में है "आतम" "ऊपर" ३७
फुरने की हैं दोऊ शाखा । फुरना होवे "है" "नाहीं" का ॥
सापेक्षक पद यिह हैं दोई । इक के बिन दूसर नहिं होई ॥३८॥
"जड़" "चेतन" भी "है" अर "नाँहीं" । यिह दो मिल कर जगत बनाँई ॥
देश काल अर वस्तू माँहीं । "है" अर "नाहीं" दो दरसाँई ।३९।
"जड़" को "वप" कहते हैं भाई । "चेतन" "जीव" बुलाया जाई ॥
"जड़" को "प्रकृति" भी हैं कहिते । "चेतन" को "देवी" हैं कहिते ।४०।
इस विध माया के दो भाँत । पर दोनों को समझो भ्राँत ॥
काहेते इन का जो रूप । वुह उड़ जावत है ज्यों धूप ॥४१॥
इन के भीतर है जो सत्ता । आतम नाम कहे हैं उस का ॥
वुह आतम मुझ को पहिचानो । केवल मुझ को ही सत मानो ॥४२॥
जड़ चेतन मुझ में हैं कलपत । ताँ ते यिह नहिं हो सकते सत ॥
इन में है जो भाव विशेश । उस में सतता का नहिं लेश ॥४३॥
बुध तक भासे इन का भाव । बुध सोवे हो जाँइ अभाव ॥
"बुध" है "भेद भाव" की "भ्राँत" । बुध नहिं देवत कब हूँ शाँत ॥४४॥
जो वस्तू बुध से सिध होवे । अर नासे जब सुध बुध सोवे ॥
ऐसी वस्तू "छल" ही मानो । "झूट" "अनातम रूप" पछानो ।४५।

चौपाई

जग "परछिनता" का है दोखा । "परछिनता" कारज "बुद्धी" का ॥
बुद्धी है आतम सङ्कल्प । फुरना लेवे "दूसर" कल्प ॥४६॥
याँ ते कलपत "दूसर" जोई । इस से जग का जादू होई ॥
यिह जादू बुद्धी का दोखा । "दूसर" "दूसर" भासे हर जा॥४७।
ज्ञान नयन से, मेरे भाई । नाना भाव नष्ट हो जाई ॥
तब माया उड़ जावे ऐसे । रवि सन्मुख तम जावे जैसे ॥४८॥

ज्ञान प्रकाश

चौपाई

"ज्ञान" नहीं है केवल "जानन" । पर है "अद्वय आतम" "मानन" ॥
"ज्ञान" "धर्म" दोऊ हैं एक । ज्ञानी भूले एक अनेक ॥४९॥
ज्ञानी "पर" को माने ऐसे । "स्वय" को वुह है जाने जैसे ॥
याँ ते सत वादी नित कोमल । चित में रखत न कोई भी मल ॥५०॥
ज्ञानी राग द्वेष ते पार । ज्ञानी समता का अवतार ॥
हिन्सा करत न ज्ञानी कब हूँ । ज्ञानी हित राखे शत्रू सूँ ॥५१॥
ज्ञानी नित शुभ कर्मी रहिते । "शाँत वान" को "ज्ञानी" कहिते ॥
"मुख ज्ञानी" "ज्ञानी" नहिं होई । "करनी" जाँ में, "ज्ञानी" सोई ।५२।
इस पद पर जब मानुष पौंचे । बन्धन तब टूटें हैं उस के ॥
ज्यो ज्यों आतम दृष्ट बढ़ावे । त्यों त्यों नाना भाव विलावे ॥५३॥

चौपाई

जैसे जैसे "मन" को मारे। जैसे जैसे समता धारे ॥
तैसे तैसे होइ विशाल। तैसे तैसे होइ निहाल ॥५४॥
कर्म भोग जब उस के छूटें। देह बन्ध तब उस के टूटें ॥
जब देही की ऐनक जावे। जग नाटक तब सर्व विलावे ॥५५॥
तब "माया" उड़ जावे सारी। "जीव" बनत है *कृष्ण मुरारी* ॥
दूसर का भ्रम सब ही जावे। "जीव" "आतमा" माँहि समावे५६

पञ्च भूत

चौपाई

प्रकृति पाँच भाँत की भासे। पर सब में इक ज्योत प्रकासे ॥
यद्यपि रूप भिन्न भिन दीसें। पर जो तत्व, एक है सब में ॥५७॥
इस की यों हो जाइ परीक्षा। देखो बदलन इक वस्तू का ॥
भिन भिन रूप वस्त ले जाँ ते। रूप भेद छल होवे ताँ ते ॥५८॥
पृथ्वी, मारुत, तेज अर पानी। नभ अर अन्तः करण चवानी ॥
और अहम्कृत दसवाँ भाई। माया यों बन कर दरसाई ॥५९॥
यिह प्रकृति मेरी कहिलावे। मुझ को नाना रूप बनावे ॥
सर्व भूत ही रूप पछानो। रूप बिना सब मुझ को मानो ॥६०॥
पृथ्वी रूप, तोय है रूप। मारुत रूप, लोय है रूप ॥
इस विध सर्व वस्त है रूप। रूप परे है *कृष्ण अनूप* ॥६१॥
"ठोस" "द्रवित" हो जावें भाई। "द्रवित" "पवन", अर्जुन, बन जाई ॥
और "पवन" मिल जाय "अकासे"। यों "इक" ही "नाना" हो भासे।६२।

चौपाई

नाम रूप बिन कुछ नहिं भूत। नाम रूप बुद्धी के पूत॥
बुद्धी आतम माँहि विकार। यों समझो झूटा सन्सार॥६३॥
"दूसर का भ्रम" बुद्ध बनावे। "बुध" से "जगत रूप" बन जावे॥
ताँ ते "भ्रम" ही "जगत" पछानो। "स्वपन प्रपञ्च" तास को मानो-६४
बुध ते पार जगत का नास। मानो बुध का यिह आभास॥
"द्वैत भ्रमित आतम" है "बुद्ध"। "भ्रम बिन" "बुध" है "आतम शुद्ध" ६५
इस रीती से यिह जो माया। सब ही भ्रम तरुवर की छाया॥
मानो भ्रम का चोला धार। आतम लगता है सन्सार॥६६॥
गुन लक्षन माया का भास। आतम निर्गुण स्वतः प्रकास॥
लक्षण सब जब बुद्ध बिसारे। तब आतम के आइ किनारे॥६७॥
तब बुध होवे आतम मात्र। वप का तब फुट जावे पात्र॥
यिह है मुक्त अवस्था भाई। द्वन्द फन्द से जोइ छुराई॥६८॥
मैं हूँ मानो बीज समाना। मुझ से उपजे यिह जग नाना॥
फूल फूल कर जब कुमलावे। तब यिह जग मुझ माँहि समावे।६९।

आतम वा कृष्ण स्वरूप

चौपाई

मुझ बिन जग में नाहीं सतता। मैं ही हूँ आधार सभी का॥
ऊँचन ऊँच अहूँ मैं भाई। मानो जग पद, मैं अर्थाई॥७०॥
जल में रस मुझ ही को मानो। गन्ध मुझे पृथ्वी में जानो॥
सूर चन्द्र में मैं हूँ ज्योती। मेरी दमक दिखावे मोती॥७१॥

चौपाई

नभ में शब्द मुझे पहिचानो । मारुत में त्वक मुझ को मानो ॥
वेदन में मैं प्रणव अनूपा । बुद्ध विखे मैं ज्ञान स्वरूपा ॥७२॥
सर्व भूत का मैं हूँ बीच । मैं हूँ सब उत्तम अर नीच ॥
सन्यासी में मैं हूँ त्याग । योगी में मैं हूँ वैराग ॥७३॥
तप मैं हूँ तप धारी माँहीं । बल मैं हूँ सन्सारी माँहीं ॥
धीर विखे मैं धीरज प्यारे । वीर विखे मैं वीरज प्यारे ॥७४॥
राजा में मैं तेज प्रताप । माया का आश्रय मैं आप ॥
धर्मी में मैं धर्म स्वरूपा । दानी में मैं दान अनूपा ॥७५॥
इस विध जो कुछ "अच्छा" भासे । मम सत्या तिस माँहिं प्रकासे ॥
सापेक्षक पद "अच्छा" जाँ ते । सब कुछ "अच्छा" मानो ताँ ते ।७६।
न्यून विशेश नहीं आतम में । घाट वाध भासे सब तम में ॥
जिस का तम धोया अधिकाई । उस में मैं दूँ अधिक दिखाई ।७७।
इस प्रकार सब मेरा दरपन । गुण को तज मम पाओ दरशन ॥
दरपन भावें मैला उज्जल । मैं सद ही सब में हूँ निरमल॥७८॥
गुण अर लक्षण मेरे ऊपर । हे अर्जुन, मानो हैं वस्तर ॥
यिह वस्तर माया कहिलावे । इस ही में आतम छुप जावे॥७९॥

तीन गुण और निर गुण आत्मा

चौपाई

यिह गुन तीन भाँत के जानो । सात्विक, राजस, तामस मानो ॥
मम प्रकाश के क्रम यिह भाई । मुझ को न्यून विशेष दिखाई ॥८०॥

चौपाई

सात्विक गुण है उज्जल दरपन । इस में मम हो उत्तम दरशन ॥
राजस गुण हो, अर्जुन, बाँधा । इस में मम दरशन हो आँधा ।८१।
तामस गुण है दरपन कारा । छुपन करे मुझ को वुह सारा ॥
पर मैं सब में एक समान । न्यून अधिक भ्रम मात्र पछान॥८२॥
भ्रम मम "है - ता" को नहिं मारे । मैं हूँ सम हर गुण के पारे ॥
"होना" सब में मुझ को मान । "है - ता" नित इस्थित पहिचान-८३
काटो भावें जाड़ो जिस को । नष्ट नहीं कर सकते तिस को ॥
रूप बदल जावे है ताँ का । खीण नहीं हो ताँ की सतता ॥८४॥
अपना "होना" कोइ न खोवे । सर्व अवस्था में वुह "होवे" ॥
यूँ भी "होवे" वूँ भी "होवे" । ताँ का आतम इस्थित सोवे ॥८५॥
यिह "होना" है "आतम" प्यारा । यिह "होना" है रहित विकारा ॥
"होने" को अग्नी नहिं जारे । "होने" को नहिं तोय बिगारे ॥८६॥
मैं "होना" जैसे का तैसा । मैं नहिं ऐसा और न वैसा ॥
"ऐसा वैसा" नाम अर रूप । "होना" "आतम" आँहि अनूप-८७
सर्व अवस्था से मैं पार । गुन लक्षण सब है सन्सार ॥
मिथ्या जगत नाम रूपाई । अधिष्ठान मैं हूँ इस्थाई ॥८८॥
जैसे जग में फेन तरङ्ग । कैसे ही हो जावें भङ्ग ॥
जल का कुछ भी नाहिं बिगारें । तैसे रूप न आतम मारें ॥८९॥
ऐसो आतम मैं हूँ मीत । विचरूँ इक रस में मैं नीत ॥
उतपत लय से पार बिराजूँ । समता मुदता से नित साजूँ ॥९०॥

शान्ति पद की प्राप्ति

दोहा

जब तक मन समझे नहीं, माया को जञ्जाल ।
तब तक वुह होवे नहीं, निश्चल और निहाल ॥११॥
जब तक इच्छा भाप है, मन इञ्जन के माँहिं ।
तब तक मानुष जगत में, शाँत न लहे कदाँहिं ॥१२॥
कैसे पूरन आतमा, ऊरन से भर जाइ ।
कैसे "सब कुछ" तृप्त हो, "कुछ नाहीं" जब खाइ ॥१३॥
नाम रूप सन्सार है, नाम रूप भ्रम मान ।
इस भ्रम के विस्तार को, सुपन मात्र पहिचान ॥१४॥
भ्रम के पाछे जो भ्रमे, वुह है मुग्ध महान ।
पश्चाताप सहे सदा, हो नित चिन्ता वान ॥१५॥
नाम रूप के मोह को, ताँ ते मूल भुलाय ।
आतम सूँ नित प्रेम रख, शाँत पदारथ पाय ॥१६॥
चञ्चल मन को सोम कर, सन्शय सकल बिसार ।
तर्क गिलानी नास कर, द्वैत भाव को जार ॥१७॥
यिह चाबी आनन्द की, अर्जुन, रख रिद माँहिं ।
जब चाहे तू शाँत को, मन को सोम बनाँइं ॥१८॥
जो जाने सन्सार को, अर्जुन, झूट असार ।
ऐसो योगी पुरुष जो, तर जावे सन्सार ॥१९॥

दोहा

तर जावे सन्सार जो, वुह जन मुझ को पाइ ।
पर मूरख अज्ञात जन, नर्क कुण्ड को जाइ ॥१००॥

चतुर विध सेवक

चौपाई

हे अर्जुन, मम सेवक चार । इन का सुन तू अब विस्तार ॥
इक "प्रेमी", दूसर "निरमानी" । तीज "तपस्वी", चौथो "ज्ञानी"-१०१
इन सब में "ज्ञानी" अधिकाई । जिस का मन नित उपशम आही ॥
मैं उस को लगता अति प्यारा । वुह मेरे आँखों का तारा ॥१०२॥
यद्यपि इन सब ही की भगती । इक इक मुझ को प्यारी लगती ॥
पर इन में जो ज्ञानी भाई । मेरा अपना आप सदा ही ॥१०३॥
मुझ को सब में ज्ञानी देखे । मुझ बिन सब कुछ तुच्छ परेखे ॥
सब सूँ हित आतम सा राखे । छिन छिन अमृत का रस चाखे।१०४।
ज्यों ज्यों द्वैत दृष्ट बिसरावे । त्यों त्यों ज्ञानी मुक्ती पावे ॥
ज्यों ज्यों मन हो उस का विस्मय । त्यों त्यों उस का सञ्चित हो क्षय-१०५
जन्म मरण को फाई टूटे । जब ज्ञानी इच्छा से छूटे ॥
जगत सुपन सब ही उड़ जावे । जब ज्ञानी मुक्ती को पावे ॥१०६॥
देश, काल, वस्तू, सब माँहीं । ज्ञानी मुझ को ही दरसाँईं ॥
राग द्वेष नासे जिस जी से । ऐसा ज्ञानी दुरलभ दीसे ॥१०७॥
शाँत रूप जो निश दिन विचरे । दुख सुख दोनो को जो बिसरे ॥
हर्ष शोक में जो आनन्दी । ऐसो मानुष आँहिं सुछन्दी॥१०८॥

चौपाई

ऐसे जन हैं मुझ में लीने। प्रेम भरे, आतम रस भीने ॥
जीवत जीवन मुक्त बिराजें। मर कर व्यापक हो कर साजें।१०९।

देव पूजा

चौपाई

पर वुह जन जो इच्छा धारी। देवन के जो आँहिं पुजारी ॥
वुह मर कर देवन को जावें। अपने अपने इष्ट समावें ॥११०॥
उन में भी जो प्रेम अर श्रद्धा। उस में भी है रस अमृत का ॥
देव रूप में मुझ को ध्यावें। अपनो इच्छा का फल पावें ॥१११॥
फल पावे सब ध्यान अनुसार। यिह इस जग का नेम चितार ॥
जो चाहो सो ही मिल जावे। यदि कोई वुह ध्यान लगावे।११२।
ध्यान विखे आकर्षण भारी। खेंचे सब कुछ चक-मक वारी ॥
निश्चय कर जानो, हे अर्जुन। ध्यानी पाय सके है हर गुन।११३।

विषय चितवना

चौपाई

पर जो विषयन को नित ध्यावें। वुह इच्छा के बस आ जावें ॥
नित्य रहे तिन का चित चिन्ती। निश दिन ताँ को झूटी गिन्ती-११४
यद्यपि देवन को जो सेवें। अपना अपना फल ले लेवें ॥
पर इच्छा उन की बढ़ जावे। रैन दिवस दुख में तरपावे॥११५॥

चौपाई

यद्यपि सर्व तेज वुह पावें। पर शाँती के निकट न आवें॥
मृग वत बन में धावें धावें। पर जल से प्यासे मर जावें।११६।
भोग थकावें इक दिन भाई। तास गिलानी चित में आई॥
त्याग विखे तब मानुष लागे। निग्रह का सुख उस में जागे।११७।

विषय त्यागी

चौपाई

ऐसो जो जग में थक जावें। अर इच्छा को दूर हटावें॥
वुह हैं योगी, वुह हैं ज्ञानी। वुह हैं, अर्जुन, ब्रह्म समानी॥११८॥
ऐसो मानुष खोभ न पावे। यदि ईश्वर भी सन्मुख आवे॥
काहेते ईश्वर बेचारा। झूटे सुख का है दातारा॥११९॥
ईश्वर को आतम पहिचाने। उस में निज में भेद न माने॥
काया माया सब नहिं चाहे। ईश्वर को ससरूखे काहे ?।१२०॥
हान लाभ जब एकी ताँ को। माँगे काँ को, छोरे काँ को ?।
निर इच्छत निरभय वुह सद ही। नहिं कुम्लावे फूले कद ही॥१२१॥
शाँत कुण्ड है अपने अन्तर। केवल शम है ताँ का मन्तर॥
दम शम से क्यों शाँत न पावें। अन्तर क्यों नहिं दृष्ट लगावें।१२२।
आतम में है शाँत भँडार। आतम में आनन्द चितार॥
आतम में सब तेज प्रताप। आतम परसे जावें पाप॥१२३॥
आतम में जो सन्त निवासे। ता की दुख चिन्ता सब नासे॥
ममता ताँ की जावे सारी। ब्रह्म माँहिं वुह लावे तारी॥१२४॥

चौपाई

ब्रह्म रूप होवे वुह सन्त। पूजें ता को देव महन्त॥
मैं भी ता को दूँ सन्मान। काहेते वुह मोर समान॥१२५॥

मम स्वरूप

चौपाई

अज्ञानी जन मोहि न जानें। गुण अर लक्षण मात्र पछानें॥
माया को समझें परमातम। मन को मानें अपना आतम॥१२६॥
निर सङ्कल्प अवस्था जोई। ताँ को पौंच सके नहिं कोई॥
निर्गुण अर निर लक्षण राम। अर्जुन, यिह लक्षण है माम॥१२७॥
नाम रूप ते परे बिराजूँ। अगम अगोचर हो कर साजूँ॥
माया मेरा फुरना मानो। फुरने को तुम शून पछानो॥१२८॥
मैं हूँ देश काल ते दूर। पर हूँ सर्व माँहिं भरपूर॥
ऐसो जो जन मोहि पछाने। वुह मेरा साचा पद जाने॥१२९॥
जाँ ते हूँ मैं अगम अपारा। ताँ ते हूँ सर्वातम प्यारा॥
काहेते जो अपना आप। ताँ का क्या हो तोल अर माप?१३०।
जान बूझ में जो कुछ आवे। वुह तो नास एक दिन पावे॥
वुह छिन भङ्गुर झूठा मान। दुखमय चिन्ता राश पछान॥१३१॥

इच्छा फल

चौपाई

ताँ ते छिन भङ्गुर की इच्छा। जग में लावे सद ही चिन्ता॥
राग द्वेष ताँ ते दुख दाई। जग में रञ्च न सुख है भाई॥१३२॥

चौपाई

राग द्वेष की जोड़ अर तोड़। लोगन की बुध को दे फोड़॥
रात दिवस भटकें अर भटकें। चिन्ता की खूँटी पर लटकें।१३३।
द्वन्द भँवर में मत को हारें। हर्ष शोक में रिद को फारें॥
दुख सुख के दिन रात चमाते। ऐसे अन्धे जन हैं खाते॥१३४॥
रूप मात्र निज को पहिचानें। रूप फटे तब मृत्यू मानें॥
इस विध पल पल डरते डरते। छिन छिन में वुह जीते मरते॥१३५॥

प्रबोध प्रकाश

चौपाई

पर इक दिन बुध इन की जागे। इन की नाव किनारे लागे॥
आतम की हो तिन को सूझ। आनँद की हो तिन को बूझ।१३६।
तब समझें "हम तो हैं है-ता"। "हम को दुख वा सुख क्या कैहता"?।
दुख सुख नाम रूप बदलावें। "है-ता" का वुह क्या बिगरावें-१३७
जब यिह बोध रिदे में आवे। तब ही शाँत स्वरूप दिखावे॥
तब ज्ञानी बन जावे साखी। दुख सुख"बुध"फेरे नहिं ताँ की-१३८
तब वुह हो "आतम अभिमानी"। सुख अर विपदा ताहि समानी॥
ऐसे को तब लज्जा आवे। दुखसुख जब ताँ को कलपावे।१३९।
सुख को फैंके, दुख को राखे। इस विध, वुह अमृत रस चाखे॥
शोक अर चिन्ता निकट न लावे। इस विध घूरम काल निभावे।१४०।
सोम अवस्था अपनी राखे। शाँत विखे वुह आतम लाखे॥
सर्व अवस्था में गम्भीर। विपदा अर सङ्कट में धीर॥१४१॥

चौपाई

ऐसे ज्ञानी किस से भागें । जब वुह द्वैत नींद से जागें ?।
द्वैत दिसे उन को इक भर्मा । एक लखें वुह भक्षी शर्मा ॥१४२॥
सब को भय मृत्यू का आहे । अथवा सब दुख से हट जाए ॥
पर ज्ञानी को मृत्यू आतम । अर दुख भी ताँ को है तप सम-१४३
ऐसो प्रेम नेत्र जब जागे । ज्ञानी किस विपदा से भागे ?।
मरना जीना सम पहिचाने । दुख सुख को सम कल्पत माने-१४४

निर्भय अवस्था

चौपाइ

यदि जीवे वा यदि मर जावे । आतम का क्या आवे जावे ?।
रूप मात्र में वरते भेद । सतता तो है नित्य अछेद ॥१४५॥
"है-ता" मात्र गनो आतम को । "है" वुह ऐसे वा वैसे हो ॥
मूआ भी "है", जीवत भी "है" । "है" को कौन बिगार सके है ।१४६।
जीवत मूआ दोय अवस्था । आतम निर्गुन इन का ज्ञाता ॥
इस अरूप को क्या विस्मावे । गुण तो गुण ही को बद्‌लावे।१४७।
इस रीती ते योगी ज्ञानी । दूर रखे सब प्रीत गिलानी ॥
सर्व अवस्था में सम रीती । भूले सब भावी अर बीती ॥१४८॥
पाप लताड़े पाऊँ नीचे । प्रेम अर हित से आयू बीते ॥
धन तन हारे दान अर ब्रत में । मन जारे वुह तप अर सत में।१४९।
देह बन्ध ते मुक्ती चाहे । निर्ममता का अमृत खाए ॥
चीत विशाल करे वुह ऐसा । भिन्न न भासे ऐसा वैसा ॥१५०॥

चौपाई

ऐसा मानुष मेरा प्यारा। वुह मुझ में, मैं तास मँझारा॥
वुह है पूरन आतम ज्ञानी। और वुही है ब्रह्म पछानी॥१५१॥
ताँ की बुद्धी निर्मल जानो। ताँ ही को तत वेता मानो॥
आतम और अनातम दोनो। भिन भिन कर देखे वुह इन को-१५२

विचार स्वरूप

चौपाई

आतम को "अधि आतम" माने। अर "अधिभूत" अनातम जाने॥
आतम सङ्ग अनातम लिपटे। "अधिदेवा", हे अर्जुन, उपजे-१५३
"अधि आतम" की है जो छाया। उस ही को बाखत हैं "माया"॥
मिल "अधि आतम" अर "अधि भूत"। "अधि देवा" के देवें पूत॥१५४॥
इन भेदों को समझे ज्ञानी। और रहे नित इस्थित प्रानी॥
सार असार लखे वुह सारा। "अधि आतम" को राखे प्यारा-१५५

यज्ञ स्वरूप

चौपाई

आनन्दी, वैरागी, दानी। तप व्रत धारी अर निरमानी॥
मोर अवस्था चित में राखे। मेरी यज्ञ वृती को लाखे॥१५६॥
हो कर अविनाशी निर माया। धारी मैं ने गिर कर काया॥
ऐस कलेश सहारा मैं ने। जग उपकार नमित्त दया ते।१५७।

चौपाई

दया मया में वुह रस आवे। वप बन्धन की पीड़ भुलावे॥
यिह लच्छन, अर्जुन, मम धारो। पर के अर्थ कलेश सहारो॥१५८॥
तन मन धन पर कारज भेटो। हमता ममता सकली मेटो॥
बल बुध देह दान में वरतो। इस विध पावो तुम अमृत को।१५९।
जाँ ते मैं हूँ "आतम सार"। ताँ ते मैं हूँ "पर उपकार"॥
मुझ को समझो यज्ञ अर दान। मुझ को पावे समता वान॥१६०॥
यज्ञ, दया, सेवा, उपकार। मेरा तत्व यिही वीचार॥
मैं हूँ सद ही दीन दयाल। कोमल चित हूँ और कृपाल॥१६१॥

मरण समय

चौपाई

अन्त समय जो मन को मारे। यज्ञ करे अर सेवा धारे॥
हमता ममता सकल उड़ावे। *वुह मानुष मुझ माँहि समावे*॥
अन्त समय जो इच्छा त्यागे। अर जो रूप मोह ते भागे॥
सब कुछ अपना जोइ लुटावे। *वुह मानुष मुझ माँहि समावे*॥
अन्त समय जो भूले वैर। शत्रू के जो चूमे पैर॥
द्वैत भाव सब जोइ जड़ावे। *वुह मानुष मुझ माँहि समावे*॥
अन्त समय जो समता वरते। सब को सेवे एकी कर ते॥
सब ही में इक आतम ध्यावे। *वुह मानुष मुझ माँहि समावे*॥

चौपाई

पर ऐसी मत दुस्तर आहे। सब को अन्त समय नहिं आवे ॥
जिस का पहिले हो अभ्यास। अन्त समय हो ताँहि प्रकास।१६६।
जो सद ममता माँहिं भ्रमाई। अन्त समय यिह किम छुट जाई ॥
जो जन पर धन को नित खावें। अन्त समय किम दान दिखावें।१६७।
ताँ ते, अर्जुन, कर अभ्यास। दान यज्ञ कर सहित हुलास ॥
ममता को तज, भय को त्याग। इस विध मोह नींद ते जाग।१६८।
जब तू ऐसा त्यागी होवे। निरममता की निद्रा सोवे ॥
अन्त समय तब तेरा ध्यान। सहजे ध्यावे यज्ञ अर दान ॥१६९॥
अन्त समय जब ऐसा तू हो। तब देखे तू मुझ व्यापक को ॥
जब शरीर तव मृत हो जावे। तब तू मेरे बीच समावे ॥१७०॥

इति सप्तम अध्याय

सङ्क्षेप अर प्रार्थना

सोरठा

है सप्तम अध्याय, मानो सूरज ज्ञान का ।
नाम रूप बिसराय, आतम में बिसराम दे ॥ १ ॥
पर उपकार समान, ब्रह्म चिन्त कोई नहीं ।
ममता, वप अभिमान, यिही कलेश अर दुख अहे ॥ २ ॥
एक कर्म में ध्यान, यिही आँहिं आनन्द ।
एक वस्त का ज्ञान, इस ही को आतम कहें ॥ ३ ॥
प्रेम अमृत की खान, द्वेष सदा विष स्वाद दे ।
सेवा, प्रेम अर दान, यज्ञ अर तप बिन रस कहाँ ॥ ४ ॥
यदि चाहे कल्यान, नाम रूप हित त्याग कर ।
सुख आतम में मान, आतम निरमोहता गनो ॥ ५ ॥
त्याग बिना सुख नाँहिं, ग्रहन चिन्त का मूल है ।
त्याग आतमा आँहिं, ग्रहें नाम अर रूप को ॥ ६ ॥
इस विध *केशव* काथ, उज्जल अर्जुन को करे ।
प्रेम युक्त *रघुनाथ*, यिह मानक सब रिद धरे ॥ ७ ॥
इच्छे यिह *रघुनाथ*, और करे यिह प्रार्थना ।
मोख् इच्छू के साथ, भगवद्गीता सद रहे ॥ ८ ॥

———

अथ अष्टम अध्याय

अर्जुन उवाच

दोहा

हे *पुरुषोतम* "ब्रह्म" क्या, क्या "अध्यातम" आँहिं ?
"कर्म" कवन "अधिभूत" क्या, "अधिदेवा" किस माँहिं ?।१।।
कैसे आप "अधियज्ञ" हो, इस शरीर को धार ?
अन्त समय किस विध लहे, मानुष "मोख दुवार" ?।२।।
इन सन्शों को दूर कर, कीजे मोहि निहाल।
मन मेरे को शाँत दें, हे प्रभ, दीन दयाल ।।३।।

श्री भगवान उवाच

दोहा

अजर, अमर, अक्षर सदा, अर जो पूरन मात्र।
तिस को बाखें "ब्रह्म" सब, सर्व सृष्ट को पात्र ।।४।।
ब्रह्म भाव जो "ब्रह्म" का, वुह "अध्यातम" आँहिं।
तिस में जो फुरना फुरे, अर्जुन, "कर्म" कहाँइं ।।५।।
ब्रह्म एक जाने सदा, अपने को अद्वैत।
अथवा करे निषेद वुह, द्वैत भाव है जेत ।।६।।

दोहा

यिह फुरना जो द्वैत का, जास निषेदी होइ ।
इस को "कर्म" कहें रिषी, जग कारन है सोइ ॥७॥
द्वैत बने, पर गिर परे, यिह रीती सन्सार ।
द्वन्द जगत को सिध करे, झूटा और असार ॥८॥
छिन भङ्गुर जो द्वैत का रूपम, ब्रह्म विलास ।
"अधिभूता" तिस को कहें, लक्षण जास विनास ॥९॥
"रूप" मात्र "अधिभूत" है, रूप बिना कुछ नाँहिं ।
रूप पुनः भ्रम मात्र है, "भूत" तभी "भ्रम" आँहिं॥१०॥
जब पड़ जावे ब्रह्म को, अर्जुन, भ्रम की छूत ।
गर्भित हो कर "भूत" तब, जनें "जीव" के पूत ॥११॥
अथवा भ्रम अर ब्रह्म मिल, प्रगटावें "अधिदेव" ।
सेवा ते उतपन हुए, लक्षण ताँ का सेव ॥१२॥
"अधिदेवा" अर "जीव" जो, मानो शब्द प्रयाय ।
जीवन का तत एक है, ताँ ते लक्षण न्याय ॥१३॥
इस शरीर के बन्ध में, मो "अधियज्ञ" पछान ।
"ब्रह्म भाव" को त्याग कर, बन्यो "जीव" मैं आन ॥१४॥
दुख अर कष्ट सहार कर, देऊँ जग को बोध ।
इस ते उत्तम यज्ञ क्या, अर्जुन बुध में सोध ॥१५॥
जो जन अन्त समय विखे, यज्ञ भाव हो जाइ ।
अर इस विध मम तत्व को, चित अन्तर वुह ध्याइ ॥१६॥

दोहा

वुह विस्तीरण होय कर, पूरनता मम होइ ।
परछिनता को तोड़ कर, ब्रह्म विखे लिव लोइ ॥१७॥
मैं सेवा अर यज्ञ हूँ, मैं हूँ प्रेम अर दान ।
मैं नहिं वप वा वर्ण वा, आश्रम का अभिमान ॥१८॥
ताँ ते जो "सेवा" करे, और करे "यग, दान" ।
उस को मुझ में मो़र को, उस भीतर पहिचान ॥१९॥
हे अर्जुन, दिन रात तू, सेवा यग को ध्याय ।
अर इस वृत को धार कर, युद्ध माँहिं चित लाय ॥२०॥
स्वार्थ विना यदि तू लड़े, बल बुध भेट चढ़ाइ ।
यद्यपि जग हत्या करे, तो भी ब्रह्म समाइ ॥ २१ ॥

पुन्य अर पाप

दोहा

पुण्य पाप सब भाव में, कर्म माँहिं यिह नाहिं ।
कर्तव्या तो नींद में, भी हत्या कर जाइं ॥२२॥
परिछिनता की दृष्ट से, जो जन दूज दुखाइ ।
वुह तो इक दिन अवश ही, दूसर से दुख पाइ ॥२३॥
पर जो पर उपकार धर, विस्तीरण हो जाइ ।
ताँ को बाँधे कौन तब, यद्यपि जग को खाइ ?॥२४॥
बन्धन परिछिनता विखे, मुक्ती है उपकार ।
ताँ ते उस को पाप क्या, करता जो उद्धार ?॥२५॥

दोहा

उपकारी जब खर्ग ले, जग को डाले मार ।
इस सेवा अर यज्ञ से, पावे मोक्ष दुवार ॥२६॥
बन्धन में वुह जन अहे, जो है ममता वान ।
जो "भिन" माने आप को, "बाँधा" ता को जान ॥२७॥
जिस की ममता दूर हो, जावे "दो" की भ्राँत ।
वुह तो व्यापक हो गयो, बन्धित हो किस भाँत ?॥२८॥
इस विध जब हत्या करे, उपकारी जग माँहिं ।
हिन्सा से भी तास को, शाँत मोक्ष मिल जाँइं ॥२९॥
यिह हिन्सा नहिं द्वेष से, ताँ का कारन प्रेम ।
प्रेमी को बन्धन कहाँ, ताँ को नित है क्षेम ॥३०॥
प्रेम बनावे जीव को, व्यापक जग के माँहिं ।
व्यापक बन जो कुछ करे, जीव न बाँधा जाँइं ॥३१॥
जीव भाव खोवे सभी, अर्जुन, प्रेमी जोइ ।
आतम में इस्थित बने, होवे निर्गुण सोइ ॥३२॥
जीव भाव है तब तलक, जब तक राग अर द्वेष ।
राग द्वेष जब दूर हो, होवे जीव महेष ॥३३॥
इस रीती से जो पुरुष, आतम सूँ मिल जात ।
वुह जन निश दिन ध्यान में, समझो, अर्जुन भ्रात ॥३४॥
नाम रूप को चीत से, जो जन मूल भुलाइ ।
देह त्याग पर वुह पुरुष, ब्रह्म विखे मिल जाइ ॥३५॥

जीवन मुक्त लक्षण

तोटक छन्द

जिस मानुष का चित ब्रह्म विखे । निश वासर ही लिवलीन रहे ॥
वुह मानुष प्रेम अवतार बने । अर द्वैष सदा विष रूप गने॥३६॥
ऐसो जन जीवन मुक्त अहे । दुख सङ्कट में नित सोम रहे ॥
नहिं वैर रखे न विरोध रखे । निश वासर शाँत अर क्षेम चखे॥३७॥
जब देह तजे निशचल मत हो । भगती अर ज्ञान विखे रत हो ॥
सब प्रान समेट चढ़ावत वो । ब्रह्म रन्ध्र विखे ले जावत वो॥३८॥
इस रीत सरीर उस का बिसमे । अर चञ्चल भाव सभी बिसरे ॥
चित इस्थित हो जग त्याग करे । अर निरमम हो कर सन्त मरे॥३९॥
जब निश्चल हो कर देह तजे । तब सन्त न बन्धन माँहि रहे ॥
हो व्यापक आनन्द माँहि मिले । इन्द्रादिक भी तिन को सिमरे ।४०।

विदेह मुक्त योगी

चौपाई

वुह पद मैं तुम को समझाऊँ । अर वुह विध तुम को बतलाऊँ ॥
जिस से टूटे जग जञ्जाला । उज्जल हो जावे चित काला ।४१।
वुह पद पावें जत सत वारे । वुह पद पावे जो मन मारे ॥
वुह पद ताँ का जो उपकारी । वुह पद ताँ का जो तप धारी ।४२।
ऐसो जन जब मरने लागे । हमता ममता को वुह त्यागे ॥
ज्ञान उजागर रिद में ताँ के । केवल आतम को वुह ताके ॥४३॥

चौपाई

मोह अर ममता जाने थोथी । सर्वातम की देखे पोथी ॥
इक टिक अपना ध्यान लगावे । इत उत रञ्चक नाहि डुलावे ॥४४॥
प्रान अपान समेटे दोई । दोऊ जिस के सिर में सोई ॥
इस विध जग से मूँदे दृष्टी । मृग जल वत जाने यिह सृष्टी ॥४५॥
बृत ताँ की चढ़ती चढ़ जावे । अन्त समय की घटिका आवे ॥
तेज प्रताप ललाटे चमके । ज्ञान प्रभाकर नयने दमके ॥४६॥
धीमा धीमा स्वासा चाले । सुपने की दृष्टी से भाले ॥
इस विध चल जावे सब स्वासा । मृतक होवे वप तब ताँ का ॥४७॥
देही को जब त्यागे योगी । पुनर जनम ताँ को नहिं होगी ॥
विस्तीरण हो ब्रह्म समावे । जग का सुपन न ताँहि दुखावे ॥४८॥

ओम प्रकाश

तोटक छन्द

जब सन्त समावत "ओम" विखे । निर सन्शय वुह तब ब्रह्म बने ॥
मुक्ती तब दासी है तिस की । युक्ती तब हासी है तिस की ॥४१॥
हैं "ओम" अर "ब्रह्म" समान उभे । जो "ब्रह्म" अहे, सो "ओम" अहे ॥
परिपूरन जो जन "ओम" लखें । सुख दुख के पार वुही विचरें ॥५०॥
हर पत्ते से हर तिनके से । हर घट से "ओम" दिखाई दे ॥
हर शब्द उचारे "ओम" सदा । सन्सार सभी है "ओम" भरा ॥५१॥
"अ", "उ", अर "म", यिह "ओम" अहें । अर "अ", "उ", "म", सब वस्तु कहें ॥
सब रूप धरें, अर रूप तजें । इस रीती सब ही "ओम" भजें ॥५२॥

तोटक छन्द

"मैं पूरन हूँ" यिह ब्रह्म कहे। "अर दूसर सब ही झूट अहे" ॥
अर "ओम" विखे भी अर्थ यिही। "मैं हूँ अर दूसर कोइ नही" ॥५३॥
इस बुध को जो दिन रैन धरे। सब सूँ आतम बन प्रेम करे ॥
पुन जो शीतल जग में विचरे। निश वासर "ओम" वुही सिमरे।५४।
जिस को नहिं इष्ट अनिष्ट फुरे। दुख आपद से जो नाहिं मुरे ॥
नित शाँत रहे, उपकार करे। निश वासर "ओम" वुही सिमरे।५५।
अब प्रणव प्रकाश कहूँ तुम को। जिस ते बुध तोर प्रकाशत हो ॥
जग का सब कारन "ओम" अहे। अर धर्म विधी सब "ओम" विखे।५६।
चित दे कर श्रवण करो, अर्जुन। है "ओम" विखे क्या अर्थ अर गुन ॥
जो "ओम" विखे वृत लावत हैं। वुह जन मुझ माँहि समावत हैं॥५७॥
है "आतम" अर्थ "अकार" विखे। अर "रूप" "उकार" उचार करे ॥
"नहिं" अर्थ "मकार" विखे समझो। यूँ "ओम" अर "ब्रह्म" समान लखो५८
"परमातम है अर रूप नहीं"। यिह भाव लखो तुम "ओम" महीं ॥
"मैं ब्रह्म अहूँ नहिं दूसर को"। यिह भाव प्रणव के माँहि लखो ।५९।
इस भाव विखे जन जोइ मरे। वुह मुक्त अकाश विखे पसरे ॥
सब जन्म मरण उस का बिसमे। विस्तीरन हो नभ माँहि रमे ॥६०॥
जो ब्रह्म विखे नित लीन रहें। फुरने जिन के नित "ओम" कहें ॥
आनन्द वुही मुख के उजले। उन की गत मत है बुद्ध परे ॥६१॥
ऐसे मानुष जब देह तजें। हर रोम विखे वुह "ओम" भजें ॥
अथवा गरजें "हम ब्रह्म अहें"। "हम नित ही इस्थित तत्व रहें"-६२

तोटक छन्द

इस विध वुह निश्चल बुद्ध रहें। नहिं रञ्चक दुख का वाक कहें॥
अति सोम अर शाँत पड़े रहिते। पीड़ा को प्यार समा सहिते॥६३॥
वैराग विखे वुह इस्थित हैं। भूलें सब ही मेरी अर मैं॥
उन को नहिं शोक रती भर भी। मरना जीना तंह एक सभी॥६४॥
यूँ शाँत विखे वुह सोवत हैं। जब जग से मृत्तक होवत हैं॥
बन्धन उन के तब फूटत हैं। जब प्रान कला सब छूटत हैं॥६५॥
फूलों की वर्षा हो उन पे। ईश्वर ताँ का धनवाद करे॥
देवा देवी किन्नर सारे। जावें उन ऊपर बलिहारे॥६६॥
वुह ज्योती जोत समाय गये। अर जनम मरन ते रहित भये॥
वुह लीन हुए अब ब्रह्म विखे। वुह मुक्त हुए, सन्सार तरे॥६७॥
वुह जग के इष्ट अर पूज्य बनें। उन को सृष्टी अवतार गनें॥
पुन ध्यान विखे उन के वुह बल। ध्यावो, नासे चित की कलकल।६८।

कर्म भोग

तोटक छन्द

सब जन जो इच्छा के चाकर। पुन पुन जनमें जग में आ कर॥
उत्पत मृत्यू के बन्धन में। कर्मन के फल को वुह पाएँ॥६९॥
जिन को देवें, उन से लेवें। जिन से लेवें, उन को देवें॥
इस विध पुन पुन आवें जावें। लेनी देनी सब भुगतावें॥७०॥
दुख देवें जो, वुह दुख पावें। सुख देवें जो, वुह सुख पावें॥
इस विध जग दरपन की न्याँई। ज्यों देखो त्यों ही दरसाँई॥७१॥

चौपाई

इस से सिद्ध एकता होती । सब में व्यापक है इक ज्योती ॥
इक का कर्म उसी पर उलटे । "दूसर" मन का भ्रम है ताँ ते।७२।
आप करो अर आपे भोगो । कर्त्ता भोगे स्वय कर्मन को ॥
यिह जो नयम जगत में भाई । द्वैत भाव को छल समझाई॥७३॥
फूटा दरपन मानो माया । जिस में दीसे नाना छाया ॥
तू है बिम्ब सभी क़ा भाई । सब रूपन में तू इस्थाई ॥७४॥
याँते जब तू पर को सेवे । उस का फल तू ही स्वय लेवे ॥
पर को जब तू देवे पीर । वुह दुख भोगे तोर शरीर ॥७५॥
सुपन खेल यिह है सन्सार । दीसत एक अनन्त प्रकार ॥
ताँ ते राग द्वेष है भ्राँती । है अद्वैत विखे ही शाँती ॥७६॥
ऐसो ज्ञान उजागर जाँ को । द्वैत न मूल भ्रमावे ताँ को ॥
इच्छा सकली ताँ की नासे । आवागवन न ताँ को भासे ॥७७॥
ऐसो पुरुष मुक्त कहिलावे । मर कर ब्रह्म मात्र हो जावे ॥
जग का खेल सुपन में जोई । ताँ की दृष्ट विखे नहिं कोई ॥७८॥

"कर्म भोग" और "जनम मरण"
केवल मानुष्य योनी की नीती

चौपाई

चेत रखो तुम मेरे मीत । "कर्म नीत" "मानुष" की नीत ॥
मानुष से जो नीचे योनी । "कर्म" फास उन को नहिं होनी ।७९।

चौपाई

जिन को शुम्भ अशुम्भ प्रछेद । ऊँच अर नीचे का जेह भेद ॥
जिन में उपजे बुध विज्ञान । जिन में धर्म अँकुर हो भान॥८०॥
जिन में "कारन देही" उपजी । "कर्म नीत" उन की हो सकती ॥
अर उन ही को आवा गौन । ऐसो बिन मानुष के कौन ?॥८१॥
पसु आदिक नहिं "धर्म सनेही" । पुन उन में नहिं "कारन देही" ॥
बुध उन की पुन नाँहिं विवेकी । कर्म बीज उन में नहिं उगती॥८२॥
पसु आदिक की हो ऊँचाई । अवर नीत से, अर्जुन भाई ॥
उन के जो जीवन के घटिना । उन की बुद्ध जगावें, सजना॥८३॥
जब उन की बुद्धी हो तीक्षन । अर पुन "कारन वप" हो उत्पन ॥
तब वुह "मानुष देही" पावें । अर फिर "कर्म नीत" में आवें॥८४॥
मानुष का जो जीवा आही । "कारन वप" कर आँहिं बँधाई ॥
मरने पर जो चिमटा रहिता । दुख सुख नर्क स्वर्ग के सहिता॥८५॥
इस "कारन वप" के जो बी हैं । पुनर जनम के कारन होवें ॥
बीज अहें मन चित बुध ममता । जिन की जीवों को है हमता॥८६॥
यिह "कारन वप" पसु नहिं राखें । अन्तः करण न फूला उन में ॥
उन का अन्तः करना धुँधला । जीव विखे नहिं ताँ की ममता॥८७॥
किसम किसम के पसु जो आहें । इक इक किसम जीव इक राखें ॥
किसम किसम की बुद्धी एकी । हर इक किसम विखे इक शक्ती॥८८॥
इक इक के यदि देह जुदाई । एक किसम के जीव इकाई ॥
इक की पीर न दूजे पौंचे । खाना भी इक इक को चाहिये ।८९।
पर इक इक का जोड़ तजरबा । सारे किसम विखे रच जाता ॥
यूँ वुह किसम उन्नती करती । यूँ उस की है शक्ती बढ़ती ॥९०॥

चौपाई

यूँ "बढ़ती इच्छा" अनुसार । पसु देही का होत सुधार ॥
सुधिर सुधिर जब ममता आवे । तब हर जीव विभिन बन जावे।११।
तब उन की हो "मानुष देही" । अर तब वुह हो "कर्म सनेही" ॥
काहेते "कारन वप" उपजी । जिस से "मानुष वप" हो उस की-१२
फिर वुह "मानुष वप" नहिं छोरे । मर कर फिर फिर मानुष होवे ॥
ताँ ते करमन का फल जोई । केवल मानुष को ही होई ॥१३॥
साच कहा यिह शास्त्रनं माँहीं । "करम अधीनी" मानुष आँहीं ॥
पसु पक्षी हैं "भोग अधीन" । तास करम 'वप पालक' चीन ॥१४॥
पसु में नाहीं "वैर विरोध" । जाँ ते उपजे ताँ में क्रोध ॥
उन का "मारन धारन" जो है । "पालन और बचावन" को है ।१५।
उस के कर्म 'कला' की न्याँई । "पर इच्छा" ताँ में कुछ नाहीं ॥
याँ तें वुह "फल" से हैं छूटे । "फल" सारे हूँ "वैर वृती" के।१६।
वुह योनी नाहीं अधिकारी । कर्म भोग अर जन्म मरन की ॥
जिस योनी में नाँहिं विचार । धर्म अधर्म अर सार असार॥१७॥
नाँहीं उन में उपज्यो धर्म । जिस से वुह करते शुभ कर्म ॥
जिन को उन के शुभ फल होते । वैसे लेते, जैसे बोते ॥१८॥

उतपत्ति और प्रलय

दोहा

युग सहस्र का दिन अहे, युग सहस्र की रात ।
वुह जन ज्ञानी समझिये जो जाने यिह बात ॥१९॥

दोहा

ब्रह्मा का वुह दिवस है, ब्रह्मा की यिह रात।
दिवस माँहि जग इस्थिती, रात माँहि जग घात ॥१००॥
जब दिन निकले जीव सब, इच्छा वश अर दीन।
देह धार क्रीड़ा करें, आवागमन अधीन ॥१०१॥
अर जब रात्री पड़त है, जीव सभी छुट जाँइं।
युग सहस्र निद्रा विखे, अपना काल निभाँइं ॥१०२॥
इस नीती पर जीव सब, घूमें बारम्बार।
विषयन के आधीन हो, भोगें दुख सन्सार ॥१०३॥
पर जो मानुष ज्ञान से, नित्य अनित्य पछान।
नित आतम सूँ प्रीत रख, राखें बुद्ध समान ॥१०४॥
अर जिस को कोई विषय, खेंच न साके मूल।
इस्थित बुध निश्चल मती, सर्व दशा अनुकूल ॥१०५॥
ऐसो मानुष अजर है, और अमर अव्यक्त।
मर कर पसरे जग विखे, सब जग उस का भक्त ॥१०६॥
जीते जीवन मुक्त है, मूए मुक्त विदेह।
परमानन्द स्वरूप हैं, लखे न मैं तू एह ॥१०७॥
मुक्त बन्ध तेंह एक है, ऊँच नीच तेंह एक।
नाम रूप तेंह तुच्छ हैं, आतम की तेंह टेक ॥१०८॥

आतम स्वरूप

तोटक छन्द

जो नाम अर रूप परे विचरे। अर पुन जो बुद्ध विचार परे॥
सङ्कल्प विहीन विकल्प बिना। समझो तुम आतम नाम उसका

तोटक छन्द

यदि बाल बनूँ, यदि वृद्ध बनूँ। यदि मूढ़ बनूँ, यदि सिद्ध बनूँ॥
इन सर्व विकार महीं "मैं" हूँ। पर सर्व विकार नहीं "मैं" हूँ॥१२०॥
यिह सर्व दशा मैं जानत हूँ। सब ही में मैं कूटस्थ रहूँ॥
मुझ को नहिं कोई बिगार सके। मुझ को नहिं कोइ सँवार सके-१२१

आतम स्थिति वान

तोटक छन्द

इस विध जो "रूप अतीत" अहे। उस को ही "आतम" वेद कहे॥
इस आतम में जो लीन रहें। वुह देव सदा ही ब्रह्म अहें॥१२२॥
नहिं राग करें, नहिं द्वेष धरें। सब काल विखे सम ही विचरें॥
रिपु और सुमित्र समान लखें। नहिं रञ्चक वैर विरोध रखें।१२३।
नित शीतल सोम अर शाँत रहें। निर्चिन्त अडोल अखोब अहें॥
पत्नी बिनसे, यदि पुत्र मरे। उनकी कुछ भी नहिं शाँत हरे।१२४।
यदि शस्त्र कटें उनके वप को। नहिं पीड़ कलेश उन्हें कुछ हो॥
यदि हास विलास करें उन पे। गम्भीर पना उन का न गिरे।१२५।
सम परवत के नित धीर रहें। विपदा, दुख को सम प्रीत सहें॥
सब आश तजें तृष्णा तज दें। निर्धनता का सद ही रस लें।१२६।
ऐसे जन जो निर्द्वन्द रहें। निश वासर ब्रह्म अनूप अहें॥
ईश्वर अर मक्खी एक तिन्हें। मच्छर अर इन्द्र समान लखें।१२७।

तोटक छन्द

निर्भय, निर्खौब, अखराड मदा । निष्काम, न मोह अधीन कदा ॥
कोपीन रखें यदि लीड़न की । तंह रङ्क लगे परमेस्वर भी ॥१२८॥
मम आतम माँहि निवास रहे । हे अर्जुन, यिह मम ध्यान अहे ॥
सब रूप उलङ्घत *कृष्ण* रहे । इस विध वुह परमानन्द लहे ।१२९।
आतम सम सब की सेव करूँ । सब की बुद्धी में ज्ञान भरूँ ॥
उन की मुझ को इतनी चिन्ता । जितनी मुझ को अपनी चिन्ता १३०

भक्ती महिमा

तोटक छन्द

हे अर्जुन, आतम माँहि समा । सब ही सूँ तू हित प्रेम लगा ॥
प्रेम अर भगती पर्याय अहें । भगती में शाँत अर क्षेम रहें ।१३१।
भगती से सब ही रीझत हैं । भगती से ही उर भीझत हैं ॥
भगती से ही भगवन्त बने । भगती से सन्त महन्त बने॥१३२॥
ताँ ते, अर्जुन, तू भगती कर । सब का हित तू अपने उर धर ॥
इस रीत रिझा जग सारे को । यूँ भा तू चीत हमारे को ॥१३३॥
भगतों के काम प्रमान बनें । अर नाम उन के सब लोग जपें ॥
इस रीत वियापक होवत वो । अर ब्रह्म विखे हैं सोवत वो ।१३४।
इतना सन्मान मिले उन को । जिन में भगती अर आदर हो ॥
उन के चरणों पर सीस रखें । उन के पुन स्वेद अर थूक चखें-१३५
अर्जुन भगती है प्रेम विखे । वा है भगती यम नेम विखे ॥
नहिं माला में, नहि पूजा में । जब यिह बिन दान अर प्रेम अहें १३६

ब्रह्म स्थान

तोटक छन्द

नहिं ब्रह्म किसी आकाश विखे। नहिं ब्रह्म किसी बन माँहि बसे॥
नहिं ब्रह्म समुद्र विखे वहिता। नहिं ब्रह्म पहारन में रहिता॥१३७॥
है ब्रह्म सभी, है ब्रह्म सदा। सब रूपन में है ब्रह्म भरा॥
नहिं मानो ब्रह्म बिना कुछ भी। सब उत्तम अद्धम ब्रह्म अही॥१३८॥
इस विध जो सब को ब्रह्म लखे। अर सब ही सूँ हित प्रेम रखे॥
पुन राग अर द्वेष विहीन बने। उस ही को जग में ब्रह्म मिले।१३९।
है योगी वुह जो युक्त हुआ। अर मन जिस का अत्यन्त मुआ॥
सब से, अर सर्व अवस्था से। योगी अति हो हित साथ मिलै।१४०।
हो पुष्प अर विष्ट समान उसे। नहि प्रीती और गिलान उसे॥
है कञ्चन माटी सम उस को। सब कुछ ही है आतम उसको॥१४१॥
समता का पूजन सत्य अहे। केवल सम दृष्टी ब्रह्म लहे॥
खण्डन मण्डन नहिं करते वो। सब ही को ब्रह्म समझते वो।१४२।
जो दूसर के चित को दुख दें। अर अपने को फिर भक्त कहें॥
वुह ब्रह्म वदन पे पैर धरें। अर व्यापक का अपमान करें॥१४३॥
ऐसे जन कपटी दम्भी हैं। ऐसे जन ठग पाखण्डी हैं॥
चित दुष्ट कठोर अहे तिन का। मन चिन्तावान रहे तिन का।१४४।
ऐसे जो ठग नहिं शाँत लहें। उलटा भय शोक अधीन रहें॥
लोगों को धोके माँहिं रखें। अर लज्जा विष दिन रैन चखें।१४५।

तोटक छन्द

ऐसे जो दम्भी भक्त अहें । यम राजा के वुह दण्ड सहें ॥
कुम्भी के बीच वुही तड़पें । अग्नी के बीच वुही फड़कें ॥१४६॥
हैं "ब्रह्म" कहत "सब ही" को ही । इस विध नहिं ब्रह्म परे कोई ॥
जब इक को कोइ गिलान करे । "वुह सब ही" का अपमान करे १४७
"मैं सब ही हूँ" यिह निश्चय हो । जग भीतर हर इक मानुष को ॥
तब "सब" से प्रेम करे ऐसा । अपने से हो सब का जैसा ॥१४८॥
इस को ही भगती योग कहें । इस के बिन मानुष बैल रहें ॥
दुख में अर द्वेष अधीन रहें । निश दिन चाबुक की पीट सहें १४९
मम लक्षण "प्रेम" अहे भाई । ताँ ते मुझ को "प्रेमी" पाई ॥
हे अर्जुन, ताँ ते "प्रेम" कमा । अर परमानन्द विखे मिल जा १५०

मृत्यु काल विवेक

दोहा

अब बाखत हूँ, मित्र वर, हैं क्या क्या वुह काल ।
जब मर कर योगी पुनः, पड़े न माया जाल ॥१५१॥
और कहूँ वुह भी समय, योगी वप को त्याग ।
फिर आवे इस जगत में, जिम निद्रा ते जाग ॥१५२॥
अग्नी, ज्योती, दिन विखे, शुक्ल पक्ष के माँहि ।
उतरायण के मास छे, इन में योगी जाँइ ॥१५३॥
वुह योगी कब हूँ नहीं, फिर इस जग में आइ ।
मरते ही वुह ब्रह्म में, मिल पूरन हो जाइ ॥१५४॥

दोहा

धूम, अँधेरा, रात पुन, कृष्ण पक्ष के माँहिं।
दखनायण के मास छे, इन में योगी जाँइं ॥१५५॥
तिस योगी की आस कुछ, मन भीतर रहि जाइ।
इस ते फिर वुह धार वप, जगत जाल में आइ ॥१५६॥
बाहिर अन्तर ज्योत का, तादातम् सम्बन्ध।
ज्ञान वान तब ही मरें, जब चमकें रवि चन्द ॥१५७॥
अर ग्रीषम ऋतु के विखे, तप्त जगत जब होय।
काहेते तप ज्ञान पुन, इनके सम हैं दोय ॥१५८॥
जब तक इच्छा मैल है, योगी के चित बीच।
तब तक योगी जीव है, ब्रह्म भाव से नीच ॥१५९॥
सूक्षम वप जो दर्प सम, इच्छा का जो देह।
मुक्ती तब तक होइ नाँ, जब तक शुद्ध न एह ॥१६०॥
समता इस वप को करे, उज्जल भान समान।
पर ममता ते होत यिह, मैला ग्रहनी भान ॥१६१॥
इच्छा बिन मानुष मरे, अर्जुन माँहि प्रकाश।
इच्छा युत का होत है, तम के माँहि विनाश ॥१६२॥
इस इच्छा वप अन्ध का, चोला जीव चढ़ाइ।
यिह काला वप तम विखे, थूल देह ते जाइ ॥१६३॥
उज्जल अर काला उभय, यिह दो ही गत आँहिं।
जिन में मुक्त अर बन्ध जन, क्रम से मृत्यू पाँइं ॥१६४॥

दोहा

इस नीती को जानते, योगी जन जग माँहिं।
ताँ तें यतन करें सदा, इच्छा आश नसाँइं ॥१६५॥
जब इच्छा उन की जले, जड़ से, निश्चय जान।
तो ताँ का देह अन्त हो, जब तेजस्वी भान ॥१६६॥
यिह चिन्ता भी रोग है, इच्छा के सम आँहिं।
इस से भी बाँधा रहे, योगी जग के माँहिं ॥१६७॥
ताँ ते योगी सहज में, रहे सदा मन जीत।
जगत नीत आपे करे, पूरी अपनी रीत ॥१६८॥
यज्ञ, दान अर तप विखे, योगी काल निभाइ।
पर योगी कब हूँ नहीं, इन का कुछ फल चाहि॥१६९॥
योगी का फल रस अहे, जो यिह कर्म दिखाँइं।
नाम रूप ते पार कर, आतम में ले जाँइं ॥१७०॥
धन, सामिग्री, पुत्र, वित, आयू और प्रताप।
योगी आगे तुच्छ हैं, छिन भङ्गुर सन्ताप ॥१७१॥
इन की इच्छा धारनी, योगी आगे ऐस।
कीचर अथवा विष्ट को, माँगन होवे जैस ॥१७२॥
इच्छायुत जो तप अहे, अथवा ब्रत अर दान॥
उन में रस रञ्चक नहीं, चिन्ता मय वुह मान ॥१७३॥
इच्छा बिन यिह कर्म जो, ब्रह्म रूप ही आँहिं।
उन में जो आनन्द है, स्वर्ग विखे भी नाँहिं ॥१७४॥

दोहा

ताँ ते योगी जन सभी, इच्छा ते हूँ दूर ।
करते निश दिन कर्म सब, आनँद से भरपूर ॥१७५॥
कर्म विखे वुह लीन हों, द्वैत भाव मिट जाइ ।
करता, कर्म, क्रिया सभी, उन को इक दरसाइ ॥१७६॥
लीन भाव आनन्द है, योगी आगे मीत ।
लीन भाव ही ब्रह्म है, इस को ध्यावें नीत ॥१७७॥

इति अष्टम अध्याय

सङ्क्षेप अर याचना

दोहा

है अष्टम अध्याय में, ब्रह्म ज्ञान विस्तार।
कृष्ण दिखाएँ ब्रह्म को, नाम रूप के पार ॥ १ ॥
जैसे कञ्चन एक है, भूषन बनें अनेक।
तैसे ब्रह्म न बदलहे, जग में रूप विवेक ॥ २ ॥
ब्रह्म नहीं आकाश में, और न वुह कैलाश।
ब्रह्म अहे सब के विखे, सब में ज्योत प्रकाश ॥ ३ ॥
भाव ब्रह्म का यिह लखो, "सब का अपना आप"।
"सब को प्रीतम जानना", यिही ब्रह्म का जाप ॥ ४ ॥
माला फेरे हाथ से, बन बैठे चुपचाप।
पर रिद में धोका धरे, ऐसो कपट न जाप ॥ ५ ॥
सब घट पूरन ब्रह्म है, ब्रह्म बसे सब ठौर।
किस को बुरा बनाइये, किस को बोलें कौर ॥ ६ ॥
जिस को निन्दें अर पुनें, आँहि शिवालय सोय।
यिह निन्दा हो ब्रह्म की, उस बिन अवर न कोय ॥ ७ ॥
ताँ ते चाहिये भक्त को, सब सूँ राखे प्यार।
द्वेष न काहू से करे, द्वैत भाव को जार ॥ ८ ॥
पशु, पक्षी अर कीट पुन, मानुष से सम प्रीत।
सब पर तन मन धन हरे, मोह ममता को जीत ॥ ९ ॥

दोहा

साधू अथवा चोर को, जाने एक समान।
क्रोध न काहू सूँ करे, राखे सब का मान ॥१०॥
दूसर को जो लाभ हो, फूले जैसे भ्रात।
इस रीती सन्तोष में, विचरे दिन अर रात ॥११॥
देवे, देवे, नाँ थके, सुख अर धन सब वार।
पर हित कारन देह भी, कर देवें बलिहार ॥१२॥
यिह पूजन है ब्रह्म का, फल उस का आनन्द।
इस पूजन विन कोइ नाँ, पावे मोक्ष सुछन्द ॥१३॥
द्रोह न काहू सूँ करे, बोले निश दिन साच।
यिह है भगती राम की, और न कीरत नाच ॥१४॥
भूके को जो अन्न पुन, प्यासे को दे तोय।
नङ्गे को दे वस्त्र जो, वुह जन ब्रह्म विलोय ॥१५॥
दो घण्टे पूजा करे, शेष दिवस हत्यार।
लूटे मारे लोग को, यिह पूजा अन्धार ॥१६॥
इस पूजक से हैं भले, हिन्सक ठग अर चोर।
पाप करें, पर डरें तो, कपटी सम नहिं घोर ॥१७॥
साचा पूजक वुह अहे, दम्भ न जिस में कोय।
नम्र भूत हो कर चले, पर हित देही खोय ॥१८॥
कृष्ण भक्त वो पुरुष है, तीन काल में एक।
अर जो नाम अर रूप तज, आतम की ले टेक ॥१९॥

दोहा

पुन मुझ को हर अन्श में, व्यापक देखे जोइ ।
सब सूँ मीठा बोल कर, उन का चीत हरोइ ॥२०॥
ऐसे जन मम भक्त हैं, मुक्त पात्र, आनन्द ।
शाँत रूप उज्जल मती, शीतल और सुछन्द ॥२१॥
ब्रह्म रूप है ब्रह्म विद, दुख से है वुह पार ।
"पर""स्वय"का वुह भेद तज, तर जावे सन्सार ॥२२॥
एसो दुर्लभ रत्न जो, यिह अष्टम अध्याय ।
राखो इस को माथ पर, जीवन ऐस बनाय ॥२३॥
हर शय अपना आतमा, समझो मेरे मीत ।
हर सूँ आतम हित करो, द्वेष भाव को जीत ॥२४॥
सहि जावो, दुख दो नहीं, दे दो, पर नहिं लेउ ।
यिह चाबी आनन्द की, ममता को कर खेउ ॥२५॥
इस चाबी की युक्त जो, माँगे है *रघुनाथ* ।
जिस युक्ती को धार कर, मिल जाऊँ हरि साथ ॥२६॥

अथ नवम अध्याय

श्री भगवान उवाच

दोहा

हे अर्जुन, तव प्रेम पे, हूँ मैं बहुत निहाल ।
तव श्रद्धा को देख कर, काटूँ तेरा जाल ॥१॥
तुद ताँई मैं देत हूँ, ज्ञान और विज्ञान ।
जिस ज्योती से दूर हो, मानुष का अज्ञान ॥२॥
शुभ मारग पर वुह चले, तज दे रीत अशुद्ध ।
द्वेष भाव से मुक्त हो, पावे निरमल बुद्ध ॥३॥
राज ज्ञान इस को लखो, राज गुह्य पुन आँहिं ।
शोधक सब से ऊँच यिह, धर्म बीज इस माँहिं ॥४॥
सुगम रीत यिह धर्म की, आवा गमन छुड़ाइ ।
मानुष को कञ्चन करे, सकले दोष मिटाइ ॥५॥
जो श्रद्धा बिन पुरुष हैं, नहिं सीखें यिह धर्म ।
मो से रहि कर दूर वुह, सेवें असुरी कर्म ॥६॥
श्रद्धा आतम प्रीत का, लक्षण समझो मीत ।
इस के बिन, अर्जुन, कभी, लगे न मो से प्रीत ॥७॥
ताँ ते श्रद्धा युत सुनो, मो से गुप्त् उपदेश ।
सुन कर शाँत रिदे गहो, जावे सकल कलेश ॥८॥

जीव और जगत के उतपत्ती विनाश

चौपाई

सकल सृष्ट जो दृष्टी आवे । सब को मेरा ज्ञान बनावे ॥
निराकार का यिह आकारा । सूक्षम का यिह सकल पसारा ॥९॥
सब ही की जड़ मुझ को जानो । सब का कर्ता मोहि पछानो ॥
सब का हूँ आश्रय आधार । पर मुझ पर कोई नहिं भार ॥१०॥
जिम आकाश विखे है फैली । पवन फिरे इत उत अरबैली ॥
तैसे मम व्यापक के माहीं । सकली सृष्ट कलोल कराहीं ॥११॥
जिम जुगनू स्वय ज्योत निकाले । अर फिर अपने मुख में डाले ॥
तैसे मैं यिह जगत बनाऊँ । अर फिर अपने में ले जाऊँ ॥१२॥
जैसे मानुष सुप्ना भारा । अन्तर से उपजावे सारा ॥
अर जब जागे, स्वय में डारे । सर्व पसारा, सङ्गी सारे ॥१३॥
तैसे इस जग का विस्तारा । है आतम का सुपना सारा ॥
फुरने से यिह उतपत होई । अफुर बने, जग सर्व विलोई ॥१४॥
फुरना मात्र अहे सन्सारा । सुपने का यिह सब पासारा ॥
"फुरने सहित" "जीव" बन जावे । "फुरने बिन" "आतम" कहिलावे १५
यिह फुरना, "दूसर को नाहीं" । जग को उतपत नाश कराहीं ॥
"दूसर" भासे बुध के आगे । अर फिर नाश दशा पर लागे ॥१६॥
यिह जो ब्रह्म विखे है फुरना । अर्जुन, जगत बने है इस का ॥
फुरना ही बाहिर हो भासे । "दूसर" बन बन कर फिर नासे।१७।

चौपाई

अन्श अन्श में यिह फुरना ही । जीव अगिन्त अनन्त बनाई ॥
"दूसर" का फुरना जब त्यागे । ब्रह्म भाव में जीवा जागे ॥१८॥
जन्म जन्म में "पर" का सन्शा । धोया जावत सब जीवन का ॥
जब सन्सा सब ही धुल जावे । जग का सुप्ना सकल विलावे ।१९।

जगत मृग तृष्नका

चौपाई

जो बीते सो सुप्ना भासे । जो दीसे वो झूठ प्रकासे ॥
तृप्ती ताँ से कोइ न आवे । उलटा पश्चाताप सितावे ॥२०॥
इस से सिद्ध अहे यिह, भाई । जग मृग तृष्णा जल वत आही ॥
दूर प्रभासे सुख का पानी । निकट मिले तब होत गिलानी॥२१॥
ताँ ते जो कुछ भासे, भाई । सब कुछ है सुप्ना रैनाई ॥
भासमान से इत्तर जोई । मेरा तेरा "आतम" सोई ॥२२॥

आत्मा वा सामान "मैं"

चौपाई

सोच विखे जो आवे नाहीं । वुह अपना "आतम" ही आहीं ॥
ताँ ते बुद्ध परे है जोई । "आतम ब्रह्म" कहावे सोई ॥२३॥
इस रीती से समझो, मीत । मैं हूँ सब का आश्रय भीत ॥
मुझ बिन इस्थित होय न कोई । मुझ जड़ से सब उतपत होई ॥२४॥

चौपाई

यिह जो "मैं" बाखूँ तुद ताँई। "मैं" ही सब कुछ हूँ जग माँहीं ॥
इस में मम है यिह अभिप्राय। आतम ही सब माँहि समाय ॥२५॥
"मैं" वुह है जो सब में व्यापे। "मैं, मैं, मैं" सब कोई बाखे ॥
यिह "मैं" है सब का आधार। यिह "मैं" हू मैं *कृष्ण मुरार* ॥२६॥
मेरा आशय "मैं सामान"। "मैं विशेष" नहिं मोर बखान ॥
जो "मैं" सर्व अवस्था माहीं। वुह "मैं" मोर प्रयोजन आहीं ॥२७॥
इस "मैं" का है सब विस्तार। इस "मैं" ही से सब का प्यार ॥
सब कुछ भेंट चढ़े इस "मैं" की। "मैं" को पूजें पापी योगी ॥२८॥
ऐसी "मैं", मैं हूँ, हे भाई। नाम अर रूप परे इस्थाई ॥
जो "मैं" राग द्वेष के पारे। वुह "मैं" हू मैं, हे मम प्यारे ॥२९॥
तू भी "मैं" है वुह भी "मैं" है। इस "मैं" को नाहीं कोई "भै" ॥
यिह "मैं" परम ब्रह्म कहिलावे। यिह "मैं" निर हङ्कार बनावे ॥३०॥

मन वा विशेष "मैं"

चौपाई

अहङ्कार जो सन्त मिटावें। "मैं विशेष" का मूल जड़ावें ॥
"मैं विशेष" है मन की हमता। नाम रूप नासी की ममता ॥३१॥
"मैं विशेष" है दुख का मूल। इस ममता में आपद शूल ॥
पर जो होवे "मैं सामान"। वुह है शाँत अर सुख की खान।३२।
नाम रूप की ममता मारो। आतम की ममता रिद धारो ॥
निन्दत है देही हङ्कारा। पर "मैं ब्रह्म" न निन्दत, प्यारा।३३।

चौपाई

"अहम ब्रह्म" यिह "शुभ हङ्कार"। "निर्मलता" का यिह भण्डार ॥
आतम का हङ्कारी योगी। नाम रूप हङ्कारी रोगी ॥३४॥

योगी का ब्रह्म अभिमान

चौपाई

योगी भी अभिमानो लागे। राजा भी भिक्षू तिस आगे ॥
ईश्वर तक की ओर न ताके। स्वय सम कुछ नहिं भावे ता के ।३५।
पर योगी का गौरव साचा। नाम अर रूप लखे वुह काचा ॥
जब आतम वुह सब में देखे। तब वुह किस को मस्तक टेके?।३६॥
चाहत नाहीं योगी पैसा। सीस निवावे किस को कैसा ?।
दुख सुख को जब सम वुह जाने। किस से डर कर किस को माने?।३७॥
आतम सन्तुष्टी है शाँत। नहिं योगी निन्दत इस भाँत ॥
निन्दत होवे देह अभिमान। यौवन, वित अर धन का मान ।३८।
इस विध जब "मैं", "मैं", मैं बोलूँ। अर "मैं" में सारा जग तोलूँ ॥
समझो तब नहिं, मीत, कदाँहीं। मुझ में देह अभिमाना आँहीं ॥३९॥
जब विष्टा में भी मम वास। कैसा गर्व बने मम पास ॥
गौरव का कुछ अर्थ न जाने। जो आतम को पूरण माने ॥४०॥

सन्सार उत्पत्ति अर प्रलय

दोहा

सब वस्तू लय होय तब, कल्प जाय जब बीत ।
एक कल्प लय में रहे, दूजे माँहि प्रतीत ॥४१॥

दोहा

इस विध लय अर उतपती, इक दूसर पश्चात ।
पुन पुन होवें सर्वदा, मम आश्रय से, भ्रात ॥४२॥
बार बार उतपत करूँ, बारम्बार विलीन ।
यिह धन्दा सन्सार का, मोर विलास अहीन ॥४३॥
ब्रह्म विखे जो अपर का, फुरना उठे विलाइ ।
यिह फुरने की लटंक जो, जग अर प्रलय कहाइ ॥४४॥
छिन में उतपत लीन हो, ब्रह्म विखे सङ्कल्प ।
पर माया के दर्प में, भासे युग अर कल्प ॥४५॥
जैसे ज्योतिश दर्प में, भासे अणू महान ।
तैसे माया पटल में, क्षण हो कल्प प्रमान ॥४६॥
"देश," "काल" अर "अयन" जो, "माया" इनका नाम ।
फुरने की यिह छाय है, फुरने बिन विश्राम ॥४७॥
तीक्षण जितना फुरन हो, तीक्षण यिह हूँ भान ।
जितना फुरना अल्प हो, भास इन का घट जान ॥४८॥
ज्यूँ ज्यूँ योगी मन मरे, त्यूँ त्यूँ काल प्रमान ।
घटता जावे भास में, युग हो दिवस समान ॥४९॥
इस ते शास्त्रों में कहा, ब्रह्मा आगे कल्प ।
भासे जितना दिवस इक, हो कर इतना अल्प ॥ ५० ॥
इस रीति से ब्रह्म में, इक ही क्षण में होइ ।
हे अर्जुन, सन्सार की, उतपत परलय जोइ ॥ ५१ ॥

दोहा

जितना बाहिर मुख बनो, उतना माया भान ।
अन्तर मुखता से घटे, देश अर काल प्रमान ॥ ५२ ॥
ब्रह्म विखे जब जीव हो, पूरा पूरा लीन ।
द्वैत भाव तब नष्ट हो, नासे दो अर तीन ॥५३॥

तप वा दुःख ही आनन्द है

दोहा

द्वैत दृष्ट तप से नसै, बने जीव तब ब्रह्म ।
दुख सुख, राग अर द्वेष को, परखे मन का भ्रम्म ॥५४॥
"दुख" सिर ऊपर धरत है, "तप धारी" जग माँहि ।
सिद्ध करे इस रीत से, "दुख" में दुख कुछ नाँहिं" ॥५५॥
"दुख" "सुख दायक" बनत है, जब "दुख" को सहि जाँइं ।
"दुख" में भी "आतम" मिले, जब "दुख नाम" भुलाँइं ॥५६॥
"सुख से" "दुख में" सुख अधिक, दैवी गुण उपजाँइं ।
माया छल से तोड़ कर, ब्रह्म विखे लिवलाँइं ॥५७॥
धीरज, सहन, उदार्ता, कृपा, दया, निरमान ।
"दुख" की पृथिवी में उगें, "दुख" आनन्द निधान ॥५८॥
कर देखो तप मीत मम, दुख कलेश सिर धार ।
तब परखो आनन्द क्या, धीरज, सहन मँझार ॥५९॥
स्वर्ग अप्सरा से अधिक, "दुख" माँही आनन्द ।
इन्द्र सदा लोचित रहे, सन्त दशा निर्द्वन्द ॥६०॥

सन्तन की विलक्षण बुद्धी

दोहा

"निर् धनता" को "धन" लखे, "हारन" को वुह "जीत" ।
"हान" "लाभ" तिन को अहे, "ग्रीषम" तिन को "शीत"।६१।
"विपदा" ताँ को "सुख" अहे, "रोग" अहे तिन "भोग"।
"मान" "अमान" अहें तिन्हें, एक अयोग अर योग ॥६२॥
दुख पावें, रोवें नहीं, कष्ट सहें मुख हन्स ।
कुष्टी हो कर गाएं वुह, लखें न बिच्छू डन्स ॥६३॥
घूरम सद आतम विखे, इष्ट अनिष्ट भुलाइ ।
जैसे बनती जाइ तेंह, सब में आनँद पाइ॥६४॥
ऐसे सन्यासी अहें, जाँ में मीन न मेष ।
द्वैत भाव जिन का मिटे, भूले भाव विशेष ॥६५॥
जिन का मन मर कर हुआ, चूरन जैसे धूर ।
सुख दुख में सम वर्तते, भेद दृष्ट ते दूर ॥६६॥
जो देखे निज मन विखे, भेद भाव का लेश ।
सन्यासी वुह है नहीं, ममता ताँ में शेष ॥६७॥
पूरन अर ऊरन विखे, भेद अहे यिह, मीत ।
ऊरन भेद विखे दुखी, पूरन सम है नीत ॥६८॥
ऐसे सन्यासी अहें, दुर्लभ जग में, भ्रात ।
जिन में "यिह" अर "वुह" नहीं, जेंह सम "कीचड़", "भात" ।६९।

दोहा

सन्त अर शाँत विखे कभी, रञ्चक मात्र न भेद ।
उलट पुलट सन्सार में, सन्त रहे निर्खेद ॥८०॥

निर्द्वन्द महात्मा और श्री कृष्ण की एकता

तोटक छन्द

जग को उत्पन्न करूँ सकलो । अर लीन करूँ निज में सब को ॥
पर उत्पत लीन विखे निर्मल । जिम फेन तरङ्ग विखे है जल ।८१।
को कर्म मुझे न बिगाड़ सके । नहिं हर्ष न शोक लतार सके ॥
सब कर्म अहे जग रूपन का । मिलना जुलना अथवा झगड़ा॥८२॥
मम आतम आँहि अरूप सदा । सब कर्म विखे बिन कर्म खरा ॥
यदि रूप बने ऐसे वैसे । तत वस्त रहे जैसे तैसे ॥८३॥
इस रीत रहूँ निर्लेप सदा । सब उत्पत लय में कूट समा ॥
नहिं घाट अहे, नहिं वाध अहे । मम निश्चल, इस्थित ज्योत रहे ।८४।
भूचाल फटे सकली पृथिवी । अथवा डूबे सन्सार सभी ॥
वा सूरज भस्म करे जग को । तब भी मम बुद्ध न व्याकुल हो ।८५।
मम देह कटें टुकरे टुकरे । अपमान करें जग में सकले ॥
मो भूक अर प्यास करें लकड़ी । तब भी मम बुद्ध रहे अकड़ी ॥८६॥
यिह सर्व प्रपञ्च लखूँ मिथ्या । इस के बिगरे, मम बिगरे क्या ?।
जिम नीर रहे सम वा इक सा । क्यों ढंग न सो बदले उस का ।८७।
इस रीत समान रहें नित ही । इन्द्रिय जित, इस्थित सन्त सभी ॥
नहिं राग अर द्वेष हिलाँइ तिन्हें । नहिं हर्ष न शोक भ्रमाँइ तिन्हें ॥८८॥

तोटक छन्द

निर्वात अडोल प्रदीप समा। बृत तास रहे कूटस्थ सदा॥
अश्चर्य बिना, उत्कण्ठ बिना। वुह शुद्ध रखें मनुआ अपना॥८९॥
निर्वास रहें, निर आस रहें। अर जग ते नित्य उदास रहें॥
पुन आतम सूँ निज प्रेम रखें। अर ऊँच अर नीच समान लखें॥९०।
इस विध जो त्याग, विरक्त लहें। वुह, राजन, ब्रह्म स्वरूप अहें॥
नहिं हान अर लाभ कभी जिन को। परमेश्वर आप लखो तिन को।९१।
मैं भी चरनार परूँ तिन के। निर्ममता है रिद में जिन के॥
पुन दास अहूँ नित मैं तिन का। अध्यास मिटा मन से जिन का।९२।

असुर और देव विवेक

दोहा

नाम रूप को जो लखें, आतम अपना, मीत।
दुख आतुर रोगी पुनः, चिन्ता युत वुह नीत॥९३॥
निश वासर भटकत रहें, और थकत हो जाँइं।
पर वुह परमानन्द को, रञ्च मात्र नहिं पाँइं॥९४॥
द्वेष ईर्खा से तपत, चूल्हे सम तिन चीत।
प्रेम दया अर कृपा का, रस कुछ चखें न, मीत॥९५॥
द्वैत निवारें काट कर, काट काट, कट जाँइं।
प्रेम मन्त्र को धार कर, द्वैत प्रेत न हटाँइं॥९६॥
ऐसे अज्ञानी पुरुष, असुर, दैत्य, कहिलाँइं।
बन्धन रूप रहें सदा, दुख देवें, दुख पाँइं॥९७॥

दोहा

पर जो जन मिथ्या लखें, नाम रूप की भीत।
अर आतम को सर्व में, पूरन लाखें नीत ॥९८॥
इस चक्षू से देखते, हर में जो हरि राय।
दुख सङ्कट तिन को कभी, जग में नाँहिं सिताय ॥९९॥
सब की भगती वुह करें, इस विध राम रिझाँइं।
पर सुख अर्थ रखें नहीं, स्वय तन धन जो आँहिं॥१००॥
ऐसे पूजक सर्व के, दुर्लभ जग में जान।
इन को ही है ज्ञान पुन, इन को भक्त पछान ॥१०१॥
जिस मानुष में प्रेम नेह, असुर तास का नाम।
द्वेष गिलानी से खिजा, सद है वुह दुख धाम ॥१०२॥
लखो "प्रेम" ही "ब्रह्म" नित, आँहिं "गिलानी" "दैत"।
"सेवा" को "भक्ती" लखो, "गर्व" पछानो "प्रैत"॥१०३॥
बुरा न माँगो कास का, शत्रू को दो मान।
इस रीती से वरत कर, पूजो ब्रह्म समान ॥१०४॥

भक्ती लक्षण

चौपाई

लक्षण भक्ती के यिह भाई। प्रेम अर सेवा, बुध इस्थाई ॥
तप धारण अर ब्रत अर दाना। नम्र भाव, अस्तेय, सनाना ॥१०५॥
सब की बोले भक्त प्रशन्सा। कर, चित से करता नहिं हिन्सा ॥
सब को आदर सहित बिठावे। शत्रू ताँ को दृष्ट न आवे ॥१०६॥

चौपाई

जो राखे रल मिल कर खावे । भूका रहि कर "अवर" रजावे ॥
धो डाले वुह सकल गिलानी । सब कुछ ताँ को ब्रम्ह समानी ।१०७।
दुख सुख तेंह आगे इक साई । आतम सब में तेंह दरसाई ॥
चिन्ता, आस रखे वुह दूर । परमानन्द रखे भर पूर ॥१०८॥
ऐसी भक्ती मुझ को भावे । प्रेमी मुझ को अति रीझावे ॥
केवल "माला", "प्रतिमा", "घण्टा" । मुझ को भासे, अर्जुन, टण्टा॥१०९॥
"तिलक"अर "छूत" न "भक्त"बनावे। यदि आतम हित रिद नहिं आवे ॥
"कर में माला", "रिद में कपटी" । ऐसे जन राखें नहिं भक्ती ॥११०॥
"द्वेष भाव" की "छूत" लगाओ । "भाइयों" से इत उत नहिं धाओ ॥
"सब में आतम व्यापक मेरो" । इस निश्चय की "माला" फेरो ।१११।
"इसथित बुध"का"तिलक"लगाओ । इस से निश दिन आदर पाओ ॥
यिह सची भक्ती है भाई । दम्भी भक्त सभी हैं नाई ॥११२॥
माला फेरो, प्रतिमा पूजो । पर मन में नहिं मानो दूजो ॥
माला, प्रतिमा यिह समझावे । "शाँत अर भक्ती का रस आवे" ११३
जब यिह रस बुद्धी को आवे । द्वेष गिलानी मन से जावे ॥
हर वस्तू तब होवे "मनका" । बुद्धी निर्मल के फेरन का ॥११४॥
"अन्श अन्श" तब "प्रतिमा" दीखे । हर से मानुष भक्ती सीखे ॥
गुण सीखे, अवगुन बीसारे । इस विध मन का द्वेष निकारे ।११५।
जो कुछ ऐसे भक्त बनावें । मुझ आतम पर भेंट चढ़ावें ॥
मुझ को हर वस्तू में देखें । मुझ बिन दूसर मिथ्या पेखें ।११६।

"मैं" ही सब कुछ हूँ

दोहा

ऐसो पूरन जान तू, मुझ आतम को, मीत।
सब में, सब सा, मैं अहूँ, निश्चल, इस्थित नीत ॥११७॥
मैं "देवा" मैं "भेट" हूँ, मैं "भुक्ता" मैं "दान"।
मैं "घृत" अर मैं "अगन" हूँ, मैं "मृग" हूँ मैं "बान" ॥११८॥
मैं "पक्षी", मैं "घोंसला", मैं "तरवर" मैं "चोग"।
मैं "पानी" मैं "पीवता", मैं "भोगी", मैं "भोग" ॥११९॥
सब कुछ "मैं" हूँ "मैं" बिना, "मैं" में नाँहिं समाइ।
"मैं" का "मैं" से मेल है, इस प्रपञ्च के माँहि ॥१२०॥
"इक का दूसर माँहि सुख", "इक को पर की चाह"।
सिद्ध करत है जगत में, आतम प्रेम प्रवाह ॥१२१॥
मिल कर जो आनन्द हो, "मैं" "मैं" का हो सङ्ग।
द्वैत विखे तो चाहिये, होनी निश दिन जङ्ग ॥१२२॥
"एक तत्व" होते बिना, कैसे होवे "मेल"।
जब तक "जात" न एक हो, क्यों, कैसे, हो खेल ॥१२३॥
"युद्ध" विखे भी "प्रेम" रस, "इक होने की चाह"।
इस इच्छा से सिद्ध है, सब में एक प्रवाह ॥१२४॥
इस रीती से देख तू, "मैं" को सब में पूर।
"मैं" आतम है सर्व का, "मैं" बिन सब कुछ कूर ॥१२५॥

दोहा

"जो मुझ को सुख देत है" "मेरा 'आतम' आँहि"।
"जो मम बुध में आत है", "मुझ से इत्तर नाँहि" ॥१२६॥
"बोध मात्र सब कुछ अहे", ताँ ते एक स्वरूप।
"ज्ञान" "आतम" का चिन्न है, ताँ ते सर्व अनूप ॥१२७॥
दूसर था नहिं है कछू, अर नहिं होगा, मीत।
दूसर को चाहे नहीं, को यिह जग की रीत ॥१२८॥
दूसर केवल मन विखे, बाहिर कोऊ नाँहि।
बिसरो दूसर को जभी, आनँद पाओ ताँहि ॥१२९॥
मैं हूँ जग का तात पुन, मैं हूँ माता तास।
मैं हूँ वेद चतुर पुनः, मैं हूँ ओम् प्रकास ॥१३०॥
मैं ही भर्ता सर्व का, मैं ही सब का मूल।
मुझ ही से उतपत हुए, सूक्षम अर अस्थूल ॥१३१॥
प्रेमी मैं, अर प्रेम मैं, अर मैं बीज निधान।
मन्त्री मैं, अर मन्त्र मैं, अर मैं नार पुमान ॥१३२॥
नरक कुण्ड भी मैं अहूँ, अर मैं हूँ गो लोक।
मोद विखे मैं ही अहूँ, अर मैं ही हूँ शोक ॥१३३॥
इस रीती से "मैं" बिना, कुछ भी जग में नाँहिं।
"मैं" ही "मैं" परिपूर है, "मैं" परमातम आँहिं ॥१३४॥

स्वर्ग स्वरूप

तोटक छन्द

सत शास्त्रन का जो पाठ करे। यम नेम करे उपवास धरे ॥
पुन दान करे, अर यज्ञ करे। *ऐसो जन स्वर्ग विखे विचरे*
सत्सङ्ग विखे जो प्रेम रखे। पुन शाँत सुधा दिन रैन चखे ॥
उपकार सदा मन माँहि धरे। *ऐसो जन स्वर्ग विखे विचरे*
निर्ममता में जिस की रत हो। नहिं काम सितावत है जिस को ॥
जिस का पुन क्रोध अर लोभ मरे। *ऐसो जन स्वर्ग विखे विचरे*
नहिं भूत भविश्यत चिन्त जिसे। नहिं हान अर लाभ विगिन्त जिसे ॥
नित आतम माँहि अडोल फिरे। *ऐसो जन स्वर्ग विखे विचरे*
जिस को सम भासत सर्व दशा। जो रञ्चक भोगन में न फँसा ॥
जिस के रिद में न गिलान फुरे। *ऐसो जन स्वर्ग विखे विचरे*
नहिं राग जिसे, नहिं द्वेश जिसे। नहिं ईरख का कुछ लेश जिसे ॥
समता पद से जो नाँहि गिरे। *ऐसो जन स्वर्ग विखे विचरे*
जिस को रस भासत हार विखे। जो हो निर्मल व्यवहार विखे ॥
मृद वाक सदा जो जन उचरे। *ऐसो जन स्वर्ग विखे विचरे*
जो नाम अर रूप बिसारत है। अर इच्छा को जो जारत है ॥
निश वासर जो मुझ को सिमरे। *ऐसो जन स्वर्ग विखे विचरे*

निर इच्छत महात्मा

दोहा

जो जन कर्म करें सभी, पर फल कुछ नहिं चाँहिं ।
कर्म विखे लिव लीन हो, अमृत रस जो पाँइं ॥१४३॥
ऐसे जन आतम विखे, निश दिन इस्थित आँहिं ।
नाम रूप विक्षेप से, उन की बृत उड़ जाँइं ॥१४४॥
मुझ आतम में लीन हो, मुझ ही माँहिं समाँइं ।
मुझ बिन सब कुछ झूट लख, शाँत रूप हो जाँइं ॥१४५॥
सेव करें सेवा निमित, यज्ञ करें यग अर्थ ।
दान करें 'देने' लिए, चहें न वस्त व्यर्थ ॥१४६॥
"सेवा" ही को "आतमा", समझें योगी सन्त ।
"सेवा" में ही लीन हो, "परमानन्द" लहन्त ॥१४७॥
जो रस लीन भये विखे, भोगन में नहिं सोइ ।
विषय भोग से फल मिलें, चिन्ता अर भय दोइ ॥१४८॥
जग में परमानन्द की चाबी, अर्जुन, एक ।
एक् आतम में लीन हो, बिसरे रूप अनेक ॥१४९॥
"इच्छा" को सब हार कर, बनो आप "सन्तोश" ।
तृपती निज आतम विखे, दुख दायक सब कोश ॥१५०॥
ऐसे निर इच्छित पुरुष, मुक्त आप ही आँहिं ।
ममता के बन्धन विखे, कभी न बाँधे जाँइं ॥१५१॥
अकेले जग में फिरें, हरष शोक से हीन ।
कञ्चन माटी सम लखें, परमानन्द विलीन ॥१५२॥

जगत सेवा–ब्रह्म सेवा

चौपाई

सब ही में आतम सामान। नीच ऊँच सब भ्रम पहिचान ॥
इस विचार से मैं हूँ शाँत। नाहिं भ्रमावे मुझ को भ्राँत।१५३।
जो सब कुछ ही प्यारा जानें। सब कुछ अपना आतम मानें ॥
दुख सुख जिन को है इक साई। वुह मुझ में, मैं उन में, भाई ॥१५४॥
सब के रिद में मोर निवास। सब के अन्तर मोर प्रकास ॥
मेरी सत्ता बिन नहिं कोई। तिनका भी मुझ बिन नहिं होई-१५५
सब की सेवा मोहि रिझावे। सब सूँ हित मुझ को मिल जावे ॥
जो काहू का रिदय दुखावे। वुह जन मुझ को चोट लगावे।१५६।
जो काहू पर करत गिलान। वुह कर्त्ता मेरा अपमान ॥
जो मानुष निन्दे काहू को। वुह सचमुच मेरा निन्दक हो।१५७।
जो जन सब को ब्रह्म पछाने। अर जो द्वेष न रिद में आने ॥
द्वैत भाव जो मूल भुलावे। ऐसो मानुष मोहि रिझावे ॥१५८॥
मम अस्थान न नभ के ऊपर। मम अस्थान न मान सरोवर ॥
मम अस्थान न है कैलास। मम है सब रिद माँहि निवास।१५९।
मैं सब में हूँ, सब मुझ माहीं। मुझ बिन इक तिनका भी नाहीं ॥
जो इस विध है मुझ को माने। केवल वुह मुझ को पहिचाने।१६०।
सब की भगती मेरी भगती। सब की सेवा मुझ को लगती ॥
जो मानुष निर्मम हो जावे। सोई, अर्जुन, मुझ को पावे॥१६१॥
नाम रूप को जोइ भुलावे। मुझ अनूप को सोई पावे ॥
द्वैत गिलानी जो तज देवे। सोई मुझ व्यापक को सेवे ॥१६२॥

ज्ञानी की परीक्षा-
निर मम सेवा अर निर दम्भ दान

दोहा

सेवा जो मानुष करे, तन मन धन को लाइ ।
समय पाइ उज्जल बने, और सन्त बन जाइ ॥१६३॥
सेवक ही बन जात हैं, अर्जुन, सेवा योग ।
सेवक की इक दिन करें, सेवा देव अर लोग ॥१६४॥
धीरे धीरे जात हैं, उस से खोटे कर्म ।
धीरज अर सन्तोष, सत, आँवें उस में धर्म ॥१६५॥
सेवा सम उस को नहीं, लागे मीठा कोइ ।
विषय भोग करवे लगें, त्यागे उन को सोइ ॥१६६॥
तन दे, धन भी देत वुह, विद्या भी वुह देत ।
ज्ञान देत, विज्ञान दे, "देने" का रस लेत ॥१६७॥
"दान रूप" वुह बनत है, "सेवा, यज्ञ स्वरूप" ।
"लेने" को विष सम लखे, "देना" ब्रह्म स्वरूप ॥१६८॥
दुख सहिना पर अर्थ जो, इस ही को सुख जान ।
सुख लेना पर दुख विखे, नरक इसी को मान ॥१६९॥
जो जन सेवा में लगें, देह अभिमान निवार ।
सब कुछ अपना हार कर, करहें जीव सुधार ॥१७०॥

दोहा

"सेवा" सम "यात्रा" नहीं, "त्याग" समा नहिं "मान"।
"नम्र भाव" सम "तप" नहीं, "जाप" न "शाँत" समान-१७१।
"प्रेम" समा नहिं "मन्त्र" को, "क्षमा" समा नहिं "तन्त्र"।
"दया" समा नहिं "झाड़" को, "कृपा" समा नहिं "यन्त्र"।१७२।
ताँ ते जो जन होत है, आतम माँहि विलीन।
मुक्त पदारथ पात है, भावें जात मलीन ॥१७३॥
ताँ ते, अर्जुन, त्याग कर, नाम रूप का ठाठ।
सर्वातम में प्रेम रख, आँहि यिही सुख पाठ॥१७४॥
मुझ को सब में देख कर, सब की सेव कमाइ।
इस रीती से, मित्र मम, भगती में चित लाइ ॥१७५॥
भय, आशा अर याचना, चिन्ता, शोक निवार।
ईश्वर आतम जान कर, ताँ से भी हो पार ॥१७६॥
आतम से भय को करे, आतम से को आस?
जब ईश्वर आतम हुआ, उस से क्या हो त्रास ?१७७॥
इस ते सन्त महातमा, निर इच्छत निर मान।
हन्सें ईश्वर नाम पर, भय कारण तेंह जान ॥१७८॥

सन्त सेवा–ब्रह्म सेवा

तोटक छन्द

जिस की इच्छा सब दग्ध भई। तिस की चिन्ता सब भाग गई॥
जिस के मन से सब द्वेष गयो। वुह परमानन्द स्वरूप भयो॥१७९॥

शान्ति उपाय

चौपाई

हे अर्जुन, सुन शाँत उपाय। जिस को सुन कर ब्रह्म समाय ॥
शाँत रहे नित "प्रेम" मँझारो। "प्रेम" बिना सब है दुखियारो-१८९
नाम रूप को झूट पछान। आतम को पुन व्यापक मान ॥
इस विध जिस जन को हो ज्ञाना। वुह समझे सब कुछ सामाना।१९०।
सब सूँ प्रेम करे वुह ऐसे। स्वय सूँ प्यार करे वुह जैसे ॥
पर का दुख अपना दुख भासे। सब में अपना आप प्रकासे॥१९१॥
अपनी चिन्ता मूल न राखे। "पर" चिन्ता में "आनँद" चाखे ॥
आप रहे बूखा, तो क्या है? जग के बूखों की चिन्ता है ॥१९२॥
"पर" चिन्ता में "आनँद" आहे। "स्वय" चिन्ता ही दुःख दिखाए ॥
"पर" चिन्ता में "ब्रह्म" समावे। "निज" चिन्ता नित ही तड़पावे १९३
"पर चिन्ता" ही "दया" कहावे। "पर चिन्ता" ही "धर्म" सिखावे ॥
"पर चिन्ता" नहिं मानो विपदा। यिह तो जग दुखियों पर किरपा १९४
"पर चिन्ता" से हो उपकार। "पर चिन्ता" कर दे दातार ॥
"पर चिन्ता" ते बनिये ईश्वर। "पर चिन्ता" है ज्ञान प्रभाकर-१९५।
ममता की चिन्ता दुख दाई। निर मम चिन्ता तो सुख दाई ॥
अपने वप वा सम्बन्धों की। चिन्ता, अवश दुःख की राशी १९६
चिन्ता उन की जो हैं दूर। शाँत अमी रस से भर पूर ॥
वुह चिन्ता स्वारथ नहिं पाले। पर ममता का दोष निकाले।१९७।

चौपाई

इस बिध खोब न आवे ताँ को। सब कुछ सम ही दरसे जाँ को ॥
शाँत विखे निश दिन वुह विचरे। शोक अर चिन्ता दोऊ बिसरे।१९८।
ब्रम्ह विखे वुह इस्थित होवे। फुरना तिस का बिसमे सोवे ॥
सर्व अवस्था में आनन्दी। सर्व समय वुह आँहि सुछन्दी-१९९
ऐसो जन है जीवन मोख। सद ताँ में आतम सन्तोख ॥
मुझ में उस में भेद न कोई। वुह निश दिन मुझ में ही सोई-२००
जब त्यागें ऐसे जन प्रान। मुझ में होवे उन का ध्यान ॥
देही तज व्यापक हो जाएँ। इस विध मेरे माँहि समाएँ॥२०१॥
अर्जुन, बन तू प्रेम स्वरूप। इस विध पा आनन्द अनूप ॥
आनन्दी हो *कृष्ण* अरूप। सर्व जगत का बन जा भूप॥२०२॥

इति नवम अध्याय

सङ्क्षेप अर बेनती

चौपाई

हुआ समापत नवम अध्याय। जिस में वर्न्यो शाँत उपाय॥
प्रेम उपदेश *कृष्ण* ने दीनो। द्वेष गिलानी सब हर लीनो॥ १॥
आतम को हर में दिखलायो। रूपन को मिथ्या बतलायो॥
इस विध सर्व विखे इक सत्ता। दिखलावत हैं *कृष्ण कन्हैया*॥ २॥
दुख में, सुख में इक ही आतम। भेद इन में है बुद्धी का भ्रम॥
ताँ ते धीरज *कृष्ण* सिखावें। हर्ष शोक में तुल्य बनावें॥ ३॥
श्रद्धा युत टेकत है माथा। *कृष्ण कन्हाई* को *रघुनाथा*॥
और असीसा पुन पुन माँगे। इच्छा मेरे मन से भागे॥ ४॥
सोम रहूँ नित अर गम्भीर। दुख में, आपद में अति धीर॥
मान अपमान विखे सम विचरूँ। ब्यापक आतम को नहिं बिसरूँ॥५॥
शाँत रहूँ, निर्भ्रान्त रहूँ मैं। अर सद ही एकान्त रहूँ मैं॥
उस्तत निन्दा ते उपरन्त। सोभूँ नित ही उत्तम सन्त॥ ६॥
देवो मँगता को यिह दान। हे *माधव*, करुणा की खान॥
शीतल रिद कर देवो मुझ को। अपना सुत कर लेवो मुझ को॥७॥
ऊँच नीच में समता धारूँ। वैरागी बन ममता मारूँ॥
राग द्वेष बिन आयू बीतूँ। इन्द्रिय जीतूँ, मन को जीतूँ॥ ८॥

———

अथ दशम अध्याय

श्री भगवान उवाच

दोहा

सुन अब तू हे मित्र वर, मेरो परम उपदेश ।
जिस को सुन अर धार कर, मानुष बने महेश ॥ १ ॥
तेरा हित सन्मुख रखूँ, देवूँ सदा अशीर ।
गुप्त ज्ञान बतलाय कर, तोइ करूँ गम्भीर ॥ २ ॥

आत्मा वा तत्व बोध

चौपाई

देव सन्त अर योगी सारे । मुझ को सोच सोच कर हारे ॥
मेरा आद न किन ही जान्यो । सब से पहिले मुझ को मान्यो ॥३॥
आद अन्त से मैं हूँ न्यारा । मुझ से है सारा सन्सारा ॥
मैं हूँ सर्व सृष्ट का स्वामी । मैं हूँ रक्षक, अन्तर्यामी ॥ ४ ॥
सब वस्तू का तत हूँ ऐसे । लहरों में होवे जल जैसे ॥
वस्तू नाम रूप को जानो । मुझ को ताँका "भाव" पछानो ॥५॥
वस्तू बदले, मैं नहिं बदलूँ । परम अडोल सदा मैं विचरूँ ॥
'वस्तू तत्व" मुझे पहिचानो । "सत्ता" सब की मुझ को मानो ॥६॥
जो इस विध रूपन को त्यागें । अर मुझ तत्व मात्र में लागें ॥
वुह, अर्जुन, मुझ को मिल जावें । रूप उन्हें नहिं मूल भ्रमावें ॥ ७ ॥

चौपाई

मुझ को आतम मात्र पछानें। मुझ में, स्वय में भेद न मानें ॥
सब कुछ अपना आप परेखें। सब को अपना भाई देखें ॥ ८ ॥
इस विध राग द्वेष को छोड़ें। रूप वासना तें मन मोड़ें ॥
नहिं चाहें अर नाहिं हटाएँ। सुख दुख दोनों से हित लाएँ॥ ९ ॥
दुख भी रूप अर सुख भी रूपा। दोनों में इक तत्व अनूपा ॥
"रूप" "रूप" से मिल कर खेला। "आतम" सद ही रहत अकेला-१०
"दुख" ते तेरो "वप" ही बिगरे। "सुख" ते तेरो "वप" ही सँवरे ॥
"वप" है तेरा "रूप" अर "ढङ्ग"। वुह तुझ को कर सकत न भङ्ग। ११।
तू "कञ्चन", नहिं "भूषण" भाई। "भूषण" टूटे, "स्वर्ण" न जाई ॥
तू "जल", लहिर नहीं तू मीता। फूटे "लहिर", "उदक" है नीता १२
"है-ता" मात्र आँहिं तू भाई। सब कुछ में "है" है इस्थाई ॥
"है" स्वरूप है आतम का जी। सब कुछ "है", पुन है यिह "है" भी १३
इक वस्तू दूजी बन जावे। सब का आतम एक जितावे ॥
सब का एक न होता मूल। किस विध "सूक्षम" बनता "थूल" १४
जिस को हो जावे यिह ज्ञान। उस ने मुझ को लियो पछान ॥
मैं सूक्षम, अर मैं अस्थूल। मैं हूँ तरुवर मैं हूँ मूल ॥ १५ ॥
सब रूपन में तत है एक। वुह तत मैं हूँ सब की टेक ॥
"एक तत्व" "रूप सब" धारे। "रूप" न पर कुछ "तत्व" बिगारे १६
ऐसो ज्ञानी है "तत ज्ञानी"। प्रेम स्वरूप, अभय, निर्मानी ॥
कोई चक्र न ताँहि हिलावे। उस का "तत्व" न आवे जावे ॥ १७ ॥
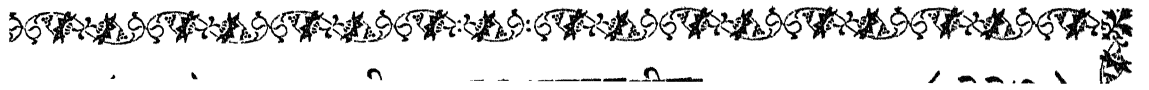
दोहा

क्यों नहिं वरतो प्रेम को, परमानन्द निधान ।
क्यों खावो तुम द्वेष विष, दुख कलेश की खान ॥२७॥
इस ते हिन्सक को कहें, असुर पुरुष, हे मीत ।
नाम रूप अर मन विखे, राखे आतम प्रीत ॥२८॥
"असुर" "प्रयोजन" ठीक है, ठीक न तास "उपाय" ।
द्वैत निवारे मार कर, उलटा द्वैत बढ़ाय ॥२९॥
आँहि प्रयोजन आतमा, है उपाय पुन रूप ।
असुर विखे भी आतमा, विचरे आप अनूप ॥३०॥
देव "प्रयोजन" "औषधी", दोनों ठीक अहाइँ ।
द्वैत निवारे भूल कर, हित सूँ मित्र बनाइँ ॥३१॥
इस रीती से उभय में, "देव" "असुर" में, मीत ।
मैं आतम व्यापक अहूँ, भासूँ "द्वेष" अर "प्रीत" ॥३२॥
असुर बनें इक दिन सुरे, जब आँखें खुल जाँइं ।
जब देखें हत्या विखे, उलटा द्वैत बढ़ाँइं ॥३३॥
तब वुह हित को धार कर, करहें सेवा प्रेम ।
द्वैत निवारें ऐस विध, निशदिन भोगें क्षेम ॥३४॥
इस ते भी यिह सिद्ध हो, असुर रखें सुख मूल ।
जिस से वुह सुर बनत हैं, द्वेष भाव को भूल ॥३५॥
असुर भाव इक चूक है, असुर आतम नहिं और ।
असुर देव बन जात हैं, बनते देव कठोर ॥३६॥

सन्सार उतपति और प्रलय

दोहा

आतम और अनातमा, इन से है सन्सार ।
आतम ही सब कुछ अहे, आँहि अनातम छार ॥३७॥
आतम को जब यिह फुरे, "मुझ बिन दूज न कोय"।
तब उस के सङ्कल्प में, "दूजा" बने, विलोय ॥३८॥
"दूजे" की जो "उतपती", ताँ का पुनः "विनाश" ।
यिह जो "है" "नाहीं" बनी, है सन्सार प्रकाश ॥३९॥
"है", "नाहीं" मिल कर करें, सर्व जगत का भास ।
"है" "दूसर" परगट करे, "नाहीं" करत विनास ॥४०॥
"है" को समझो भरम तुम, "नाहीं" समझो सत्य ।
जिस में "है" गुण अधिक है, उस को जान असत्य ॥४१॥
असुर विखे "है" गुण अहे, देव विखे है "नाँहिं" ।
अथवा "द्वैत" असुर अहे, सुर "अद्वैत" कहाँइं ॥४२॥
जो जग को "सत" मानते, ताँ को "असुर" पछान ।
जो मानें हैं "झूट" जग, ताँ को "देवा" मान ॥४३॥
नाम रूप जो जग अहे, ताँहि कहे जो "नाँहिं" ।
उस जन को "सुर" मानिये, वुह जन मुक्ती पाँइं ॥४४॥
सब को आतम जान कर, सब सूँ राखे प्यार ।
दुख का और कलेश का, विपदा का हो यार ॥४५॥

दोहा

हर दम आँहि प्रसन्न वुह, कैसा ही हो रोग ।
चिन्ता शोक कभी नहीं, होवे ताँ का भोग ॥४६॥
यिह, अर्जुन, उपदेश मम, सब से उत्तम मान ।
शाँत अर परमानन्द की, जानो इसको खान ॥४७॥

शान्ति कुण्ड महात्मा

तोटक छन्द

जिन को नहिं रूप भुलावत हैं । जो आतम माँहिं समावत हैं ॥
जिन को नहि हर्ष अर शोक अहे । *तिन के रिद में नित शाँत रहे* ॥
जो आतम को अधिराज गनें । अर जो जग में नहिं दीन बनें ॥
जिन का चित दुख अपमान सहे । *तिन के रिद में नित शाँत रहे* ॥
जो मानुष युक्त सदा मुझ में । अर व्याकुल चित जो नाँहिं करें ॥
जग से जो पुरुष उदास भये । *तिन के रिद में नित शाँत रहे* ॥
जो मुझ को सर्व विखे देखें । अर सब को मोर विखे पेखें ॥
जिन में से द्वेष गिलान गए । *तिन के रिद में नित शाँत रहे* ॥
जो "पर" का दुख अपना समझें । जो "पर" के अर्थ शरीर तजें ॥
निश दिन करुणा जिन से टिपके । *तिन के रिद में नित शाँत रहे* ॥
माता वत सर्व खिलावत जो । अर स्वय भूके रहि जावत जो ॥
जिन का मन इस बिध तृप्त गहे । *तिन के रिद में नित शाँत रहे* ॥

तोटक छन्द

जो आपद् को आतम मानें। निर्धनता को धन पहिचानें ॥
अपमान लगे प्यारा जिन के। *तिन के रिद में नित शाँत अहे*॥
मङ्गल मूरत जो नीत रहें। क्यों नहिं कैसे वुह कष्ट सहें ॥
जो स्वस्थ रहें नित रोग विखे। *तिन के रिद में नित शाँत रहे*॥
जो प्रेम् उपदेश सुनावत हैं। अर अमृत ज्ञान पिलावत हैं ॥
दुबधा जावे जिन के मन से। *तिन के रिद में नित शाँत रहे*॥
हर वस्त विखे पेखें हर जो। कबहूँ नहिं द्वैत फुरे जिन को ॥
जिन की बुध सब को ब्रह्म कहे। *तिन के रिद में नित शाँत रहे*॥
जिन के इन्द्रय गन बिस्म गए। जिन के इच्छा सब दग्ध भये ॥
सङ्कल्प सभी जिन माँहिं मरे। *तिन के रिद में नित शाँत रहे*॥
प्रारब्ध विखे सन्तोख जिन्हें। चिन्ता अर भय से मोख जिन्हें ॥
जिन का मन तृष्ना दूर करे। *तिन के रिद में नित शाँत रहे*॥

अर्जुन उवाच

दोहा

हे *भगवन*, तुम ब्रह्म हो, अगम, अचुत्य अपार ।
तुमरो गत मत देव भी, सकत न सोच विचार॥६०॥
आद अन्त से रहित पुन, सदा पवित्र, अकाम ।
निश्चल, निर्मल, एक रस, पुनः अरूप, अनाम ॥६१॥
तेरी उस्तत कठिन है, तेरे गुण अन गिन्त ।
गावत गावत थक गये, ऋषि, मुनि, योगी, सन्त॥६२॥

दोहा

मानूँ अमर, अजून मैं, तुम को पुनः अगाध ।
अन्तः करण न कर सके, निर्माया का बाध ॥६३॥
शाँत स्वरूप, अखोब पुन, निर्विकल्प, निर्वान ।
बुद्धी अर माया परे, परमानन्द निधान ॥६४॥
ऐसे तुम को लखत हूँ, हे प्रभु दीन दयाल ।
असुर, देव दोनो सकें, तुम को नाँहिं सँभाल ॥६५॥
आतम को आतम लखे, दूसर सकत न देख ।
तुम को तुम ही लखत हो, हे निर्गुण, निर लेख ॥६६॥
सब के ईश्वर, आद तुम, सब के मान अर टेक ।
देवन के ताता पुनः, जग के राजा एक ॥६७॥
कृपा धार वर्णन करें, हे प्रभु, जग आधार ।
अपने मुख मुख चिन सभी, थामें जो सन्सार ॥६८॥
किस भाँती मैं आप को, पाऊँ, हे भगवन्त ?
किस विचार अर ध्यान से, खोजूँ तेरा अन्त ?॥६९॥
हे भगवन्त, कृपा करें, अर खोलें विस्तार ।
कैसे तुम, किम योग तव, कैस विभूत तिहार ?॥७०॥
सुन सुन कथनी आप की, तन मन मोर निहाल ।
अमृत रूपी वाक तव, काटें मोह की जाल ॥७१॥
सुन सुन मन राजत नहीं, भगवन, वचन तिहार ।
जितना बोलो अल्प है, वच वच करत सुधार ॥७२॥

श्री भगवान उवाच

चौपाई

हे अर्जुन, मुक्ती को पावो। मन को मारो, आतम ध्यावो ॥
यिह मेरी चित से आशीर। विषय जीत कर हो गम्भीर ॥७३॥
अब अपने मैं चिन्न सुनाऊँ। खोज अपना तुम को दिखलाऊँ ॥
जिस से कृष्ण प्रतख्य प्रभासे। हर वस्तू में दीप प्रकासे ॥७४॥
मुख्य चिन्न मैं तुम को बाखूँ। विस्तारन का अन्त न लाखूँ ॥
तत्व बखानूँ, हे बलवाना। ताँ में सन्शय रञ्च न लाना॥७५॥

श्री कृष्ण का सामान स्वरूप

दोहा

सब का अपना आप हूँ, सब के अन्तर्भूत।
आद मध्य अर अन्त मैं, सब में हूँ अनुस्यूत ॥७६॥
नाम रूप के भेद से, अपना आप न जाइ।
ऐसे वैसे ढङ्ग में, ढङ्गी एक रहाइ ॥७७॥
आद मध्य अर अन्त यिह, नाम रूप अभिधान।
इन सब कपड़ों में रहे, पुरुष सदीव समान ॥७८॥
एसो सम तत अहूँ मैं, आतम मेरा चिन्न।
"मैं" मेरा पुन खोज है, "मैं" से है को भिन्न ?।७९॥
"अहम" "अहम" सब को कहें, स्थावर जङ्गम दोइ।
जङ्गम तो मुख से कहें, स्थावर इस्थित होइ ॥८०॥

दोहा

समझो ऐसे "अहम" को, अर्जुन, ब्रह्म स्वरूप।
यिह हो "मैं" हूँ मैं सदा, अचल, अखोब, अनूप ॥८१॥
सर्व रूप यिह "मैं" गहे, सर्व नाम "मैं" धार।
इस रीती से "मैं" अहूँ, सर्व वियापी सार ॥८२॥
यिह मेरा सामान चिन, अर्जुन, रिद में धार।
इस को यदि मैं खैंचँ लूँ, नष्ट होइ सन्सार ॥८३॥

श्री कृष्ण के विशेष रूप

दोहा

अब बाखूँ मैं मित्र वर, अपने रूप विशेष।
जिन की पूरन समिझ से, समझन रहे न शेष ॥८४॥
जिस में बल बुध अधिक है, तेज पुनः अधिकाय।
वुह छोटूँ का ईश है, सापेक्षक यिह न्याय ॥८५॥
"छोटूँ" आगे है "बड़ा", हे अर्जुन, भगवान।
सेवा उस को ऐस है, जैसे ब्रह्म धियान ॥८६॥
माया में अनगिन्त हैं, बल बुध तेज प्रमान।
ताँ ते हर छोटा अहे, अल्प् तरूँ का भान ॥८७॥
सापेक्षक मम लिङ्ग हैं, तेजस्वी, पति, सन्त।
पंडित, वृद्ध, बलिष्ट, पुन, राजा, गुरू, महन्त ॥८८॥
ताता, माता, सन्त, पुन, भर्ता, राजा, वृद्ध।
इन का सेवक होत है, अर्जुन, सहिजे सिद्ध ॥८९॥

दोहा

इन की जो सेवा करे, मेरी सेव करेइ ।
ताँ ते, अर्जुन, चित्त से, इन को आदर देइ ॥१०॥
माया में जो उन्नती, उस का है यिह पन्थ ।
"अपने से जो अधिक हो, ताँ के पद को मन्थ" ॥११॥
ऐसी सेवा करत है, गुरु स्वरूप दिन एक ।
फिर ताँ से जो अधिक है, ताँ की पकड़े टेक ॥१२॥
इस रीती से चढ़त है, इक पौरी से दूज ।
दूजी से ऊपर पुनः, अन्त बने वुह पूज ॥१३॥
अर्जुन, ऐसे न्याय से, अधिक, विशेष, प्रधान ।
और बड़ा, बलवान, मम लिङ्ग विशेष पछान ॥१४॥

पूजा अर्थ

दोहा

पूजन का यिह भाव है, शील पूज्य की धार ।
उन सम ऊँच गँभीर बन, उन सम होय उदार ॥१५॥
निश दिन चित में राख तू, उन का ही दृष्टान्त ।
परिश्रम से तू ग्रहण कर, उन का भूषण शाँत ॥१६॥
उन की सेवा, आरती, अर पुन उन का ध्यान ।
धीरे धीरे करत है, इक दिन तास समान ॥१७॥
पाथर की भी सेव जो, उस का भी फल होइ ।
नम्र भूतता, सोम चित, प्रेम भाव, उपजोइ ॥ १८ ॥

दोहा

फल है सेवा के विखे, पाथर में नहिं कोइ।
पाथर तो हेतू अहे, मन की इस्थित जोइ ॥९९॥
इस रीती से मित्र मम, काहू की भी सेव।
लावत है फल प्रेम का, सेवा, विश्नू देव ॥१००॥
अब सुनियो, हैं जगत में, जो जो पूजन योग।
मेरा तिन को लिङ्ग लख, पूजत हैं सब लोग ॥१०१॥
तू भी उन को पूज्य लख, सेवा उन की धार।
लक्षन उन के धार कर, उत्तम बन तिन वार ॥१०२॥

पूज्य पदारथ

दोहा

ऐसे वस्तू कहत हूँ, जो मम लिङ्ग विशेश।
पूजन जिन का उचित है, अर्जुन, सम परमेश ॥१०३॥

चौपाई

आदित्यन में "विश्नू" भासूँ। ज्योतन में मैं "सूर्य" प्रकासूँ ॥
अहूँ "मरीची" मारुत गन में। "चन्द्र" अहूँ मैं नक्षत्रन में॥१०४॥
वेदन में समझो मो 'साम"। देवन में "वासव" निष्काम ॥
इन्द्रय गन में "जीव" पछानो। जीवन में "ईश्वर" मो मानो॥१०५॥
रुद्रन में मो जानो "शङ्कर"। यक्षन में "वित्तेश" भयङ्कर ॥
वसु गन माहीं हूँ मैं "पावक"। "मेरू" हूँ गिर गन का रक्षक।१०६।

चौपाई

मानो मुझ को "उत्तम प्रोहत" । जानो सत गुरु मोहि "बृहस्पत" ॥
"स्कन्द" अहूँ सेनाओं में मैं । "राम" अहूँ भर्ताओं में मैं॥१०७॥
झीलों में मैं "सागर" आहूँ । वृक्षन में, अर्जुन, "बड़" आहूँ ॥
ऋषियों में मो "भृगु" पहिचानो । "ओम" सदा शब्दन में मानो॥१०८॥
दानों में हूँ "तप" का दान । यज्ञों में मो "शाँत" पछान ॥
शील विखे "धीरज" मो जानो । सुक्खों में "निर्ममता" मानो॥१०९॥
स्थावर माँहिं "हिमालय" मानो । जङ्गम में "मारुत" मो जानो ॥
देव ऋषी हूँ "नारद" स्वामी । "कपिल" सिद्ध हूँ अन्तर्यामी।११०।
मानुष्यन में हूँ मैं "राजा" । कर्मन में मैं "जप" का काजा ॥
"चित्ररथा" हूँ गन्धर्वन में । "उच्चैश्रवस" अहूँ अश्वन में।१११।
"ऐरावत" हूँ गज गन माहीं । "कामधेनु" हूँ गायन माहीं ॥
"बिजली" शस्त्रन में मो मानो । सर्पन में "वसुकी" पहिचानो॥११२॥
हूँ "कन्दर्पा" प्रजनन माहीं । और "अनन्ता" नागन माहीं ॥
सागर जीवन में हूँ "वरुणा" । देह विकारन में हूँ "तरुणा"॥११३॥
न्याय प्रधानन में मैं "यम" हूँ । मित्रन शत्रन को मैं सम हूँ ॥
"अर्यमना" हूँ मित्रन माँहीं । "प्रह्लादा" हूँ दैत्यन माँहीं ॥११४॥
पशुअन में मो सिङ्घ पछानो । पक्षन में मो "हन्सा" मानो ॥
हूँ मैं "काल" कलाओं माहीं । "गङ्गा" हूँ नदियाओं माहीं॥११५॥
पवितों में मो "पवन" पछानो । "परसु राम" वीरन में मानो ॥
"मकर" अहूँ मैं मछली गन में । मानो मुझ को "अ" अखरन में-११६

दोहा

आद मध्य अर अन्त हूँ, सृष्टी का मैं नीत।
विद्याओं में मैं अहूँ, "आतम विद्या" मीत ॥११७॥
वक्ताओं में मैं अहूँ, "वक्ता अति बलवान।
बक्षण करताओं विखे, मैं हूँ "मौत," सुजान ॥११८॥
सामासिक में "द्वन्द" हूँ, "सन्धी" कालों माँहि।
सर्व ओर मम मुखं अहे, "रक्षा" मम बल आँहिं ॥११९॥
कीरत, लछमी, वाक, बल, बुद्धी, सिमृत जोइ।
इस्थिरता, अर क्षमा पुन, हर इक मम गुण होइ ॥१२०॥
छन्दन में जानो मुझे, "गायत्री", हे मीत।
रागों में मैं "दीप" हूँ, राजों में "जग जीत" ॥१२१॥
मासों में मैं "माघ" हूँ, ऋतवों माँहि "बसन्त"।
दिवसों में "आदित्य" हूँ, समयों में "मध्यन्त" ॥१२२॥
चोरों में मैं "चपलता", साधों में मैं "धीर"।
शूरों में मैं "वीरता", गायों में मैं "क्षीर" ॥१२३॥
"चतुराई" ठग्गों विखे, ज्वारी में मैं "प्रेम"।
तेजस्वी में "तेज" हूँ, ब्रतधारी में "नेम" ॥१२४॥
सत वादी में "सत" अहूँ, "इच्छा" झूटे माँहिं।
यतन विखे मैं "त्राण" हूँ, सब जय मुझ से आँहिं ॥१२५॥
"वासुदेव" वृष्णी विखे, "अर्जुन" पाण्डव माँहिं।
मुनियों में मैं "व्यास" हूँ, "उशन" ज्ञान में आँहिं ॥१२६॥

दोहा

हो कर "दराडा" करत हूँ, सब सन्सार अधीन ।
"नीती" बन कर जगत को, वश में रखूँ सुखीन ॥१२७॥
ज्ञानी का मैं "ज्ञान" हूँ, ध्यानी का मैं "मौन" ।
स्थावर जङ्गम के विखे, मम "सत्ता" बिन कौन ?॥१२८॥
सब हो का मैं "बीज" हूँ, सब ही का मैं अन्त ।
"तत सत" मुझ को कहत हैं, पुनः "ब्रह्म" सब सन्त ॥१२९॥
मेरे गुन अन गिन्त हैं, मेरी शक्त अपार ।
जो कुछ मैं वरनन कियो, अल्प मात्र यिह सार ॥१३०॥
माया में जो कुछ "बड़ो", जो कुछ आँहि "प्रधान" ।
जो कुछ भासे "प्रबल" पुन, मोर समान पछान ॥१३१॥
इन का जो आदर करे, मेरी पूजा आँहिं ।
गुरु, नृप, ताता, मात पुन, भर्ता, श्री इन माँहि ॥१३२॥
माया युत मम रूप यिह, अर्जुन, बुध में धार ।
इस रीती से सर्व में, मेरा तत्व विचार ॥१३३॥
पर इतने तक मैं नहीं, मम अनन्त विस्तार ।
मेरे इक कोने विखे, फैला यिह सन्सार ॥१३४॥

श्री कृष्ण सर्वात्मा है

दोहा

मम फुरना यिह जगत है, नाम रूप जग मान ॥
नाम रूप गुण ते परे, कौन सके क्या जान ?॥१३५॥

दोहा

नाम रूप भ्रम के परे, आतम ही पसराइ ॥
जो वस्तू हो अलख वुह, आतम बिन क्या हाइ ?॥१३६॥
आतम ही आतम रम्यो, ऊपर, नीचे, मीत ।
मैं आतम, तू भी वुही, मैं, तू, वुह, भ्रम भीत ॥१३७॥
आतम सब ही जान कर, सब को कर हित, प्रेम ।
इस रीती से भक्त बन, ले श्री, शाँत अर खेम ॥१३८॥

इति दशम अध्याय

सङ्क्षेप

दोहा

कृष्ण मया से हो गयो, पूरण दशम अध्याय ।
जिस में वर्णन हैं किये, परमानन्द उपाय ॥ १ ॥
अपना चिन वर्णन करें, *माधव* "आतम मात्र" ।
लीन भाव आतम विखे, देवे चित एकाग्र ॥ २ ॥
भक्ती और इकाग्र चित, हैं दोनों पर्याय ।
ताँ ते भक्ती को कहें, परमानन्द उपाय ॥ ३ ॥
"प्रेमा भक्ती ब्रह्म है", यों बोले *भगवान* ।
प्रेम अर सेवा से मिले, मुक्ती अर निर्वान ॥ ४ ॥

सवैया

जिन के रिद में नित शाँत रहे, अर द्वैत सभी जिन जार दियो है ।
वुह ब्रह्म स्वरूप अहें सद ही, तृष्णा अर क्रोध बिसार दियो है ॥
सब सूँ हित प्रेम अहे तिन का, जिन हर्ष अर शोक निवार दियो है ।
ममता बिसरे, समता पसरे, जिन आतम माँहि विचार दियो है।५।
इस रीत अहे भगती उस में, जिस की बुध सर्व हि ब्रह्म लखे है ।
पुन द्वैत लखे भ्रम ही भ्रम जो, सद शाँत अर प्रेम विखे विचरे है ॥
आनन्द मने तप दान विखे, पर अर्थ शरीर अपना तज दे है ।
रघुनाथ अहार विहार विखे, जो सञ्जम अर सतता वरते है॥६॥

सवैया

एकान्त रहे, निःचिन्त रहे, निर्शोक रहे, जिस में भगती ।
सन्तुष्ट रहे, निर आश रहे, तिस को नहिं नार लुभा सगती ॥
सुख त्याग विखै समझे सद वुह, रस प्रीत उसे करवी लगती ।
रघुनाथ सदीव अखोब रहे, कितने झगड़े न परें जगती ॥ ७ ॥
इस रीत असन्त अर सन्त विखे, यिह भेद अहे जग में मम भाई ।
जब सन्त सभे निज रूप लखे, निर सन्त लखे सब को अपराई ॥
निर सन्त जरे सद ही तृष्णे, अर सन्त रहे सद निर तृष्णाई ।
जब सन्त वृती निर वैर रहे, निर सन्त लरे दिन रात लराई॥८॥
फिर बाखत हैं हम को हित से, अर अर्जुन को हित से *कृष्णाई ।*
"मैं आद सनातन वृद्ध अहूँ, बल वान पुनः सब से अधिकाई ॥
इस रीत बलिष्ट अर वृद्ध, पती, विद्वान, गुरू अर बाप अर माई ।
पुन सन्त, प्रधान् अर नृप, तेजी, धन वान सभी प्रतिबिम्ब ममाई ॥९॥
इन की जन जो सद सेव करें, वुह टहिल अर सेव मुझे पहुँचाई ।
अपमान निरादर जोइ करें, इन का, मुझ को वुह जूत लगाई ॥
सब शाँत अर मान अर ज्ञान अर श्री, अधिकों की सेव विखे मिल जाई ।
इन को समझो प्रतिमा प्रभ को, यूँ हैं समझावत कृष्ण *कन्हाई१०*

अथ एकादश अध्याय

अर्जुन उवाच

दोहा

हे भगवन तव मया कर, मेरो मोह विनास।
आतम विद्या दान कर, कीनो मोहि प्रकास ॥१॥
सब में तुम को लखत हूँ, सब को तेरे माँहिं।
हर कोई हरि दीखता, शाँत तृप्त मम आँहिं ॥२॥
जग की उतपत लीनता, सब दी मोहि सुनाइ।
कैसे फुरने से उगे, किम अफुरे बिसमाइ ॥३॥
ब्रह्म लखूँ तव तत्व को, चींटी को न दुखाइ।
काहे ते इस माँहि भी, तू ही रह्यो समाइ ॥४॥
समझूँ "जीव" अर "ब्रह्म" में, "इच्छा" का ही भेद।
इच्छा सङ्कोचन करे, अल्प-पना में खेद ॥५॥
ज्यूँ ज्यूँ इच्छा अल्प है, त्यूँ त्यूँ जीव महान।
ऊँचे से ऊँचा बने, जीव एक बलवान ॥६॥
ऐसे "ऊँचे जीव" को, "ईश्वर" बाखें सन्त।
सो "ईश्वर" तव "लहिर" है, तू है "ब्रह्म महन्त" ॥७॥
ऐसो निश्चय है मुझे, पर उतकण्ठ सिताय।
तेरे "ब्रह्म स्वरूप" में, देखूँ "ईश्वर भाय" ॥८॥

दोहा

देखूँ कैसे जगत में, तोर प्रबन्ध सहाइ ।
कैसे तव इच्छा बिना, तिनका भी न हिलाइ ॥९॥
देखूँ कैसे इन्दु रवि, तव इच्छा के पूत ।
कैसे पृथिवी, जल, पवन, अग्नी, नभ, तव भूत ॥१०॥
ऐसी इच्छा तीव्र है, मेरे चित में, ताँत ।
धार अनुग्रह, दया कर, कीजे मुझ को शाँत ॥ ११ ॥
अपने "ईश स्वरूप" को, मुझ को दो दिखलाइ ।
जिस में अविध, अकास पुन, तारागण दरसाइ ॥१२॥
यदि देखें मैं अबल हूँ, मम चक्षू निर रक्त ।
धार मया मो नेत्र दें, और दिलाएँ शक्त ॥१३॥
जिस चक्षू से लख सकूँ, तोर विराट स्वरूप ।
वुह चक्षू मो दान दें, सूक्षम, तीव्र, अनूप ॥१४॥
फिर दिखलाएँ मया कर, तव विराट जो आँहिं ।
जिस को लख मैं लीन हूँ, तुद पूरन के माँहिं ॥१५॥

श्री भगवान उवाच

दोहा

देख, देख, तू देख अब, मोर अगिन्ते रूप ।
नाना विध, नाना वरन, नाना नाम, अनूप ॥१६॥
आदित रुद्र अर वसू पुन, अश्विन जुग तू देख ।
मारुत पुन अश्चर्य शत, हे भारत, तू पेख ॥१७॥

दोहा

सर्व ओर सब ठौर में, ताँ का मुख दरसन्त ।
थे अनन्त भुज, पाद, कर, जेभा, करण अनन्त ॥२७॥
यदि चमकें आकाश में, रवि सहस्र सम काल ।
तो उस तेज प्रताप की, उपमा हो, जग पाल ॥२८॥
कृष्ण पिण्ड में दृष्ट था, सारा ही ब्रह्माण्ड ।
देख देख चक्रित हुआ, रथ में बैठा पाण्ड ॥२९॥
विस्मय हो कर नमः की, ईश पाद सिर धार ।
रोम खरे, कर जोर कर, यों कीनो उच्चार ॥३०॥

अर्जुन उवाच

सवैया

अशचर्य अहे, अशचर्य अहे, *मधुसूदन ईश स्वरूप, मुरारी।*
सब देव अर इन्द्र प्रकाशत हैं, रवि चन्द्र समा तव देह मँझारी ॥
पुन देखत हूँ अशचर्य महा, ब्रह्मा तुद में कमलासन धारी ।
पुन सर्व रिषी अर नाग सभी, सब सिद्ध मुनी सब पौन अहारी ।३१।

अशचर्य महा, अशचर्य महा, तव रूप अनन्त अहें सब जाई ।
इतने, मुख पाद अर नेत्र अहें, इतने कर हैं कुछ अन्त न आई ॥
तव आद न मध्य न अन्त अहे, नहिं मात पिता तुमरा कृष्णाई ।
तुम ईश्वर हो, परमेश्वर हो, नहिं देश न काल तुम्हें बन्धाई ।३२।

सवैया

अशचर्य अहे, अशचर्य अहे, तव तेज अनेक प्रभाकर न्याईं ।
तुम तेज प्रताप स्वरूप अहो, बिजली चमके तुम में हर थाईं ॥
कर चक्र, गदा पुन ताज शिरे, निर खोव, अभय, सब के सिर साईं ।
तव झल मल और भरक तव से, सब देवन की अखियाँ चुँधियाईं ।२३।

तुम को नहि बुद्ध विचार सके, पुन यम नहिं मार सके तुम को ।
सब में, सब से, सब आद, अहो, माया नहिं जार सके तुम को ॥
सब ऋद्ध अर सिद्ध निधान अहो, नहिं कोइ बिसार सके तुम को ।
तुम वृद्ध सनातन पुरुष अहो, नहिं काल बिगार सके तुम को ।२४।

तुमरा नहिं आद अर मध्य अहे, नहिं अन्त अहे तुमरो जग स्वामी ।
तव शक्त अपार अनन्त अहे, है पूरन तू, पुन अन्तरयामी ॥
ससि सूर अहें तव नेत्र उभय, मुख पावक है नभ में बिसरामी ।
हो मूल अधार सभी जग का, पुन दीसत हो सब रूप अर नामी-२५

जल में अर व्योम विखे तुम हो, अग्नी अर पौन विखे तुम हो ।
सूरज अर चन्द्र विखे तुम हो, पुन तीनों भौन विखे तुम हो ॥
पुन ज्ञान प्रमाद विखे तुम हो, पुन भाषन मौन विखे तुम हो ।
पुन चेतन और अचेतन में, पुन ताम्र अर सौन विखे तुम हो।२६।

सब देवन साथ मुनिन्द्र चले, कर जोरी दर्श तिहार कराईं ।
तव कोमल पद पर सीस धरें, रिद में सब आश असीस धराईं ॥
सब सिद्ध अर साध प्रशन्स करें, तव माया की सब उसतत गाईं ।
चरनों पर दृष्ट टिकाइ खरे, सब देव अर मानुष और गुसाईं॥२७॥

सवैया

सब यक्ष् अर दैत् अर सिद्ध पुनः, सब मारुत रुद्र अहें विसमय।
सब साध अर आदित विश्व पुनः, सब अश्विन हैं दिखलावत भय॥
गन्धर्व सभी वसु और सभी, अर औषमपात अहें लज मय।
अशचर्य भरे सब काँपत हैं, डर से पुन ताकत हैं तव जय॥३८॥

तव वप विस्तीरण देखत ही, भयभीत भये सब लोग लुगाई।
तव नेत्र अर वक्त्र अनेक पुनः, तब टाँग अर पाद बिना गिन्ताई॥
तव बाहु महान, महा उदरा, तव दन्त भयङ्कर, जीभ महाई।
इन सर्व महा को देख सभी, अशचय अहें अर हैं बिसमाई।३९।

तब रङ्ग अनेक, प्रकाश महा, तव सीस अकास उलङ्घत जाई।
तब नेत्र विशाल, खुले मुख को, भय से मम आँख न देख सकाई॥
तव शङ्ख महा का नाद सुने, मन काँपत है, अर देह् कुमलाई।
हे विश्न, तिहार प्रकाश तले, सब ओर प्रकाश परे छुप जाई॥४०॥

सम काल अर यम के दन्त खुले, तव मुख के भीतर, हे जग नाथा।
तेहँ देखत भय अर पीर चढ़े, अर प्राण तजे मम वप का साथा॥
नहिं जान सकूँ अब जाऊँ कहाँ, अर कैस चले मम अश्व् अर राथा।
पकरो मुझ को, मम रक्ष करो, बिनती मम है, प्रभु, टेकत माथा।४१।

दुर्योधन आदिक कौरव जो, सब के सब धावत तव मुख माहीं।
उन के सँग जेतक नृप् आहें, वुह भी हैं जावत तव मुख माहीं॥
तव दन्त भयङ्कर की चकियाँ, तेहँ चूर बनावत तव मुख माहीं।
मम शत्रू सेन महा जो है, सब रक्त बहावत तव मुख माहीं।४२।

सवैया

ज्यों आपे धावत दौरत हैं, जग की नदियाँ सब सागर रलने ।
त्यूँ आपे कौरव वीर सभे, तव सिन्ध विखे हैं जावत गलने ॥
ज्यों दीपक पास पतङ्ग उड़ें, अर जाँइँ स्वतः सब पावक बलने ।
त्यों शूर सभी दुरयोधन के, तव मुख के अनले जावत जलने।४३।

तव जीभ अगिन्तक चाटत हैं, तव सृष्टी, पावक लाट समाना ।
तव तेज भरे अवकाश सभी, तव ज्योत प्रकाशत चन्द्र अर भाना ॥
तव पूरक से सब जीवत हैं, तव रेचक से सब ही कुमलाना ।
इस रीत तुम्हें प्रभु देखत हूँ, अब काल स्वरूप, पुनः जग प्राना॥४४।

अब धार कृपा सङ्कोच करो, अपना विस्तीरन रूप *मुरारी* ।
मम अल्प रिदय डर से थरके, अर काँपत है, मम देह *बिहारी* ॥
मम पूज्य अहो, मम देव अहो, सम बालक हूँ अब शरन तिहारी ।
अपना अब रूप प्रछिन्न धरो, विचरो अब *कृष्ण शरीर* मँझारी४५

श्री भगवान उवाच

चौपाई

काल अहूँ मैं सब का हरता। सब कोई मम मुख से डरता ॥
ऊँच नीच सब को मैं खाऊँ। पर मैं स्वय इस्थित रहि जाऊँ॥४६॥
वीर शूर जितने हैं सारे। मृत्यू के मुँह ने सम्भारे ॥
मर जाएँगे सब ही योधे। तुम ही केवल बच जाओगे ॥४७॥
ताँ तें उठ, लड़, अर जय जीत। चिन्ता रिद में धर नहिं, मीत ॥
मैं ने सब को डारा मार। बाहिर से अब तू सिङ्गार ॥४८॥

चौपाई

उन की मृत्यु है हो चूकी। अब प्रत्यक्ष वुह तुम से होगी ॥
समझो उन को बुत माटी के। धक्के से अब मर जाएँगे ॥४९॥
पाप उन के हूए हैं पूरे। देह उन के समझो सब कूरे ॥
स्वप्न प्रपञ्च न्याईं भासें। जागन से सब झूट प्रकासें ॥५०॥
ताँ ते कर मो पर विश्वास। मन से तज चिन्ता अर त्रास ॥
राग द्वेष से हो कर हीना। लड़, पर होकर हित से भीना॥५१॥
इस रीती से जय तव होई। अर विस्तीरन राज्य मिलोई ॥
राज्य भोग, अर कर पुन दाना। कोमल चित, पुन हो निर्माना॥५२॥
भीष्म अर द्रोणाचारज, कर्ना। सब ही ने इस युध में मर्ना ॥
है प्रारब्ध योग यिह भाई। इस में सन्शय समझ न राई॥५३॥
ताँ ते बे डर हो कर मार। चित से सन्शय सकल निकार ॥
निः सन्शय तुमरी जयकारी। होगी इस युध भूम मँझारी ॥५४॥

सञ्जय उवाच

दोहा

केशव का यिह वाक सुन, अर्जुन हो भयभीत।
काँपत, थरकट, अटकते, बोला पुन यिह गीत ॥५५॥
कर जोरे, मस्तक निमा, गर्व, गुमान निवार।
नम्र भूत हो गिर पड़ा, कृष्ण पाद शिर धार ॥५६॥
अटकत जीभा से करे, गायन केशव गीत।
केशव जी कीरत सुनें, अपनी दे कर चीत ॥५७॥

अर्जुन उवाच

श्री कृष्ण स्तोत्र

तोटक छन्द

तू आतम है सब का *कृष्णा* । सब को तुद ही की है तृष्णा ॥
तुद में हो इस्थित शाँत करें । तुद ज्ञान बिना सब ही झगरें॥५८॥
आनन्द स्त्रवे तव दर्श किये । अर शाँत निवास लगाइ हिये ॥
सब आपद और कलेश सभी । नहिं आइ सकें तव ओर कभी॥५९॥
तुमरे भय से सब दैत नसें । तुद माँहि सभी सुर देव बसें ॥
सब सिद्ध अर साध नमाम करें । तव चरनन पे सब सीस धरें॥६०॥
तू आतम है, परमातम है । तुद बिन सब शून महा तम है ॥
सुख चैन सभी अर शाँत सभी । बरसें तव दर्शन होत जभी ॥६१॥
सब दोष हटें तव दर्शन से । सब राग अर द्वेष नसें मन से ॥
मन भी जो द्वैत अर भेद मने । गल और पिगल कर नष्ट बने॥६२॥
तव दर्शन से सब पाप हटें । अर पुन्य सभी हित सूँ लिपटें ॥
न गिलान फुरे, न विरोध फुरे । सहिजे बृत समता माँहि जुरे॥६३॥
पुन धीरज एत प्रकाश करे । दुख सङ्कट पीर सभी बिसरे ॥
सन्तोष पुनः आनन्द झरे । तृष्णा अर काम अर लोभ मरे॥६४॥
सब जगत प्रपञ्च दिसे सुपना । कारन ताँ का भ्रम और मना ॥
भासे रूपम सन्सार सभी । नहिं इस्थिर होवत रूप कभी॥६५॥
अमृत इतना तव दर्शन में । सब अन्तर बाहिर रोग नसें ॥
तव दर्शन में इतनी तृपती । अति रङ्क लगे परमेश्वर भी ॥६६॥

तोटक छन्द

सब ही के कारन आप अहो। सब काज सँवारन आप अहो ॥
सब देवन के शिर ताज अहो। सब राजन के अधिराज अहो॥६७॥
तुम अक्षर, नित्य सनातन हो। तुम अगम, अपार, पुरातन हो ॥
तुम सत्य असत्य उभय में हो। तुम हार विखे अर जय में हो॥६८॥
तुम ज्ञेय अर ज्ञान अहो दोनो। तुम ध्येय अर ध्यान अहो दोनो ॥
तुमरा सन्सार अहे फुरना। तुम "है" अर "नाँ" जीवन, मरना६९
रवि चन्द्र विखे तुम तेज अहो। नव ग्रह पूजें सद ही तुम को ॥
तुम धन्य अहो, तुम धन्य अहो। सब में सब के आधार, प्रभो ॥७०॥
तव शक्त अपार अनन्त अहे। तव कल अर बल अन गन्त अहे ॥
तुम सब में हो, तुम सब कुछ हो। तुमरे बिन कोइ न आन, प्रभो ।७१।
यदि मित्रन वार हुए मुझ से। कुछ दूषन हास विलास विखे ॥
यदि मैं नहिं जान सका महिमा। तुमरी, हे तात, दिखाउ खिमा ।७२।
मम बोल कबोल भुलाउ, पिता। मम चाल कुचाल मिटाउ, पिता ॥
यों बालक जान लगाउ गले। भूलो मेरे अवगुण सकले ॥७३॥
मैं मानुष तुम को जानत था। अर मित्र तुम्हें मैं मानत था ॥
मैं ने तुम को अब जाना है। अर परमातम पहिचाना है ॥७४॥
दे ज्ञान प्रकाश मुझे ईश्वर। धरिये स्वय कर मेरे सिर पर ॥
मम पाप हरो, मम दोष हरो। मुझ को कल्यान स्वरूप करो ॥७५॥
तुम हो ताता सब सृष्टी के। सत गुरु से भी तुम बहुत बड़े ॥
नहि कोय समान तुम्हारे जी। तुम से बल लेवत ईश्वर भी ॥७६॥

तोटक छन्द

तव चरनन को मैं पूजत हूँ। अर मस्तक निव कर टेकत हूँ॥
आशीर करो चित से मुझ को। मम सङ्कट और कलेश हरो॥७७॥
जैसे सुत से वर्तें ताता। अथवा मँगता से ज्यूँ दाता॥
ज्यों पत्नी सूँ वर्तें भरता। त्यूँ मुझ सूँ हित कीजे करता।७८।
मम चीत हुलासत फूटत है। पर मन डर से थर थरकत है॥
हे दीन दयाल, कृपा करिये। स्वय मानुष रूप पुनः धरिये॥७९॥
दिखलावें मुझ को चार भुजा। ले शङ्ख, सरोज अर चक्र, गदा॥
पुन मोर मुकुट धरिये सिर पे। इस रीत बनाउ प्रसन्न मुझे॥८०॥

श्री भगवान उवाच

दोहा

हे अर्जुन, कीनी कृपा, मैंने तुद पे आज।
खुल कर दिखलाया तुम्हें, सारा जगत समाज॥८१॥
वप प्रछिन्न को तोड़ कर, धारा यों विस्तार।
मुझ ही में देखा अहे, तुम ने सब सन्सार॥८२॥
भाग बड़े हैं, अर्जुने, तेरे जग के माँहि।
दर्शन दुर्लभ ऐस जो, तुझ को प्रापत आँहि॥८३॥
तेज, प्रताप, प्रकाश मम, शक्ती, बल, पुन मान।
तुमरे बिन देखा नहीं, अब तक किसी पुमान॥८४॥
यज्ञ न वेद न नेम पुन, उग्र तपस, नेहँ दान।
व्रत, विद्या नहिं कर्म पुन, लाय सके यिह ज्ञान॥८५॥

दोहा

तेरे भाग महान हैं, तव ललाट बलवान ।
तुझ को यिह दर्शन भये, सहिजे, बिन कुछ हान ॥८६॥
डर कुछ भी तुम मत करो, मत घबराओ, मीत ।
इस विस्तीरन रूप को, देख न हो भय भीत ॥८७॥
चित को अब इस्थित करो, उज्जल बुद्ध बनाइ ।
करता हूँ सङ्कोच अब, विश्व रूप को, भाइ ॥८८॥
देखो अब मुझ को वुही, जैसे था मैं पहिल ।
मानुष वप धारत अहूँ, तास कमाओ टहिल ॥८९॥
देखो मुझ को, अर्जुने, अब तुम *कृष्ण स्वरूप* ।
अश्व चलाते राथ में, पर भूपन के भूप ॥९०॥

सञ्जय उवाच

दोहा

यूँ अर्जुन से बोल कर, *वासुदेव* का रूप ।
सुकुचित हो कर फिर भया, *सुन्दर कृष्ण स्वरूप* ॥९१॥
अर्जुन का भय लय हुआ, कम्पत देही सोम ।
कृष्ण मनोहर देख कर, फूले ताँ के रोम ॥९२॥

अर्जुन उवाच

चौपाई

कृपा समुद्र, क्षमा भन्डारा । जाऊँ तुम पर सद बलिहारा ॥
वृत कम्पत मेरी अब ठैरी । निर्मल हूई बुद्धी मैरी ॥९३॥

चौपाई

मानुष रूप आप जो धारा। मम भय त्रास सभी को मारा॥
अब मैं सोम चीत हो आया। अर मैं ने सब शोक भुलाया॥९४॥

श्री भगवान उवाच

दोहा

विश्व रूप जो देखिया, मेरा तुम ने मीत।
अतिशय दुर्लभ कठिन है, देखन ताँ का नीत॥९५॥
देवन के भी भाग में, यिह दर्शन नहिं होइ।
इस की अभिलाषा विखे, सब ही सुर नर मोइ॥९६॥
वेद पाठ अर नेम, ब्रत, पूजा, भेट अर दान।
हे अर्जुन, नहि ला सकें, कब हूँ ऐसा ज्ञान॥९७॥
केवल भक्ती सर्व की, जिन में मैं भरपूर।
अथवा मैत्री, प्रेम पुन, लाइ सकें यिह सूर॥९८॥
जो देखत है सर्व में, मेरा मन्दिर नीत।
वुह जन विस्तीरन लखे, मम शरीर को मीत॥९९॥
सब को मुझ में सर्व में, मुझ को वुह दरसाइ।
इस रीती वुह जगत को, मेरी देह बनाइ॥१००॥
ज्ञान नयन से देखता, मुझ में ही सन्सार।
सूर्य, चन्द्र, ग्रह, भूम का, मुझ ही में विस्तार॥१०१॥
मूरख अर विद्वान पुन, निर्धन अर धनवान।
नीच, ऊँच सब में लखे, मेरा तत्व समान॥१०२॥

दोहा

इस ते उस के चीत से, राग, द्वेष उठ जाइ ।
निर गिलान निर वैर नित, सब सूँ प्रीत निभाइ ॥१०३॥
बुरा न बाखे कास को, प्रेम कुण्ड में लीन ।
शत्रू मित्र समान तेहँ, सम तेहँ उत्तम खीन ॥१०४॥
मुझ को प्रेम स्वरूप लख, प्रेमे रहे समाइ ।
आपद और अनिष्ट पुन, दुख को गले लगाइ ॥१०५॥
"ऐसे जन" अर *कृष्ण* में, रञ्चक भेद न आँहिं ।
कृष्ण रूप समझो तिन्हें, "आतम पूजन" जाँहिं ॥१०६॥

इति एकादश अध्याय

सङ्क्षेप

दोहा

एकादश अध्याय में, कृपा अनुग्रह धार ।
कृष्ण देव महाराज ने, धरा विराट अकार ॥१॥
ऊरन देही के विखे, पूरन दियो दिखाइ ।
अल्पगता के बीच में, सर्वगता दरसाइ ॥२॥
इस ते सिध है यिह किया, "मेरा सब में ज्ञान ।
"इष्ट अनिष्ट विखे पुनः, दुख सुख माँहि समान" ॥३॥
जो सब सूँ ही हित करे, काहू को न दुखाइ ।
सो ही व्यापक कृष्ण में, जीते मरे समाइ ॥४॥
राग द्वेष को त्याग कर, राखे बृती समान ।
ऐसो मानुष जग विखे, है मूरत भगवान ॥५॥
अभिप्राय इस ध्याय का, समझो यिह रघुनाथ ।
प्रेम सहित वर्त्तो सदा, बोलो हित के साथ ॥६॥

अथ द्वादश अध्याय

अर्जुन उवाच

दोहा

दो प्रकार के भक्त हैं, भगवन, जग के माँहिं ।
इक तेरी भक्ती करें, इक निर्गुन को ध्याँइं ॥१॥
इक तुझ ही में लीन हों, प्रेम रूप हो जाँइं ।
इक आँखों को मूँद कर, अगम अगोचर ध्याँइं ॥२॥
इन दोनों में कौन सा, उत्तम है भगवन्त ।
दया धार वर्णन करें, हे सन्तन के सन्त ॥३॥

श्री भगवान उवाच

दोहा

जो मुझ में विश्वास धर, मेरी सेव कमाँइं ।
मुझ ही को निज सीस रख, हित सूँ दिवस निभाँइं ॥४॥
जो मुझ ही को सर्व में, व्यापक देखें नीत ।
अर सब की भक्ती करें, मोह, द्वेष को जीत ॥५॥
ऐसे श्रेष्ठ पुमान जो, मेरी आँखों माँहिं ।
सब भक्तों से ऊँच हैं, प्रेम तिलक है ताँहिं ॥६॥
अर दूसर जो भक्त हैं, जो पूजें अव्यक्त ।
जो अक्षर, अदृष्ट पुन, निराकार के भक्त ॥७॥

दोहा

जो इन्द्रिय को मार कर, सिर पर रखते त्याग ।
निश्चल बुद्ध बनाय कर, धारें नित वैराग ॥८॥
ऐसे भी जो भक्त हैं, वुह भी मुझ में आँहि ।
पर यिह मारग कठिन तर, नहीं गृहस्थ सुहाँइं ॥९॥
तप, साधन पुन त्याग पुन, मन मारन अत्यन्त ।
निराकार की भक्ति यूँ, जग में सन्त करन्त ॥१०॥
दुस्तर पर यिह भक्ति है, सब कर सकत न लोग ।
इस ते मेरी दृष्ट में, मेरी भक्ती योग ॥११॥
मैं हूँ सब का आतमा, सब मेरे हैं रूप ।
जो सब की सेवा करे, वुह है भक्त अनूप ॥१२॥
मीठा बोले नम्र हो, करे त्रिधा पुन दान ।
कथा सुनावे प्रेम सूँ, देवे आतम ज्ञान ॥१३॥
शास्त्र बना कर पुन हरे, बुध का तम जो मोह ।
वुह मेरी भक्ती करे, भावे मुझ को सोह ॥१४॥
कोमल चित हो जास का, दया कृपा से पूर ।
दुखिये को सुख देत जो, वुह भक्तन में सूर ॥१५॥
पन्खी को जो चोग दे, कीरों को जो भोग ।
पशवों की सेवा करे, यिह है भक्ती योग ॥१६॥
भूखे को जो अन्न दे, प्यासे को जो तोय ।
नङ्गे को जो वस्त्र दे, भक्त भूप है सोय ॥१७॥

दोहा

आए का आदर करे, शत्रु को दे मान।
निन्दक की सेवा करे, तिस को भक्त पछान ॥१८॥
अन्न बाँट कर खाइ जो, कूकर आद रजाइ।
सेवा करे अतिथ्य की, ऐसो भक्त कहाइ ॥१९॥
ममता तज दाता बने, गुप्त करे जो दान।
तन, मन, धन पर अर्थ दे, ऐसो भक्त पछान ॥२०॥
दाँएँ कर के दान से, बाँयाँ हाथ अजान।
ऐसी विध से दान दे, गुप्त दान तेंह मान ॥२१॥
कूप खुदावे, अन्न दे, जूता, लोटा देइ।
लोई दे, अर आग दे, भक्त कहावे सेइ ॥२२॥
गृह देवे, बर्तन पुनः, और बनाइ सराय।
पुस्तक आलय खोल कर, जग का ज्ञान बढ़ाय ॥२३॥
सन्तों के जो ग्रन्थ को, उद्दम कर छपवाइ।
ऐसो जन मम भक्त है, जग का तिमर नसाइ ॥२४॥
इस रीती से भक्त मम, देवें पर सुख अर्थ।
उतनी देनी हैं सफल, जितनी ताँहि समर्थ ॥२५॥
चित की भावन तुलत है, तुले न वस्तू भार।
तिल का दानी अधिक है, यदि तेंह चीत उदार ॥२६॥
अश्वमेध भी अफल है, यदि करिये हङ्कार।
यदि जग की शोभा निमित, करिये यिह व्यवहार ॥२७॥

दोहा

इस रीती मम दृष्ट में, प्रेम, दान की भक्ति।
सब से उत्तम दीखती, उपजायक सुख शक्ति ॥२८॥
जो जन सकले कर्म ही, मेरी भेंट चढ़ाइँ।
अर्थ एह जो प्रेम सूँ, सब ही कर्म कमाइँ ॥२९॥
उन के, अर्जुन, सहिज ही, जन्म मरण मिट जाँइँ।
देह बन्ध से मुक्त हो, मेरा आनँद पाँइँ ॥३०॥
ताँ ते, अर्जुन, प्रेम धर, मुझ में रहो समाइ।
यदि मम सेवा में रहो, मुक्त रूप हो जाइ ॥३१॥
मम स्वरूप है आतमा, मम लक्षण है प्रेम।
ताँ ते जो हैं प्रेम युत, उन को नित है खेम ॥३२॥
मुझ को सब में देख कर, सब की सेव कमाइ।
वुह सेवक मम भक्त है, मुझ में सदा रहाइ ॥३३॥
यदि सेवा नहिं कर सके, शुभ चिन्तन को धार।
दिवस रात सब भूत की, भलियाई वीचार ॥३४॥
शुभ चिन्तन भी जे नहीं, हो सकता, हे मीत।
धन दे दान नमित्त तू, किर्पणता को जीत ॥३५॥
दान यदी नहिं कर सके, फल इच्छा का त्याग।
जो जो कर, उस कर्म में, होय लीन तू लाग ॥३६॥
कर्म विखे जो लीन हो, कर्म रूप हो जाइ।
वुह भी, अर्जुन, मुझ विखे, स्वतः स्वभाव समाइ ॥३७॥

दोहा

फल की इच्छा जिस नहीं, कर्म मात्र जिस ध्यान !
लीन भये में रस उसे, आवे बिन उपमान ॥३८॥
फल तो केवल रूप है, रूप असत्य कहाइ ।
काहे छिन भङ्गुर लिये, बिरथा स्वास गँवाइ ॥३९॥
आँहिं कर्म फल कर्म में, कर्म विखे हो लीन ।
इस विध निर सङ्कल्प हो, अमृत रस तू चीन ॥४०॥
ज्ञान् उत्तम अभ्यास से, उस से उत्तम ध्यान ।
फल इच्छा का त्याग जो, सब से उत्तम मान ॥४१॥
"इच्छा त्याग" अर "शाँत" हैं, दोनों एक स्वरूप ।
त्यागी वैरागी लहें, सहिजे शाँत अनूप ॥४२॥

केवल प्रेमा भक्ती ही मुक्ति दायक है

तोटक छन्द

सचली भक्ती है "प्रेम" विखे । "जग के सेवक" ही भक्त सचे ॥
इस ही भक्ती से "मुक्त" मिले । इस ही को वेदा योग कहे ॥४३॥
प्रेमी, दानी सेवक साचा । अर कर्म विखे चित लय जिस का ॥
इन ही को जीवन मुक्त कहें । इन ही के सञ्चित कर्म जलें ॥४४॥
मन मरता है कुछ करने से । द्वेष और घृना से लरने से ॥
शत्रू से प्रीत लगाने से । दुख आपद के सहि जाने से ॥४५॥

तोटक छन्द

"मन मारन" ही तो "भगती" है । पर "मन मारन" हो "जगत विखै"॥
इस के मारन की सुगम कला । सब सूँ है प्रेम् अर सर्व भला ।५६।
ताँ ते यिह भगती उत्तम गिन । "भगती" नाँहीं "माला फेरन" ॥
प्रेमा भगती ही नष्ट करे । "सञ्चित" करमों को "धीरज" से५७
पुन "आगामी" भी यूँ सँवरें । पाँचों विषयों को जब जीतें ॥
यूँ मुक्त बनें, जीते जी ही । दुख आपद डङ्क न लगत कभी ।५८।
पुन जब "सञ्चित" सब भोग चुकें । अर "आगामी" भी कुछ न रहें ॥
तब मर कर योगी मुक्त लहे । तब योगी जी हैं ब्रह्म भये ॥५९॥
यिह है "प्रेमा भगती" का फल । तृप्ती का है यिह अमृत जल ॥
"द्वेषी भगती" जो बन ढूँडे । उस से न कदाचित तृप्त मिले।६०।
जो जग के दुक्खों से भागें । वुह जन कैसे सन्सार तरें ॥
तैरन तो होवत परिश्रम से । नहिं होवत तीरे बैठन ते ॥६१॥
यदि प्रेम की नाउ तयार करो । अर दान अर धीरज पक्ष धरो ॥
सेवा अर भगती चप्पू लो । तो सहिजे ही सन्सार तरो ॥६२॥

भगवान का प्यारा

चौपाई

द्वेष बिना विचरे जो भाई । जिस को चाहे लोग लुगाई ॥
कोमल चित पुन दीन दयारा । *वुह जन, अर्जुन, मेरा प्यारा*
जग में हो जो निर हङ्कारा । रोग समय जिस माँहि सहारा ॥
कृपा निधी पुन होइ उदारा । *वुह जन, अर्जुन, मेरा प्यारा*

चौपाई

सन्तोषी, पुन इस्थित धर्मा। आतम युत, पुन उज्जल कर्मा ॥
मेरा जिस को नित वीचारा। *वुह जन, अर्जुन, मेरा प्यारा*
मन निग्रह, जो आतम ज्ञानी। दृढ़ मत, पुन जो निर अभिमानी ॥
निश दिन जिस को प्रेम विहारा। *वुह जन, अर्जुन, मेरा प्यारा*
जो काहू को दुख नहिं देवे। दिवस रैन सब ही को सेवे ॥
राग द्वेष अर भय से न्यारा। *वुह जन, अर्जुन, मेरा प्यारा*
निर इच्छत, शुच और विरागी। विषय लालसा जिस से भागी ॥
जिस को केवल भ्रम सन्सारा। *वुह जन, अर्जुन, मेरा प्यारा*
त्यागे जो सब ही आरम्भा। स्वतः सिद्ध में जो आनन्दा ॥
होय अछूत करे व्यवहारा। *वुह जन, अर्जुन, मेरा प्यारा*
जिस में मोह न और गिलानी। हार जीत जिस ने तुछ मानी ॥
सोम रिदय, जिस ने मन मारा। *वुह जन, अर्जुन, मेरा प्यारा*
मित्र शत्रु को सम जो देखे। मान अपमान समान परेखे ॥
शीत उष्ण, सुख दुख इक वारा। *वुह जन, अर्जुन, मेरा प्यारा*
उसतत निन्दा जेंह समानी। रोटी माटी सम कर खानी ॥
आपद में जो रहत निहारा। *वुह जन, अर्जुन, मेरा प्यारा*
रूखी सूखी अमृत देखे। साग मलाई को सम पेखे ॥
चित से त्यागे सब सन्सारा। *वुह जन, अर्जुन, मेरा प्यारा*
चीत न बाँधे काहू से भी। इस्थित प्रज्ञ रहे वुह योगी ॥
रल मिल भी रहिता, पुन न्यारा। *वुह जन, अर्जुन, मेरा प्यारा*

चौपाई

मेरी सीख धरे मन माहीं । आतम में जिस की थित आहीं ॥
इच्छा को जिस ने है जारा । *वुह जन, अर्जुन, मेरा प्यारा*
मुझ में राखे अति हित प्रेमा । मेरे अर्थ धरे ब्रत नेमा ॥
जिस का इष्ट देव *मैं कारा । वुह जन, अर्जुन, मेरा प्यारा*

श्री कृष्न के सुहिर्द

तोटक छन्द

जग को जो मीठा लागत है । जो दान दया से साजत है ॥
सन्सार जिसे अति प्रेम करे ।*वुह, अर्जुन, माम सुहिर्द अहे*॥
जो मुझ को देखे सब भीतर । अर फूले सब ही को खुश कर ॥
जिस को सब लोग लुगाइ चहे ।*वुह, अर्जुन, माम सुहिर्द अहे*॥
जो तन मन धन जग अर्प करे । सब कुछ को मेरा वित समझे ॥
जिस पर सब को विश्वास धरे ।*वुह, अर्जुन, माम सुहिर्द अहे*॥
जो जत धारी, अर सत धारी । इन्द्रय जित जो, अर मन मारी ॥
जो जग भीतर निर खोब रमे ।*वुह, अर्जुन, माम सुहिर्द अहे*॥
जिस को जग सेवा की चिन्ता । जिस का बल और समय सब का ॥
"पर" टहिल बिना जो छिन न रहे ।*वुह, अर्जुन, माम सुहिर्द अहे*॥
जो है शुभ चिन्तक सब ही का । सब सूँ राखे हित इक जैसा ॥
उपकार विखे कब हूँ न थके ।*वुह, अर्जुन, माम सुहिर्द अहे*॥

तोटक छन्द

जो स्वय निश दिन निर मान रहे। पर सब ही का सन्मान करे ॥
जो आपद को हित साथ सहे। वुह, अर्जुन, माम सुहिर्द अहे॥
जो तात अर मात सदा सेवे। अर भर्ता को नित ही सुख दे॥
गुरु देव अर सन्त सदा पूजे। वुह, अर्जुन, माम सुहिर्द अहे॥
भगवान गने जो ताता को। जिन के वीरज से उपजा सो॥
जिन के गुन लक्षन सोइ रखे। वुह, अर्जुन, माम सुहिर्द अहे॥
जो माता से स्वय ताता को। अधिकी समझे, यिह ज्ञाता हो॥
"ताता" "आतम" वत होत जिसे। वुह, अर्जुन, माम सुहिर्द अहे॥
"माता" को "माया" वत समझे। याँ ते ताता से न्यून लखे॥
यूँ ताता आज्ञा प्रथम मने। वुह, अर्जुन, माम सुहिर्द अहे॥
जो सत गुरु की सेवा समझे। सब से उत्तम इस जग माहे॥
जो सन्तन को तन, मन, धन दे। वुह, अर्जुन, माम सुहिर्द अहे॥
जो जूठ न बोले, कष्ट न दे। जो दोखा अर हिन्सा त्यागे॥
जो सद ही मीठा वाक कहे। वुह, अर्जुन, माम सुहिर्द अहे॥
निर बल की जो रक्षा करता। अर निरधन की सेवा करता॥
कङ्गालों को जो जन पाले। वुह, अर्जुन, माम सुहिर्द अहे॥
जो वाद विवाद न रञ्च करे। दूसर का वच सिर माथ धरे॥
जो "हारे" में निज "जीत" गने। वुह, अर्जुन, माम सुहिर्द अहे॥
निज करमों पर जो आँख रखे। सद ही जोई शुभ कर्म करे॥
जो पापन ओर कभी न चले। वुह, अर्जुन, माम सुहिर्द अहे

तोटक छन्द

जो जग में दास बने सब का। अर माँगे नित सरवत्र भला ॥
काहू का चित दुखिया न करे। वुह, अर्जुन, माम सुहिर्द अहे
जो ऊँच अर नीच समान लखे। जो दुख में हन्से अर गावे ॥
हस, गा कर जो विपदा निपटे। वुह, अर्जुन, माम सुहिर्द अहे
जो भावी भूत भुलावत है। चिन्ता अर शोक जरावत है ॥
जो बन जावे उस का सुख ले। वुह, अर्जुन, माम सुहिर्द अहे
जो भय से दूर सदा रहिता। नहिं राखे डर दुख आपद् का ॥
निश्चल मत, अर निर खोब चले। वुह, अर्जुन, माम सुहिर्द अहे
निर ममता को जो स्वर्ग गने। बिन वैर विरोध सदा विचरे ॥
शत्रू के जा कर पद चूमे। वुह, अर्जुन, माम सुहिर्द अहे
सुत दारा को इतना धन दे। जिस से तिन की मत स्रेष्ट रहे ॥
बाकी धन जो जग में बाँटें। वुह, अर्जुन, माम सुहिर्द अहे
नित सोम रहे, नित शाँत चखे। मेरा मन्दर हर वस्त लखे ॥
नहिं प्रीत करे, नहिं द्वेष रखे। वुह, अर्जुन, माम सुहिर्द अहे
मुझ को अप्ना आतम जाने। अर आतम को व्यापक माने ॥
इस विध हित धारे सब ही से। वुह, अर्जुन, माम सुहिर्द अहे
"दो" की भ्राँती जिस की मूई। माया जिस को छल ही हूई ॥
जग को जो भ्रम का कोट लखे। वुह, अर्जुन, माम सुहिर्द अहे
"मन" अर "जग" को जो इक माने। अर मन को "दो" का भ्रम जाने ॥
इस विध जो "दूई" को भूले। वुह, अर्जुन, माम सुहिर्द अहे

तोटक छन्द

वेदाँत रखे है दो तरफें । इक को "समझें" इक को "वरतें" ॥
जो वरतन की युक्ती जाने । *वुह, अर्जुन, माम सुहिर्द अहे*
"वरतारे" को ही "धर्म" कहें । अर धर्म यथा योगी होवें ॥
अधिकार् अनुसारी जो वरते । *वुह, अर्जुन, माम सुहिर्द अहे*
वरताओं के जो रूप अहें । माया कारन, भिन भिन भासें ॥
जो "प्रेम" समान रखे सब से । *वुह, अर्जुन, माम सुहिर्द अहे*
यिह व्यवहारक ज्ञाना है जो । जिस के वरतारे में नित हो ॥
जग नाटक में जो यूँ विचरे । *वुह, अर्जुन, माम सुहिर्द अहे*
॥ १०६ ॥

इति द्वादश अध्याय

सङ्क्षेप

दोहा

इस द्वादश अध्याय में, करते *कृष्ण मुरार* ।
भक्तन के लक्षन सभी, वर्णन सहित विचार ॥ १ ॥
भक्त बुलावें तास को, जिस में साजे प्रेम ।
सब सूँ हित जो करत है, मृद वच जिस का नेम ॥ २ ॥
नाम रूप मिथ्थ्या लखे, विषय नाम अर रूप ।
जग भोगन को विष्ट सम, समझे भक्त अनूप ॥ ३ ॥
राग द्वेष से रहित जो, वरते सदा समान ।
प्रीत शोक जारे सभी, आतम नित्य पछान ॥ ४ ॥
सन्तोषी पुन धीर जो, पर उपकारी नीत ।
मित्र शत्र को सम लखे, दुख सूँ राखे प्रीत ॥ ५ ॥
नित समझे *श्री कृष्ण* को, व्यापक सब ही माँहिं ।
सब हूँ की वुह सेव में, *कृष्ण मुरार* रिझाँइं ॥ ६ ॥
पूरन भक्तो उस विखे, जिस के रिद आनन्द ।
भावें दुःख कलेश हो, भावें रहे स्वछन्द ॥ ७ ॥
दूसर के हित अर्थ जो, तन, मन, धन दे त्याग ।
उस में भक्ती पूर है, ताँ के मस्तक भाग ॥ ८ ॥
वुह दिन जाने अफल जो, जिस दिन किया न दान ।
ऐसो मानुष भक्त है, कोमल चीत सुजान ॥ ९ ॥
कृष्ण कन्हाई रहत हैं, निश दिन जिस के साथ ।
वुह जन पूरण भक्त है, जगत विखे *रघुनाथ* ॥१०॥

अथ त्रयोदश अध्याय

अर्जुन उवाच

दोहा

हे भगवन वर्नन करें, कृपा मया को धार।
पुरुष, प्रकृती, क्षेत्र का, पुन क्षेत्रज्ञ विचार ॥१॥
ज्ञाता क्या, अर ज्ञेय क्या, कर्ता क्या, क्या कर्म।
यिह पद भी वर्नन करें, मेटें चित का भर्म ॥२॥

श्री भगवान उवाच

दोहा

हे कुन्ती के पुत्र, सुन, ज्ञाता, ज्ञे का भेद।
क्षेत्र पुनः क्षेत्रज्ञ का, मुझ से सुनो प्रछेद ॥३॥
"नाम रूप" जो विषय है, "क्षेत्र" तास को मान।
"जो इन को है जानता", वुह "क्षेत्रज्ञ" पछान ॥४॥
ज्ञाता अर क्षेत्रज्ञ जो, एक वस्त को जान।
क्षेत्र पुनः ज्ञे जो अहें, यिह भी एको मान ॥५॥
देह भिन्न भिन जेत हैं, क्षेत्र अहें यिह, मीत।
जो इन सब में "जीव" है, वुह "ज्ञाता" है नीत ॥६॥
हे भारत, मैं ही अहूँ, सब में ज्ञाता ज्ञान।
जो इस विध मुझ को लखें, तिस को ज्ञानी मान ॥७॥

दोहा

आतम में सङ्कल्प जो, वुह जग को उपजाइ।
"मैं हूँ मुझ बिन और निहँ", यिह सङ्कल्प अहाइ ॥१९॥
"हूँ" अर "नाहीं" रूप के, हैं उतपत्ती नास।
सब वस्तू में धुन यिही, आतम सर्व प्रकास ॥२०॥
यिह, अर्जुन, है क्षेत्र वा, जग का तत्व विचार।
अब खोलूँ मैं ज्ञान का, तुम ताईं विस्तार ॥२१॥
ज्ञान विखे आनन्द है, ज्ञान बिना सब छार।
आतम अर ज्ञाना उभय, एकी वस्त सँभार ॥२२॥

ज्ञाता वान लक्षण

चौपाई

मन को जो जीते जग माँहीं। जिस को भोग न खेंच सकाँइँ ॥
जिस को हर्ष अर शोक समान। *ताँ को समझो ज़ाता वान* ॥
दया कृपा की जो है खान। आपद में जो धीरज वान ॥
हित कारी जो हो निर्मान। *ताँ को समझो ज़ाता वान* ॥
शुद्ध पुनः जो हो गम्भीर। निश्चल पुन जो दुख में वीर ॥
सत वादी, पुन शाँत निधान। *ताँ को समझो ज़ाता वान* ॥
जग की सेवा में जो माता। जिस को जग का सब कुछ भाता ॥
जिस को भासे लाभ न हान। *ताँ को समझो ज़ाता वान* ॥
राग द्वेष जो दोइ जरावे। इष्ट अनिष्ट उभय बिसरावे ॥
तुल्य लखे जो मान अपमान। *ताँ को समझो ज़ाता वान* ॥

चौपाई

तीन भाँत हैं जो बचनन के। इन को तीन वेष जो माने ॥
तीनो में जेहँ सम कल्यान। *ताँ को समझो ज़ाता वान* ॥
सर्व सृष्ट का प्रीतम जोई। जिस से सुख लेवे हर कोई ॥
जिस के कर में हित का बान। *ताँ को समझो ज़ाता वान* ॥
कुष्टी हो, तो भी मुसकावे। बूखा हो, तो भी अकरावे ॥
सर्व अवस्था में सामान। *ताँ को समझो ज़ाता वान* ॥
सेवक निन्दक को सम जाने। मित्र अंर शत्र समान पछाने ॥
नाम रूप माने शमशान। *ताँ को समझो ज़ाता वान* ॥
समता के झूले हराडोरे। सङ्कल्पों को निश दिन होरे ॥
आतम में जिस का नित ध्यान। *ताँ को समझो ज़ाता वान* ॥

ब्रह्म स्वरूप और ब्रह्म ज्ञानी

दोहा

अब मैं वर्णन करत हूँ, ब्रह्म्म ज्ञान, हे मीत।
जिस से शाँत रिदे बसे, मोख मिले जग जीत ॥४३॥
समझाऊँ क्या ब्रह्म्म है, और कहाँ तेहँ वास।
शाँत कौन, पुन मोक्ष क्या, लक्षन क्या पुन तास ॥४४
हे अर्जुन, सुन कर्ण धर, और रिदे में धार।
ब्रह्म्म विखे हो लीन पुन, अपना आप सँवार ॥४५॥
नाम रूप के पार जो, विस्तीरन सब थान।
शाँत मात्र जो पद अहे, ताँ को ब्रह्म्म पछान ॥४६॥

दोहा

जाँ बुद्धी की गम नहीं, निर्विकार जो धाम।
"है" "नाहीं" जिस में नहीं, ब्रह्म्म अहे अभिराम ॥४७॥
ऐसा वैसा भाव जो, होवे जहाँ अभाव।
ऐसा निर सङ्कल्प पद, अर्जुन, ब्रह्म्म कहाव ॥४८॥
सर्व ओर, सब देश में, ऐसा ब्रह्म्म समाइ।
सर्व नाम अर रूप सब, ताँ ही को ओढ़ाइ ॥४९॥
ऐसे ब्रह्म्म विखे जभी, जीव होइ लिव लीन।
चिन्ता, शोक अर मोह ते, मुक्त होइ शाँतीन ॥५०॥
नाम रूप भ्रम मात्र जो, शोक चिन्त की खान।
ताँ को त्यागे पुरुष जो, होवे ब्रह्म्म समान ॥५१॥
शाँत अबिध में लीन हो, आनँद विखे समाइ।
राग द्वेष के डङ्क से, सहिज, मुक्त हो जाइ ॥५२॥
इच्छा सकली त्याग कर, निर इच्छत सुख पाइ।
दुख सुख को भ्रम मात्र लख, सम बृत माँहि समाइ ॥५३॥
दुख सुख का फल देह तक, देह परे कुछ नाँहि।
वप नाशी छिन पल रहे, बिर्था इच्छा ताँहि ॥५४॥
खान, पान पहिरान जो, इच्छा फल यिह तीन।
यदि तीनो यिह दूर हों, तो क्या लेंवे छीन ? ॥५५॥
इच्छा चिन्ता खान है, शोक दुःख की रास।
इच्छा जब ही लीन हो, दुख कलेश हूँ नास ॥५६॥
इच्छा सहित विखेप है, इच्छा बिन है शाँत।
इच्छा से "देह" "जग" अहें, "इच्छा" "मन की भ्राँत" ॥५७॥

दोहा

इच्छा है यिह प्रकृती, इच्छा नाम अर रूप ।
इच्छातीत अवस्थ जो, वुह है ब्रह्म्म स्वरूप ॥५८॥
जीव ब्रह्म्म में भेद इक, इच्छा का ही आँहिं ।
जीव तजे जब भ्राँत को, विस्तीरण हो जाँइँ ॥५९॥
इस रीती से, मित्र मम, "ब्रह्म्म" "शाँत" पहिचान ।
"बन्धन" "इच्छा" जान तू, बिन इच्छा "निर्वान" ॥६०॥

ब्रह्म निकेतन

चौपाइ

सर्व ओर है ब्रह्म्म प्रकासा । ऊपर नीचे तास विलासा ॥
ईधर ऊधर, ताँ की लीला । अन्तर बाहिर बसत रसीला॥६१॥
इन्द्रिय बिन, पर इन्द्रिय मूला । सूक्षम, पर भासे अस्थूला ॥
निर्गुण, पर गुण सहित प्रभासे । अज, पर सब जग उपजे ता से ।६२।
निकट दूर है वुही समाया । माया रहित, उसी में माया ॥
खण्ड खण्ड, पर आँहिं अखण्डा । तास विवर्त अहे ब्रह्मण्डा ॥६३॥
अधिष्ठान सब का वुह स्वामी । सब में पूरन अन्तर्यामी ॥
शाँत स्वरूप अहे पद सोई । मोक्ष उसी में इस्थित होई ॥६४॥
कर्ता हर्ता दोनो सोई । ज्ञान प्रयोजन जग में वोही ॥
धर्म, अर्थ अर तीजो कामा । चौथो मोक्ष वुही है रामा ॥६५॥
इस रीती जो ब्रह्म्म पछाने । सब में उस को व्यापक माने ॥
जो "जग भ्रम" को मूल भुलावे । वुह मानुष मुझ माँहि समावे॥६६॥

"ब्रह्म" वा "ओम" की व्यापकता

दोहा

ब्रह्म्म पुरुष कर मानिए, भ्रम मानो सन्सार ।
भ्रम ही प्रकृति रूप है, ब्रह्म्म आँहि वीचार ॥६७॥
ब्रह्म्म विखे जो ज्ञान है, "मैं हूँ इक अद्वैत" ।
"द्वैत नहीं त्रय काल ही", यूँ उपजे भ्रम द्वैत ॥६८॥
"ब्रह्म्म" अर "भ्रम" दोऊ मिलें, उपजाएँ सन्सार ।
दोनो लक्षण तास में, भासें "सार" "असार" ॥६९॥
ब्रह्म्म विखे जो ज्ञान है, भ्रम है उस की छाइ ।
जैसे ज्ञान सदा रहे, वैसे भ्रम नित आहि ॥७०॥
इस रीती से ब्रह्म्म अर, प्रकृति आँहि अनाद ।
अर यिह जो सन्सार है, उस का भी नहिं आद ॥७१॥
"अहम ब्रह्म्म" यिह नाद ही, बाजत जग के माँहिं ।
अणू अणू स्वय रूप को, छिन छिन बदलत आँहिं ॥७२॥
"सब कुछ मैं हूँ मुझ बिना, और नहीं कुछ आँहि" ।
यिह दृढ़ निश्चय जगत के, तिल तिल माँहि समाँइं ॥७३॥
हर वस्तू हर ढङ्ग को, धारे जग के माँहिं ।
मानो "हर" "सब कुछ" अहे, "सब कुछ" "हर" में आँहिं ।७४।
"ओम" अर्थ भी यिह अहे, "मैं हूं और न कोइ" ।
इस रीती हर अणू में, "ओम", "ओम" ध्वन होइ ।७५।
"अ", "उ", "म" का अर्थ यिह, "आतम है नहिं दूज" ।
जो समझे इस अर्थ को, उस को जग में सूज ॥७६॥

दोहा

पुरुष अहे आतम पुनः, प्रकृत है अध्यास।
जब आतम हो स्वस्थ तब, जगत खेल हो नास ॥७७॥
बन्धन यूँ अध्यास है, मुक्ती आतम ज्ञान।
नाम रूप को झूट सब, जानत है बुध वान ॥७८॥
नाम रूप की खेल है, नाम रूप के सङ्ग।
आतम सदा असङ्ग है, निर्विकार निर्भङ्ग ॥७९॥
जैसे स्वप्न विखे सदा, भासे बुद्ध विकल्प।
तैसे जग यिह स्वप्न है, नासे निर सङ्कल्प ॥८०॥
जो जन इस विध जानते, पुरुष प्रकृती ज्ञान।
वुह विषयन को जीत कर, बनते मुक्त पुमान ॥८१॥
सर्व अवस्था में लखें, एको पुरुष प्रधान।
ऐसा वैसा रूप जो, तेंह छिन भङ्गुर जान ॥८२॥
राग द्वेष इस रीत से, समझें वुह अज्ञान।
किस को वुह प्रीती करें, किस को करें गिलान ॥८३॥
पानी भिन भिन पात्र में, तेज व्योम नहिं होइ।
तैसे भिन भिन रूप में, आतम इक ही सोइ ॥८४॥
इस दृष्टी को पाय कर, ज्ञानी रहे समान।
मन उस का मर जात है, पावे पद निर्वान ॥८५॥
इष्ट न खेंचे तास को, धकूले नाहिं अनिष्ट।
पेखत वुह निज आतमा, अर्जुन, सकली सृष्ट ॥८६॥

देह अभिमान

चौपाई

देह अभिमान महा मुरखता। काहेते है छिन भङ्गर का॥
देही तो रोगों की खान। पुन मल मूत्र अर रक्त अस्थान।८७।
सुन्दरता इस की दो दिन की। अन इस्थिर ताँ का बल बुध भी॥
युवन अहे पुन पल की धूप। दारा सुत दुःखों के कूप॥८८॥
ताँ ते किस का मान करे तू। यिह तो छल ही हैं सब वस्तू॥
सब से इन ने दोखा कीना। काहु सूँ ही साथ न दीना॥८९॥
सब इन से पछताते देखे। इक दिन सकल गँवाते देखे॥
अभिमानी शरमिन्दे देखे। रोते देखे सब कुछ खो के॥९०॥
ताँ ते तज झूटा अभिमान। इस को पागल-पन पहिचान॥
खावे अमृत, देवे विष्टा। मान करे मूरख काहे का?॥९१॥
सारे वप से निकलें स्वेद। जो तुम ही को देवें खेद॥
कब हूँ उपजे ऐसी पीड़। विष कर देवे अमृत खीर॥९२॥
ऐसो दुख दाई, अर कष्टी। ऐसी गन्दी, ऐसी भ्रष्टी॥
ऐसी गुण हीनी अर शत्रू। देही का क्या मान करे तू?॥९३॥
देही सा नहिं कृत-घन कोई। खात मलाई, दे मल जोई॥
सुख लेवे, पर दुख फल देवे। रोता छोरे जो तेहँ सेवे॥९४॥
ताँ ते किस का तू अभिमानी। देही तो इक दिन चल जानी॥
स्वास्थ बनेगी इक दिन पीरा। युवन बनेगी वृद्ध शरीरा॥९५॥

चौपाई

बल भी है उड़ जाने वाला । सुन्दर मुख कुम्लाने वाला ॥
सीधा वप हो जावे कुबरा । नाहिं भरोसा इक पल ही का ॥९६॥
पुन देही पापन क मूल । जाँ ते उपजें मानस शूल ॥
नर्क कुण्ड में यिह ले जावे । जनम मरन में यिह भटकावे ॥९७॥
मूरख तज यिह मूरख-ताई । यिह तो तुम को दीन बनाई ॥
घृना करे सब कोई तुम पे । खिजते रहि जाओगे चित ते ।९८।
शाँत न कब हूँ तुम पाओगे । पल पल में तुम विष खाओगे ॥
कोई तुम को नहिं चाहेगा । तुम को भी नहिं कुछ भाएगा ।९९।
जब तुम देह अभिमान तजोगे । हलके फुलके हो जाओगे ॥
सब के सिर पर तुम बैठोगे । दुख उड़ जाएँगे सब तुमरे ॥१००॥

ब्रह्म ज्ञान और ब्रह्म ज्ञानी

कुण्डली

कोई पेखे आतमा, अन्तर मुखता धार ।
कोई मिले विवेक से, कोई कर्म सुधार ॥
कोई कर्म सुधार, श्रवण कर कोई पूजे ।
कोई पढ़ कर बेद, आतमा को पुन बूझे ॥
आतम का पर ज्ञान, रखे है, अर्जुन, सोई ।
सब वस्तू से प्रेम, रखे जग में जो कोई ॥१०१॥

कुण्डली

आतम ज्ञानी देखते, सब में अपना आप ।
इस ते काहु को नहीं, देते वुह सन्ताप ॥
देते वुह सन्ताप, न चित में द्वेष विचारें ।
जड़ चेतन के सङ्ग, सदा आतम हित धारें ॥
जग के भीतर रहें, सदा वुह ज्ञानी निर्मम ।
राग द्वेष को जारें, जो पेखें सर्वातम ॥१०२॥

जड़ चेतन जो देखिये, है सब ब्रह्म विलास ।
ब्रह्म विखे जो ज्ञान है, जग ताँ का आभास ॥
जग ताँ का आभास, ज्ञान सापेक्षक जैसे ।
जग भी है सापेक्षक, और प्रणामी तैसे ॥
वाचक ज्ञानी बहुत फिरें, अर्जुन, जग भीतर ।
पर वुह ज्ञानी सार, लखें सम जो चेतन जड़ ॥१०३॥

सब भूतन में सम बसे, एक ब्रह्म निर भङ्ग ।
नाम रूप के भेद से, आँहि अतीत असङ्ग ॥
आँहि अतीत असङ्ग, अगोचर अगम बिराजे ।
जैसे लहिर तरङ्ग, विखे इक जल ही साजे ॥
ऐसी पावन दृष्ट, बसे बुध के अन्तर जब ।
कोइ न भासे आन, प्रभासें आतम ही सब ॥१०४॥

कुण्डली

जो जन सब को लखत है, आतम वुह है सन्त।
सब सू राखे प्रेम वुह, राग न द्वेष करन्त॥
राग न द्वेष करन्त, नहीं वुह डरत डरावे।
इच्छा आशा रहित, सदा वुह काल निभावे॥
आपद दुःख कलेश, विखे रस पावत है वो।
ताँ के आतम सूँ हित, प्रेम, लगावत है जो॥१०५॥

रूप बिगारे रूप को, इस को कर्म कहन्त।
इस ते इत्तर क्रिया का, और न चिन्न अहन्त॥
और न चिन्न अहन्त, रूप का दोखा सारा।
ऐसे वैसे माँहि, रहे नित आतम न्यारा॥
भिन भिन रूपन माँहिं, रहे जिम तोय अरूप।
त्यूँ आतम सम भाव रहे, जब बदले रूप॥१०६॥

घट घट मन्दिर ब्रह्म का, कोई भी घट नाँहिं।
हर इक में आनन्द है, ताँ का रूप भुलाइँ॥
ताँ का रूप भुलाँइँ, तास में लीन भये में।
आतम भीतर नाम, रूप के पार गए में॥
विष्टा में भी स्वाद, लहे विष्टा का कीरट।
स्वाद सर्व में एक समान, नहीं कुछ भी घट॥१०७॥

कुण्डली

जब मानुष को सूझ हो, सब में एक समाँइँ ।
एक अनेक बना फिरे, भिन भिन रूप धराँइँ ॥
भिन भिन रूप धराँइँ, एक सब कपरे धारे ।
पर कपरों के धरे, न अपना आप बिगारे ॥
तब वुह मानुष त्याग करे, इच्छा सब की सब ।
मानुष ब्रह्म बने, त्यागे अभिलाषा को जब॥ १०८॥

रूप विखे दुख चिन्त है, आतम में आनन्द ।
रूप इच्छा जब त्याग हो, मानुष बने सुछन्द ॥
मानुष बने सुछन्द, न आशा तृष्णा धारे ।
सब रूपन में एक, ब्रह्म सुख रूप विचारे ॥
ऐसी पदवी पाय, बने वुह मुक्त स्वरूप ।
आतम में सद लीन रहे, सब भूले रूप ॥ १०९॥

जैसे नभ पूरण अहे, नीचे, ऊपर, बीच ।
पर उस को नहिं कर सके, कोई उत्तम नीच ॥
कोई उत्तम नीच, सदा इक वार बिराजे ।
सूक्षम, पर सब का आकार उसी में साजे ।
तैसे ब्रह्म अहे, परिपूर्ण ऐसे वैसे ॥
सदा रहे निर्दोष, अमल आकाशा जैसे ॥ ११०॥

कुराडली

आद रहित वुह ब्रह्म है, निर्गुण, रहित विकार ।
आद अन्त गुण रूप के लक्षण सर्व विचार ॥
लक्षण सर्व विचार, रूप को जभी भुलावें ।
देश काल अर वस्त, सभी जग से मिट जावें ॥
शेष रहे इक ब्रह्म, अदेश, अकाल, अनाद ।
बुद्धी जब हो लीन, कहे किस का वुह आद ॥१११॥

पृथ्वी जल बन सकत है, जल बन सकत प्रकाश ।
अग्नी मारुत बन सके, मारुत बनत अकाश ॥
मारुत बनत अकाश, व्योम है बुद्ध स्वरूप ।
बुध है आतम भ्राँत, आतमा ब्रह्म अनूप ॥
इस रीती से सब को है, परमेश्वर पदवी ।
सब जो है नभ, मारुत, तेज अर पानी पृथ्वी ॥११२॥

द्वैत वाद में द्वेष है, द्वेष विखे दुख आँहिं ।
द्वैत विखे कबहूँ नहीं, शाँत. पदारथ पाँहिं ॥
शाँत पदारथ पाँहि, चीत में सदा गिलानी ।
रल मिल का आनन्द, न लेवे देह अभिमानी ॥
परमानन्द मिले जब, चित में हो अद्वैत ।
शाँत अफुर चित आँहि, अहे पुन फुरना द्वैत ॥११३॥

कुण्डली

सब कोई आनन्द को, ढूँढे जग के माँहिं।
पर आनँद है शाँत में, जग भोगन में नाँहिं॥
जग भोगन में नाँहिं, शाँत है ब्रह्म समाए।
सब को आतम जान, रूप का भेद भुलाए॥
पावो तब आनन्द, भेद को भूलो जी जब।
शत्रू, आपद, दुःख, समझये आतम ही सब॥ ११४॥

दुख कैसा ही उग्र हो, होवे अमृत कूप।
प्रेम सहित जब तास को, समझें अपना रूप॥
समझें अपना रूप, वैर बिन ताँ को झीलें।
प्यारा ताँ को कहें, गिलानी सकली तज दें॥
दुख में है आनन्द, विपद में पूरन है सुख।
यदि आतम में लीन रहें, भूलें विपदा दुख॥ ११५॥

मुक्त अवस्था तास को, जो आतम में लीन।
राग द्वेष ते पार जो, हो सदीव स्वाधीन॥
हो सदीव स्वाधीन, न कब हूँ जग में भूले।
दुख में निश्चल रूप, तथा सुख में नहिं फूले॥
केवल वप पर जात, दुःख वा सुख की भुक्त।
आतम है नित शुद्ध, निरामय, निश्चल, मुक्त॥११६॥

इति त्रयोदश अध्याय

सङ्क्षेप

दोहा

कृष्ण कन्हाई करत हैं, "रूप" "आतम" का न्याय।
इस त्र्योदश अध्याय में, अति नीको समझाय ॥१॥
रूप तथा आतम मिले, यिह सन्सार बनाइ।
आतम इन में नित्य है, रूप अनित्य अहाइ ॥२॥
आतम ब्रह्म स्वरूप है, रूप अहे भ्रम रूप।
ब्रह्म अर भ्रम दोनो मिलें, उपजे जगत अनूप ॥३॥
नाम रूप है प्रकृती, पुरुष आतम का नाम।
पुरुष प्रकृती मेल से, जग का होवे काम ॥४॥
यिह विवेक समझाय कर, अर्जुन को ***रघुनाथ***।
कृष्ण मुरारी करत हैं, अन्त तेहवीं गाथ ॥५॥
धार अनुग्रह कहें फिर, नाप रूप है जूठ।
इस ते समझावें पुनः, नाम रूप से रूठ ॥६॥
रूप रूप में वरतते, कर्म इस का है नाम।
आतम "रूप अतीत" है, करे न भोगे काम ॥७॥
जब कोई भी कर्म हो, नाम रूप बदलाइ।
अगम अगोचर आतमा, कर्म न ताँहि लिपाइ ॥८॥

कुण्डली

आतम को जब रूप का, होवत है अध्यास ।
तब इच्छा उत्पन्न हो, धरे रूप की आस ॥
धरे रूप की आस, रूप से रूप सँवारे ।
पर आतम तो रञ्च न, उस में जीते हारे ॥
जब जावे अध्यास, रूप का नासे है तम ।
इच्छा भी हो नास, मुक्त होवे जीवातम ॥ ९ ॥

तत दृष्टी में कर्म का, आतम को नहिं लेश ।
आतम सदा अछूत है, आतम नाँहि विशेश ॥
आतम नाँहिं विशेश, जीव इच्छा युत है जो ।
ताँ को होवे लेश, वुही भोगे है फल को ॥
इच्छा बिन जो कर्म, नहीं वुह कर्म कहावत ।
उस को बोलें धर्म, वुही आतम का है तत ॥१०॥

धर्म विखे इस्थित जभी, हो जाता है जीव ।
इच्छा बिन वुह कर्म को, करता आँहिं सदीव ॥
करता आँहिं सदीव, न उस को लैपे कर्मा ।
काहेते जो करत, सु है आतम का धर्मा ॥
जीवन मुक्त गनो, कर्ता निर इच्छित कर्म ।
दोनो एक स्वरूप, अहें जो मुक्ती धर्म ॥११॥

अथ चतुर्दश अध्याय

श्री भगवान उवाच

आतम ज्ञान और आतम ज्ञानी

दोहा

हे अर्जुन, बाखूँ पुनः, तुम को आतम ज्ञान ।
जिस को पा कर सन्त जन, पावें पद निर्वान ॥ १ ॥
आतम ज्ञानी को मिले, शाँत अर परमानन्द ।
इच्छा आसा ते छुटे, विचरे होय सुछन्द ॥ २ ॥
ब्रह्म रूप हो जात है, देह बन्धन ते छूट ।
जगत सुपन जड़ जात है, बन्ध गए जब टूट ॥ ३ ॥
देह बन्धन है तब तलक, जब तक है अज्ञान ।
हो प्रमाद जब दूर तब, मुक्ती का हो भान ॥ ४ ॥
ब्रह्म विखे जो ज्ञान है, ताँ का उलट अज्ञान ।
जब इस का फुरना फुरे, उत्पत होइ जहान ॥ ५ ॥
इस हेतू से ही कहा, जग माता अज्ञान ।
दृष्ट मान सन्सार जो, है प्रमाद का भान ॥ ६ ॥
ब्रह्म विखे यिह ज्ञान है, "मैं ही सर्व समाँइं" ।
साथ इस के अज्ञान है, "मुझ बिन दूसर नाँहिं" ॥ ७ ॥

दोहा

दूसर जो अज्ञान का, सुप्न समा दरसाँइं।
इक इक बिन्दू ब्रह्म मैं, दूसर दीखत आँहिं ॥८॥
दूसर, दूसर आद जो, भासे जगत अनेक।
इक दूसर का ज्ञान जो, प्रगटावे सब एक ॥ ९ ॥
ताँ ते आँहि अनेक जो, है सब भ्रम अज्ञान।
सब में आतम एक है, सत चित आनन्द भान॥१०॥
एक ब्रह्म इस्थित अहे, सब रूपन के माँहिं।
जैसे लहिर तरङ्ग में, इक ही नीर समाँइं ॥११॥
ऐसा, अर्जुन, ज्ञान जो, यिह है ब्रह्म गियान।
प्रापत जिस को होइ यिह, पावे पद निर्वान ॥१२॥
सब सूँ आतम हित करे, कोमल चित हो जाइ।
कङ्कर, पाथर, पत्र को, चूमे रिद से लाइ ॥१३॥
दुख कलेश भी तास को, आतम वत दरसाइ।
सब सूँ प्रेम लगाइ कर, अमृत रस वुह पाइ ॥१४॥
सर्व अवस्था में रमे, निश्चल अर निश्चिन्त।
भीती भावी बिसर कर, आज विखे विचरन्त ॥१५॥
हान लाभ नहिं जास को, चिन्ता किस को होइ ?
भय किस का उस को लगे, आतम जब सब कोइ ?१६॥
जब जाने वुह सर्व में, इक रस होइ समाइ।
मरने ते डर क्या उसे ? रूप् अपना बदलाइ ॥१७॥

दोहा

कुष्टी हो वा स्वस्थ हो, रहे सदीव अनन्द ।
वप के यों वों में रहे, इक रस और सुछन्द ॥१८॥
पूरब का पश्चिम बने, धरती का आकाश ।
पवन बने अग्नी सभी, घटे न सन्त हुलास ॥१९॥
नाम रूप का खेलवा, समझे सभी असत्य ।
आतम को समझे सदा, अगम अगोचर सत्य ॥२०॥

अनातम के तीन गुण

तोटक छन्द

अब बाखत हूँ सत, रज, तम को । गुण तीन जु आँहि अनातम को ॥
किम जग की खेल रचावत यिह । किम रङ्गारङ्ग बनावत यिह ॥२१॥
है आतम सत, चित, आनन्द जिम । गुण तीन अनातम में हैं तिम ॥
सत, रज अर तम, यिह लक्षण जो । सब आतम के प्रतिबिम्ब गनो॥२२॥
आतम बिन सर्व असिद्ध अहें । आतम बिन किस को कैस कहें ?
गुन देखत आतम आँहि सभी । जिम दर्पण में कान्ती अप्नी ॥२३॥
"सत" का आभास "सतोगुण" है । "चित" का आभास "रजोगुण" है ॥
"आनन्द" आभास "तमोगुण" है । "आतम" आभास "त्रिधोगुण" है२४
सब वस्त विखे गुण हैं तीनो । वस्तू त्रय गुण ही को चीनो ॥
"इस्थित""चञ्चल""रस दायक" है । "बल" "इच्छा" "सुख" उपजायक है

तोटक छन्द

क्रम से है यिह "सत", "रज" अर तम। सब आँहि "अनातम" नहिं "आतम"
सब रूप विकार अहें भिन भिन। छिन भङ्गुर हैं पुन हैं परछिन ॥२६॥
वृत भी धारे त्रय रूपन को। सत हो, रज हो, कबहू तम हो ॥
भ्रम तीन प्रकार विचार करो। इस को ही बन्धन मूल गनो ॥२७॥
कइ "सात्विक" बन्धन में बाँधे। कइ "राजस" बोझ धरें काँधे ॥
कइ "तामस" भ्रम में हैं लिपटे। इस रीत सभी को गुण चिपटे।२८।
"बल बुध" की "वासन" जो उपजे। ताँ को "सात्विक बन्धन" लखिये ॥
"व्यवहार विखे चतुराई" जो। तिस को "राजस बन्धन" चितवो२९
"आलस अर दोष" विखे जु रहे। "तामस बन्धन" वुह पुरुष सहे ॥
इस रीत सभी बाँधे गुण के। गुन रहित, शरीर, जगत न रहे।३०।
"सात्विक बन्धन" "बल का रस" दे। "राजस बन्धन" में "आश" बढ़े ॥
"तामस" में "पश्चाताप" मिले। इस विध फल हैं तीनों गुण के ॥३१॥
"रज", "तम" न रहे जब "सत्व" बसे। जब "रज" आवे "तम" "सत्व" नसे॥
जब "तमस" निवास करे रिद में। तब "रज" अर "सत्व" परे चल दें।३२।
दृढ़ता पसरे जब ही बुध में। जब शाँत अर धीर प्रकाशत हैं ॥
जब कामादिक चित में न फुरें। वृत को तव, अर्जुन, "सत्व" कहें॥३३॥
जब इच्छा, वासन, आस बढ़े। दिन रात चपल मन पुरुष रहे ॥
व्यवहार विखे जिस की रुच हो। यिह चिन "राजस" वृत के समझो३४
जब दोष विकार विषय फुरते। आलस अर भय मन माँहि रहे ॥
बुध कुण्ठित, चित में धुन्ध जभी। "तामस" वृत हो तब मानुष की।३५।

तोटक छन्द

जब "सात्विक वृत" में पुरुष मरे । मृत्यू अर दुख से कुछ न डरे ॥
निर्मोह अर धीरज वान रहे । वुह सन्त अर योगी हो जन्मे ॥३६॥
जब पुरुष मरे "राजस वृत" में । धन प्रीत बहुत जिस के चित में ॥
मरना नहिं चाहत मोह् कर के । व्यवहारी गृह में फिर उपजे ॥३७॥
जब "तामस वृत" में पुरुष मरे । दुर्बुध अर चीत मलीन करे ॥
नहिं शुच्य अशुच विचार जिसे । मूढन के गृह में फिर जन्मे ॥३८॥
शुभ कर्मन का फल शाँत मिले । व्यवहार विखेप कठोर करे ॥
पुन आलस से जन हो रोगी । मूरख, अन्धा, हिन्सक भोगी ॥३९॥
"सात्विक जन" इक दिन "देव" बने । अर "राजस" "मानुष मात्र" रहे ॥
अर "तामस" वृत का जो जन है । "गर्दब" वत नीची जून लहै॥४०॥
बुद्धी जब उज्जल दर्प बने । गुन ही कर्ता भुक्ता समझे ॥
स्वय को गुण रहित सदा जाने । नित इस्थित निर्मल पहिचाने ॥४१॥
जेहँ ऐसी दृष्टी उत्पन हो । उस को मुझ में इस्थित समझो ॥
इच्छा ते बिन, सन्तुष्ट सदा । कर्त्ता सब कुछ पर निः करता॥४२॥
बिन राग अर द्वेष सदा विचरे । निर इच्छित कर्म सदैव करे ॥
नहिं पाप कभी उस मन से हो । पापी इच्छा का भृत समझो ॥४३॥
जो तीन गुणों के पार बसे । परछिनता उस की दूर नसे ॥
देही अर जग दोनों न रहें । आनन्द अर मुक्ती ताँहि मिलें॥४४॥
वुह जन्म मरन ते छूटत हैं । तिन के दुखरे सब खूटत हैं ॥
विस्तीरन हो कर शाँत लहें । तिन को ही परमानन्द कहें ॥४५॥

अर्जुन उवाच

दोहा

भगवन क्या क्या लिङ्ग हैं, उन के जो गुण पार ?
कैसे बरतें, कौन विध तर जावें सन्सार ? ।४६।।
लक्षण एसे पुरुष के, बाखें होय दयाल ।
जाँ को सुन कर शिष्य यिह, होवे परम निहाल ।।४७।।
गुणातीत जो पुरुष हैं, जीवन मुक्ती जास ।
पहिचानूँ कैसे उन्हें, क्या क्या चिन हैं तास ? ।४८।।

श्री भगवान उवाच

गुणातीत जीवन मुक्त

तोटक छन्द

जिन के मन ते सब द्वेष हटे । ब्राह्मन अर शूद्र समान जिसे ।।
जिस आँहि प्रकाश अँधेरो सम । तिस तक, अर्जुन, नहिं गुण की गम४९
जग में नित रहित उदास वृती । नहिं हान उसे, नहिं लाभ रती ।।
गुण वर्तत हैं सब ही गुण में । इन को जन हान अर लाभ कहें।।५०।।
दुख सुख को सम कर जानत वुह । भिन भिन गुन तेंह पहिचानत वुह ।।
अपने को गुन ते पार लखे । इस ते चित भीतर शाँत रखे।।५१।।

तोटक छन्द

नित स्वस्थ रहे सन्सार विखे। अपमान उसे न हिलाइ सके ॥
नहिं मान फुलाई सके उस को। यिह वुह सब तुल्य लगे उस को।५२।
शत्रू अर मित्र समान लखे। किस सूँ नहिं प्रीत विरोध रखे ॥
माटी अर कञ्चन सम जिस को। निश्चल वृत सन्त गनो तिस को।५३।
नित ज्यूँ का त्यूँ वुह सन्त रहे। उपशम मन और इकन्त रहे ॥
आरम्भ सभी परित्याग करे। इच्छा ते रहित सदा विचरे ॥५४॥
जिस की अति निश्चल बुद्ध बने। अश्चर्ज न तेंह कबहूँ उपजे ॥
उस को तुम मायातीत गनो। गुण तीन अतीत उसे समझो॥५५॥
त्रय गुण से पार अहे जो जन। तेंह स्वारथ प्रीत न हो उत्पन ॥
सब हूँ की सेव विखे तत्पर। अमृत रस ले सेवा कर कर ॥५६॥
वुह टहिल विखे आनन्द लखे। चीटी को भी वुह माथ रखे ॥
सेवा ही को वुह मान सुधा। छिन छिन में घूँट् उस के भरता।५७।
सेवा ही विश्न स्वरूप अहे। सेवा में परमानन्द मिले ॥
सब तप सेवा के बीच अहें। सकले फल सेवक माँहि रहें ॥५८॥
जो सेव करे, प्रभु साथ मिले। उस की प्रभुता दिन रात बढ़े ॥
सेवक से भूत पिशाच डरें। सुर,नर सब ताँकी टहिल करें।५९।
"मैं" अर "सेवा" इक रूप अहें। सेवक सब मुझ में जाइ मिलें ॥
मुझ में मिल कर वुह अमर भये। दुख जनम मरण के तास गये॥६०॥
ऐसे को कर्म न बाँध सके। ममता बिन वुह सब काम करे ॥
ममता परछिन्न बनावत है। निर्मम व्यापक हो जावत है॥६१॥

तोटक छन्द

बिन ज्ञान न सेवा भाव मिले। सो सेव करे, जो द्वैत तजे ॥
गुन पार तरे, निर्गुन सिमरे। "चञ्चल" "निश्चल" को किम पकरे ६२
जब निश्चल हो, तब राम बनो। जब राम बनो, सब को सेवो ॥
भगती सेवा का नाम कहें। भगवन अर भक्त समान अहें॥६३॥

इति चतुर्दश अध्याय

सङ्क्षेप

दोहा

इस चौदश अध्याय में, बाखें *कृष्ण मुरार* ।
लक्षन त्रिगुणातीत के, दे कर तेंह विस्तार ॥ १ ॥
लिङ्ग अनातम के कहें, सत्व, रजस, तम, तीन ।
सत, चित, आनन्द, तीन के, छाया इन को चीन ॥ २ ॥
"इस्थित गुन" जो जगत में भासे, "सत्व" पछान ।
"चञ्चल गुन" है "रजस" पुन, "रस दायक" "तम" मान ॥ ३ ॥
सब वस्तू में तीन गुन, वरतें, रहें समान ।
इक में इक गुन अधिक है, इक में दूज प्रधान ॥ ४ ॥
इस रीती सन्सार यिह, दीसे होय अनेक ।
पर गुन लक्षन ते परे, आतम सब का एक ॥ ५ ॥
इक वस्तू ही बदल कर, सर्व रूप बन जाइ ।
इक इक वस्तू "ब्रह्म" है, जग का नियम सुझाइ ॥ ६ ॥
इक वस्तू जब जगत से, ले ली जाय उठाइ ।
सब वस्तू की प्रलय हो, यिह भी "एक" सिखाइ ॥ ७ ॥
इक इक जाने "सर्व" को, मानो इक इक "पूर" ।
"हिन्सा हिन्सक को कटे," द्वैत अहे यूँ क्रूर ॥ ८ ॥
इस रीती से *कृष्ण जी*, खराडन द्वैत करैत ।
समझावें पुन शिष्य को, "ब्रह्म अहे अद्वैत" ॥ ९ ॥

दोहा

"गुण" इस "सत्ता मात्र" को, कभी न बदल सकेत ।
जैसे रङ्ग न जल विखे, तोय भाव बिगरेत ॥१०॥
"आतम" "गुण" के रङ्ग से, आँहि सदीव अतीत ।
गुन देही तक चलत है, आतम निर्गुण नीत ॥११॥
देही स्वय गुन रूप है, इस ते *कृष्ण मुरार* ।
कहते हैं इस जगत में, गुण गुण का ब्योपार ॥१२॥
गुण गुण को बदलात है, इस को कर्म कहन्त ।
आतम निर्गुण अलख नित, निर्विकार ठहिरन्त ॥१३॥
द्वैत सभी है गुण विखे, आतम में यिह नाँहिं ।
"गुण" फिर है "भ्रम मात्र" ही, ताँ ते झूटा आँहिं ॥१४॥
इस झूटे गुण से कभी, शाँत अर तृप्ती नाँहिं ।
ताँ ते सन्त मुनी सदा, गुण ते दूर रहाँइं ॥१५॥
गुण ते उपरत रहिन ही, मुक्ती है जग माँहिं ।
राग द्वेष की निवृती, शाँत स्वरूप कहाँइ ॥१६॥
जो जन तीनों गुण परे, विचरे जग के माँहि ।
ताँ को योगी कहत हैं, *कृष्ण देव* समझाँइं ॥१७॥
ऐसो को सब सम अहे, नहिं कुछ न्यून विशेष ।
घट वध में नित तुल्य है, दुख का ताहि न लेश ॥१८॥
ऐस अवस्था जास की, बन्धन उस को नाँहिं ।
कर्म उस का नित धर्म है, इच्छा रहित सदाँहिं ॥१९॥

दोहा

सब को अपना आप लख, सब सूँ प्रेम करेत।
सब को सेवा में रहे, जग में जीवे जेत ॥२०॥
"भगती" कर "भगवत" बने, ममता सब तज देत।
परछिन्ता उस की नसे, व्यापक ब्रह्म बनेत ॥२१॥
ऐसी सीख्या *कृष्ण* की, धार हृदय अर माथ।
त्रिगुण अतीत बनाइ तू, स्वय वृतं को *रघुनाथ* ॥२२॥

अथ पञ्चदश अध्याय

श्री भगवान उवाच

दोहा

"माया" मानो वृक्ष है, जाँ के शाख अनेक।
जाँ की जड़ आतम विखे, जाँका वर्ण विवेक ॥१॥
"गुण" "लक्षण" हैं तास के, "देश" "काल" अर "वस्त"।
"फल" यिह "माया वृक्ष" के, "फुल" हैं "विषय समस्त" ॥२॥
"माया" रूपी वृक्ष यिह, आद अन्त बिन आँहि।
"बुद्धी" का प्रतिबिम्ब यिह, बुद्धी बिन कुछ नाहिं ॥३॥
"बुद्धी" "माया" एक हैं, आँहि बिम्ब अर छाय।
जब तक बुद्धी देखती, तब तक जग दरसाय ॥४॥
"आतम" "फुरना दूज का", मिल कर यिह "जग" आँहिं।
और यिही मिल कर उभय, "अन्तः करन" बनाँइं ॥५॥
सब दुख है सङ्कल्प में, बिन सङ्कल्पे शाँत।
दूर हुए सङ्कल्प जब, मिट जावे जग भ्राँत ॥६॥
निर्विकल्प है ब्रह्म वत, बन्धन कोइ न ताँहिं।
जग ताँ का उड़ जात है, सुपन मात्र दरसाँइं ॥७॥
माया वृख काटे वुही, माया को जु भुलाय।
बिन भोले पन नहिं मिटें, दोनों जग अर काय ॥८॥

दोहा

वुह भोला शङ्कर अहे, जो भूले जग भ्राँत।
रुण्ड माल तेहँ ग्रीव में, काहेते जग शाँत ॥९॥
ऐसे पद को लोचते, पण्डित अर विद्वान!
काहेते चिन्तन विखे, सब को दुख का भान ॥१०॥
भूलो चिन्ता शोक को, भूलो मोह अर मान।
भूलो इन सब को जभी, पाओ पद निर्वान ॥११॥
सब चिन्तन दुख मात्र है, नाम रूप की बात।
नाम रूप सब झूट है, चिन्तन पर धर लात ॥१२॥
निर्मम अर निर्चिन्त हो, यूँ हो शाँत स्वरूप।
ऊँच नीच में सम रहो, यिह पद परम अनूप ॥१३॥
इस पद पर जब पहुँचते, पण्डित अर विद्वान।
माया उन की कट गिरे, पावें पद निर्वान ॥१४॥
इस पद को मुक्ती कहें, कोविद सन्त महन्त।
बन्धन तब तक रहत है, जब तक दूज फुरन्त ॥१५॥

निर इच्छा योगी

तोटक छन्द

निर्मान सदा गम्भीर रहें। जग के दुखरे बिन शोक सहें ॥
आतम में आँहि विलीन सदा। जो मानुष त्याग करें इच्छा ॥१६॥

तोटक छन्द

सुख दुख के भ्रम ते पार रहें। जिन को हम इच्छातीत कहें॥
दिन रात रहें वुह शाँत विखे। इच्छा समझें वुह भ्राँत विखे॥१७॥
ऐसे पद में वुह इस्थित हूँ। जो मानुष सद निश्चल वृत हूँ॥
उस पद की शोभा है न्यारी। नहिं बुध की लागत वाँ तारी॥१८॥
वुह पद ऐसो रस दायक है। ऐसो आनन्द उपजायक है॥
जो मानुष उस पद को पावे। फिर ताँहि अवर रस नहिं भावे॥
हे अर्जुन, ऐसो पद मैं हूँ। नित आप विखे गद गद मैं हूँ॥
जग है इक बुद बुद मोर विखे। अर जीव अहें मेरे बच्चे॥२०॥

प्रछिन्न जीव का कारण

तोटक छन्द

जब आतम दूसर चितवत है। तब व्यापक ते वुह बिगरत है॥
चितवन परछिन्न करे उस को। आतम फिर भूल परे उस को॥२१॥
इस भूले को सब जीव कहें। यिह जीव सभी परछिन्न अहें॥
पर है परछिनता भूल बड़ी। विज्ञान लखो औषध इस की॥२२॥
यिह चितवन द्वैत बनावत है। इन्द्रिय अर बुध उपजावत है॥
"बुध" "दूसर" को पुन देखत है। अर "दूसर" "बुध" को खेंचत है२३
इस रीत फुरे बुध में इच्छा। इच्छा माँगे जग में बिक्षा॥
अध्यास बने दृढ़ भोगन ते। बन्धन दिन दिन चोढ़े बनते॥२४॥
जब वप से जीव परे जावे। इच्छा की रङ्गत ले जावे॥
कर्मन के रस्सों से बाँधा। पर लोक विखे है वुह जाता॥२५॥

तोटक छन्द

इस हेतू ते पुन वुह उपजे। कर्मन के फल को वुह भोगे ॥
सब लक्षण उस के देह बनें। अर लक्षण ही प्रारब्ध गनें॥२६॥
पर भूल विखे सब यिह सुप्ना। दूसर का भ्रम हेतू इस का ॥
योगी आतम को मुक्त गने। क्यों नहिं उस पर शत देह बने॥२७॥

व्यापक आत्मा स्वछन्द है

तोटक छन्द

नहिं जानत हैं अज्ञात जने। केवल गुन गुन को भोग रहे ॥
"आतम" बिन "लेश" अहे ऐसे। "लहिरों" में आहि "उदक" जैसे॥२८
इच्छा गुण की गुण लावत है। अर गुण गुण को बदलावत है ॥
गुणधारी ज्यूँ का त्यूँ विचरे। भूषण में कञ्चन ज्यूँ विचरे ॥२९॥
सब में यिह कञ्चन आतम जो। सद ही इक सा व्यापक समझो ॥
सब सूर अर चन्द्र अर शुक्र विखै। पृथ्वी जल आदक में वुह है ॥३०॥
अन्धेर प्रकाश उभे वुह है। पुन शत्रू मित्र विखे वुह है ॥
सब काल विखे, सब देश विखे। आतम निर्मल निश्चल विचरे ॥३१॥
यिह आतम, अर्जुन, मैं ही हूँ। ऊँचा भी हूँ, नीचा भी हूँ ॥
सब गुण को यद्यपि धारत हूँ। पर आपन को न बिगारत हूँ॥३२॥
"ऐसे" हूँ तो भी "आप" अहूँ। "वैसे" हूँ तो भी "आप" अहूँ ॥
आपा तज कर नहिं जावत हूँ। नहिं आप विखे कुछ लावत हूँ॥३३॥

तोटक छन्द

यदि ऐसा है तो भी जल है। यदि वैसा है तो भी जल है ॥
हर रङ्ग विखे, हर ढङ्ग विखे। आतम मेरा इक सा विचरे ॥३४॥
सब शक्ती मेरी काम करे। क्या सूरज में, क्या चन्द्र विखे ॥
पृथिवी में प्राण अहूँ मैं ही। मारुत में मैं, मैं जल में भी ॥३५॥
मैं प्राण अहूँ, मृत्यू मैं हूँ। जठड़ा बड़वा में आप बसूँ ॥
सब के रिद में मम डेरो है। मेरे बिन सब ही होवत खे ॥३६॥
मैं वेद अहूँ, मैं वेद सुनूँ। मैं वेद पढ़ाऊँ, वेद पढ़ूँ ॥
मैं पङ्खी हूँ, मैं वृक्ष अहूँ। अर पुन पङ्खी का घर मैं हूँ ॥३७॥
सब कुछ मैं हूँ, त्रिपुटी मैं हूँ। ज्ञाता अर ज्ञेय अर ज्ञान अहूँ ॥
त्रिपुटी को जो सञ्युक्त करै। वुह मेरी ही चैतन्ता है ॥३८॥

जगत के निमित्त और उपादान कारण

तोटक छन्द

है आतम और अनातम जो। जग में वस्तू तो हैं यिह दो ॥
इक सत्य अहे, दूजी जूठी। इक सब है, दूजी नहिं कुछ भी।३९।
इक उज्जल, दूजा काला है। इक रचता, दूज मसाला है ॥
मानो यिह नर, वुह नार अहे। इन की उतपत सन्सार अहे ॥४०॥
हैं यिह सापेक्षक पद दोनो। दूसर जावे जब लें इक को ॥
ताँ ते यिह कल्पत नाम अहें। पुन इक दूसर के माँहि रहें ॥४१॥
मैं हूँ इन दोनो का बिस्तर। मुझ बिन यिह दोनो जाइँ किधर ॥
मेरे में दो यिह फुरने हैं। मुझ ही में दोय तरङ्ग रहें ॥४२॥

तोटक छन्द

मैं दोनों का आधार अहूँ। यिह जावें फिर भी सार रहूँ॥
ऐसा निर्गम पद है मेरा। जिस में नहिं उस का अर तेरा।४३।
पुरुषोत्तम याँ ते मोहि कहें। नीचे पुरुष और प्रधान अहें॥
जो ऐसे मुझ को जानत हैं। वुह ही मुझ को पहिचानत हैं॥४४॥

अधिष्ठान निवासी

तोटक छन्द

"मैं" का आधार मुझे लखता। सद ही मुझ ब्रह्म विखे बसता॥
अभिमान तजे, इच्छा तज दे। निर इच्छित सब ही कर्म करे॥४५॥
इस रीत समावे मुझ में वुह। सन्शय भ्राँती सब तज दे वुह॥
व्यापक अपने को समझे पुन। सन्सार लखें केवल ही गुन॥४६॥
ऐसो जन मुक्त गनो, भाई। ममता उस में नाहीं राई॥
सब को वुह अपना आप गने। याँ ते नहिं हान अर लाभ मने।४७।
वुह मेरा है, मैं उस का हूँ। मैं सारा उस में पसर रहूँ॥
नहिं आँहिं विवेचन "मैं" "तू" का। उस योग विखे रञ्चक बनता॥४८॥
यिह चाबी मुक्त अवस्था की। अर्जुन, मैं ने तुम को दे दी॥
वरतो इस को आनन्द बनो। सब से उत्तम निरबन्द बनो॥४९॥
नहिं कर्म विखे ममता मानो। सब कर्मन को त्रय गुण जानो॥
त्रय गुण ते ऊपर तुम ही हो। इस बुध ते तुम मुझ माँहिं मिलो

॥ इति पञ्चदश अध्याय ॥ ॥५०॥

सङ्क्षेप अर बेनती

दोहा

इस रीत समापत करत हैं, दे कर परमानन्द ।
अब पन्द्रह अध्याय को, *कृष्ण मुरार* सुछन्द ॥ १ ॥
बलिहारी *रघुनाथ है,* ऊपर *कृष्ण मुरार ।*
जाँ की करुणा से कटा, जगत रूप जञ्जार ॥ २ ॥
समझावत हैं *कृष्णजी*, फुरना है सन्सार ।
फुरने से यिह सिद्ध है, फुरने बिन है छार ॥ ३ ॥
मन जीते जग जीत है, *माधव* यिह समझाइ ।
जग का सुख दुख मन तलक, बिन मन मुक्ती आहि ॥ ४ ॥
मुक्ती अपना आप है, बन्धन इच्छा छाइ ।
जो इच्छा को तजत है, आपन माँहि समाइ ॥ ५ ॥
इच्छा फुरती भूल में, भूल गई निश्काम ।
"आतम दूसर को मने", भूल इसी का नाम ॥ ६ ॥
"दूसर" केवल "चिन्त" है, बिन "चिन्तन" कुछ नाँहिं ।
"चिन्तन" जब ही दूर हो, "दूसर" सकल विलाँइं ॥ ७ ॥
इस विध समझावत अहें, अर्जुन को *भगवान* ।
मन चिन्तन को मार कर, देवें पद निर्वान ॥ ८ ॥
आतम तक फुरना कहें, निर्गम फुरने पार ।
आतम और अनातमा, मिल कर दें सन्सार ॥ ९ ॥

दोहा

मुक्त गनो उस पुरुष को, जो फुरने के पार।
राग द्वेष को मार कर, इच्छा को दे जार ॥ १० ॥
ऐसी किर्पा कीजिये, हे भगवन, सुख रूप।
बन जाऊँ फुरने बिना, फुरना दुख का कूप ॥ ११ ॥
बिनती यिह *रघुनाथ की*, निर्विकल्प हो जाउँ।
द्वैत भावना त्याग कर, आतम माँहिं समाउँ ॥ १२ ॥

अथ षोडश अध्याय

श्री भगवान उवाच

सन्त स्वभाव

सवैया

फुरने बिन नित्य अछूत अहें, जग में जिन को सब सन्त बखानें ।।
निरभय अर इस्थित बुद्ध सदा, चित में नहिं चिन्त कदाचित आनें ।।
रस दान अर यज्ञ विखे उन को, वुह त्याग विखे परमातम मानें ।।
दिन रात वितीत करें तप में, व्यवहार यिही सुखदायक जानें ।।१।।

नित प्रेम अर प्रीत बसे तिन में, नहिं मोह गिलान रती भर भी ।।
निर इच्छित काल वितीत करें, सम बाहिर भी अर अन्तर भी ।।
इन्द्रिय दश राखत वुह वस में, तज दें पुन वित्त सभी घर भी ।।
नित धीरज वान समान रहें, यदि दुख अर आपद आतर भी ।।२।।

धोका अर झूठ सभी तज दें, अर निन्दन भी सकलो तज दें ।।
पर के दुख को न सहार सकें, अपना सुख तास निमित्त हरें ।।
उपकार विखै जितने दुख हूँ, उन को रस अमृत का समझें ।।
निर लोभ सदा, निर क्रोध सदा, निर काम सदा, जग में विचरें ।।३।।

सवैया

निर दम्भ सदा निर मान सदा, नित धर्म विखे उस की इस्थाई ॥
नित निश्चल रूप अहे जग में, विपदा कितनी सिर को खुजलाई ॥
तिस बल अर प्राक्रम एत अहे, कुछ भी नहिं दीखत तेंह कठिनाई ॥
पुन आँख विखे इतनी लज है, कुछ भी नियोग नहीं बन आई ॥४॥

तृष्णा बिन आश विहीन पुनः, अशचर्ज बिना नित सोम बिराजे ॥
अन्न आदिक अर्थ न दीन बने, निज आतम तृप्त सदा सद साजे ॥
नित सत को ब्रह्म स्वरूप लखे, सत भाषन में कबहूँ नहिं लाजे ॥
तिस तेज प्रताप अहे इतना, डर जावत हैं जग के सब राजे ॥५॥

पुन ऐस क्षमा उस माँहि रहे, अपराध सभी सम रात छुपावे ॥
पुन धीरज ऐस रहे उस में, धरणी सम सर्व निरादर खावे ॥
समता उस में पुन ऐस रहे, शव को जिम सर्व समान दिखावे ॥
पुन आहिं दया उस में इतनी, जितनी अहि सूर विखे दरसावे ॥

इस मानुष को हम देव कहें, उस की उपमा कुछ कहि नहिं साकें ॥
सब वेद अर शास्त्र अर सन्त सभी, करते करते महिमा नहिं थाकें ॥
हैं अल्प महा सन्सार विखे, इस शील विखे वृत जो जन राखें ॥
इन के बिन सर्व उजार बने, सब कोविद सन्त सही सच बाखें ॥७॥

सुर अर असुर विवेक

दोहा

इक धारा सन्सार की, हैं ऐसे जो देव ॥
दूजी असुर सुभाव जन, खोलूँ अब तिन भेव ॥८॥
इक आतम को मुख रखें, दूजे अनातम ध्याँइं ॥
इक में सब का प्रेम हो, दूजे द्वेष दिखाँइं ॥९॥
सुर मन को चूरन करें, नौकर मन के दैत ॥
सुर इच्छा बिन वर्तते, असुरे इच्छा सैत ॥ १० ॥
सुर अर असुर विखे अहे, इच्छा ही का भेद ।
इच्छा हो अज्ञान से, असुर विखे यिह खेद ॥ ११ ॥
देव सभी मुक्ती लहें, असुर रहें नित दीन ।
हे अर्जुन, तू देव है, जीवन मुक्त प्रवीन ॥ १२ ॥
अब बाखूँ मैं असुर के, लक्षण और सुभाव ।
यिह जग में हैं कष्ट अर, दूषण और विकार ॥ १३ ॥

असुर स्वभाव

चौपाई

हे अर्जुन, तू सुन अब मो से । कैसे असुर जगत में वरते ॥
कैसे कर्म करे वुह नीत । धर कर कान श्रवण कर मीत ॥१४॥
दम्भ अर मान गर्व तिस माहीं । क्रोध अर क्रूर सुभाव दिखाईं ॥
नीत रहे ममता मद माता । "मैं, मैं" करता ही मर जाता॥१५॥

चौपाई

काम अर लोभ विखे है डूबा। देही को ही आतम समझा ॥
झूट अर पाप कमावे सारे। हिन्सा चोरी राखे प्यारे ॥ १६ ॥
शूम कभी नहिं धन को बाँटे। कव्वे कुत्ते को भी डाँटे ॥
शोक अर चिन्ता कर भरपूरा। राज मिले भी आँहि अधूरा ॥१७॥
ईरख माँहि जले दिन राती। पर की शोभा ताँहि न भाती ॥
थोड़े हान विखे ही मरता। बिल्ली चूहे से भी लड़ता ॥ १८ ॥
खाना, पीना और हँडाना। भोग विषय को ही तत जाना ॥
रात दिवस धन के ही पाछे। सौदाई बन कर वुह भटके ॥१६॥
काम अधीन फिरे ललचाता। हर इस्त्री के पीछे जाता ॥
पुत्रादिक के मोह ते आँधा। गृह वित की प्रीती में बाँधा ॥२०॥
मन चञ्चल जिस का निश वासर। चित पीड़ित नित है चिन्ता कर ॥
बुद्ध मलीन विचार विहीना। देह अध्यास विखे नित लीना॥२१॥
बन्दर सम आवे अर जावे। निद्रा का भी रस नहिं पावे ॥
गिनती में दिन रात निभावे। आशा तृष्णा में चकरावे ॥ २२ ॥
"और बनाऊँ और बनाऊँ"। "मारूँ धारूँ धन ले आऊँ" ॥
इस चितवन में आयू बीते। चितवन जाइ न कबहूँ जी ते॥२३॥
खाट् ऊपर जब निश को सोवे। चित कराटक वप माँहि चभोवे ॥
इत उत पासे उलटे पलटे। नींद न आवे चित व्याकुल ते॥२४॥
"यिह कीना यिह कल कर लूँगा"। "मर जाऊँ पर तिल नहिं दूँगा" ॥
इस चिन्ता हङ्कार मँझारी। मूरख ने सब आयू हारी ॥ २५ ॥

चौपाई

असुर न जाने कर्म अकर्मा। और न पहिचाने कुछ धर्मा ॥
सुस्ती को चुस्ती वुह जाने। चुस्ती को सुस्ती पहिचाने ॥२६॥
योगी जन जो मन को मारे। असुरन आगे आयू हारे ॥
जो इच्छा की जड़ को जारे। असुरन आगे सुख को मारे ॥२७॥
ताँ की दृष्टी ऐसी उल्टी। आलस को समझे वुह फुरती ॥
निर्बलता को बल कर माने। बलवानों को निर्बल जाने ॥२८॥
इच्छा रोकन बल सन्तन का। इच्छा मानन बल असुरन का ॥
आँहि असुर जन नित्य अधीना। विषयन के अभिलाशी दीना॥२९॥
यद्यपि ऐसे निर्बल आहें। पर स्वय को बलवान बुलाएँ ॥
सन्त अहें जो मन के स्वामी। उन को निर्बल मानें कामी ॥ ३० ॥
शौच न कुछ मन तन में राखें। क्रूर मलीन सदा वच बाखें ॥
बैठक ऊठक आँहि गँवारी। मलिनाचारी, मलिन अहारी ॥३१॥
पैसे को परमेश्वर मानें। निर्धन को मूरख पहिचानें ॥
रात दिवस धन सञ्चन पाछे। थकते, मरते, आते, जाते ॥ ३२ ॥
मैथुन जग का कर्ता मानें। और न कोई ईश्वर जानें ॥
मैथुन रस को समझें मुक्ती। चित में नित मैथुन की युक्ती ॥३३॥
कर्म भोग का डर नहिं मानें। अपने को निर्दण्ड पछानें ॥
बुद्धी असुरन की है सोई। उन से बढ़ कर मूढ़ न कोई ॥३४॥
अपनी मूरखता फैलावें। अपना मारग सत बतलावें ॥
उपदेशक की पदवी लेवें। लोगन को उलटी मत देवें ॥३५॥

चौपाई

इस रीती जग को बहिकावें। अन्धेरा सब में फैलावें ॥
इच्छा को जग में भरकावें। सब को जाल विखे फन्सावें ॥३६॥
नष्ट करें सब तेज प्रताप। सिखलावें सब ही को पाप ॥
बहुत अहें ऐसे जन पापी। मूरख चिन्ता युत सन्तापी ॥३७॥

दोहा

ऐसे असुर सुभाव हैं, अर्जुन, जग के माँहिं।
पीड़त स्वय भी रहत हैं, जग की शाँत नसाँइं ॥३८॥
अभिमानी हङ्कार युत, द्वैषी, क्रूर, गँवार।
समझाये समझें नहीं, उलटा करें बिगार ॥ ३९ ॥
"मैं मैं" करते रात दिन, रहिते क्रोध स्वरूप।
सञ्चित सञ्चित वित्त को, डूबत चिन्ता कूप ॥ ४० ॥
अपने सम जानें नहीं, कोई भी जग माँहिं।
नमस्कार जो नाँ करे, करवा उन्हें लगाँइं ॥४१॥
भिक्षुक को यदि दान दें, इक पैसा दिन माँहिं।
स्वय को दानी समझ कर, सारा जगत सुनाँइं ॥४२॥
दम्भी, कपटी, क्रूर जन, दरपी, झूटे, चोर।
इक पैसे पर धर्म दें, गुरु को भी दें छोर ॥४३॥
हठ धर्मी, हिन्सक महा, गर्व गुमान विलीन।
बच्चे के भी हाथ से, टुकरा लेवें छीन ॥४४॥

दोहा

घोर नरक में जात हैं, अर्जुन, ऐसे दैत ।
पुन असुरन के गर्भ में, जन्म पुनः पुन लैत ॥४५॥
मैं जो व्यापक सर्व में, मोहि निरादर देत ।
जब वुह वर्ते द्वेष को, तेज विनाश करेत ॥४६॥
फिर फिर आवें जगत में, दुख दाई, दुख लेत ।
इस विध आवा गमन में, भटकत नित्य रहेत ॥४७॥
दिन दिन होवें अन्ध वुह, घोर अँधेरे माँहिं ।
मुक्ती मारग तास को, रञ्चक नहिं दरसाँइं ॥४८॥
तम के नरक विखे सदा, तरपें जल बिन मीन ।
रोग, आपदा, दुख पुनः, चिन्ता शोक विलीन ॥४९॥

नर्क द्वार

दोहा

तीन द्वार हैं नरक के, काम, लोभ अर क्रोध ।
ताँ ते, अर्जुन, नित्य ही, इन से वृत को रोध ॥५०॥
जो जन इन को त्याग दे, निर्मन गत को पाँइं ।
उज्जल मन, आनन्द घन, परमेश्वर हो जाँइं ॥ ५१ ॥
स्वर्ग आदिक के भोग भी, कामादिक दरसाँइं ।
ताँ ते थूके तास भी, निर इच्छित गत पाँइं ॥ ५२ ॥

दोहा

इन्द्रादिक जो देव हैं, करहें ताँहि नमाम।
आतम में इस्थित फिरें, निर चिन्ता निश्काम ॥ ५३ ॥
बिक्षक उन के द्वार पर, ब्रह्मा विश्नु महेश।
शाँत, दया, सन्तोष का, माँगें सद उपदेश ॥ ५४ ॥
दरशन को आना चहे, यदि ईश्वर उन पास।
कहि भेजें "हम को नहीं, बेटा, अब अवकास" ॥ ५५ ॥
इस विध निर्भय होत हैं, निर इच्छत जो सन्त।
उन को इच्छा ही लगें, क्या मानुष, भगवन्त ॥ ५६ ॥
पर यिह पद दुस्तर अहे, इच्छा का परित्याग।
देह् धारी को कठिन है, पाइये उत्तम भाग ॥ ५७ ॥
इच्छा की सूक्षम गती, अन्तर्गत यिह चोर।
मानुष को भरमाइ दे, धार स्वरूप किशोर ॥ ५८ ॥
जब प्रतीत हो जीव को, इच्छा हुई विनाश।
तब भी "इच्छा नास की" इच्छा करे प्रकाश ॥ ५९ ॥
निर्विकल्प गत जब मिले, तब इच्छा उड़ जाइ।
काहे ते सङ्कल्प की, है सब इच्छा छाइ ॥ ६० ॥
ऐसे निर सङ्कल्प के, मैं भी पूजूँ पाद।
परमानन्द स्वरूप हैं, ब्रह्म, अनन्त, अनाद ॥ ६१ ॥
जो इच्छा के भृत अहें, मन के आँहिं अधीन।
उन को सुख रञ्चक नहीं, रहें असिद्ध मलीन ॥६२॥

दोहा

शास्त्र सभी उपदेश यिह, करते "इच्छा त्याग" ।
"निर इच्छित होवो प्रथम, फिर कर्मन में लाग" ॥६३॥
रस सब निर इच्छित चखे, इच्छित ढूँडे स्वाद ।
निर इच्छित ही ब्रह्म है, इच्छा, जगत प्रमाद ॥६४॥
शील धर्म जो हैं कहे, सब का यिह है मूल ।
जो इच्छा बिन कर्म है, है वुह धर्म अनुकूल ॥६५॥
चोरी हिन्सा झूट पुन, सब का इच्छा सार ।
इच्छा को त्यागें जभी, बनें धर्म अवतार ॥६६॥
ताँ ते, अर्जुन, त्याग तू, इच्छा का सन्ताप ।
निर इच्छित हो कर्म कर, तब कोई नहिं पाप ॥६७॥

इति षोडश अध्याय

सङ्क्षेप अर बेनती ।

दोहा

इस षोडश अध्याय में, बाखें कृष्ण मुरार ।
सन्त पुनः जो असुर हैं, जग में यिह दो धार ॥१॥
इक धारा शीतल करे, दूजी धार तपाइ ।
सन्त दया के रूप हैं, जगत असन्त दुखाइ ॥२॥
अमृत टिपूके सन्त से, विख बरसे निरसन्त ।
सन्त सदा आनन्द है, असुर विखाद करन्त ॥३॥
यिह धारा दो जगत की, मारें और बचाइँ ।
इक मुक्ती का दान दे, दूजी बन्ध बनाइँ ॥ ४ ॥
आतम वत हैं सन्त जन, असुर अनातम वन्त ।
सन्त मिले सुख होत हैं, आपद असुर मिलन्त ॥ ५ ॥
लक्षण दोनों के कहें, फिर हम को भगवान ।
इक निर इच्छित पुरुष हैं, दूजो इच्छा वान ॥ ६ ॥
इच्छा नाम अर रूप की, पश्चाताप दिखाइँ ।
बिन चिन्ता अर शोक के, इच्छा में कुछ नाहि ॥ ७ ॥
इच्छा का जब त्याग हो, आतम शेष रहन्त ।
आतम में जो इस्थिती, मुक्ती ताँहि कहन्त ॥ ८ ॥

दोहा

इस रीती से कहत हैं, हम को कृष्ण मुरार ।
इच्छा ही ते होत है, सङ्कट, दुःख, विकार ॥ ९ ॥
नम्र भूत हो कर करे, बिनती यिह रघुनाथ ।
निर इच्छित मुझ को करो, राखो सन्तन साथ ॥ १० ॥

अथ सप्तदश अध्याय

श्री अर्जुन उवाच

दोहा

शास्त्र उलङ्घत पुरुष जो, पर दानी जो आँहि ।
पुन श्रद्धा से पूर जो, वुह हैं किस पद माँहिं ॥ १ ॥
सात्विक हैं वा राजसी, वा तामस वुह आँहि ।
सन्त अहैं, निर सन्त वा, वा दो के मध माँहिं ॥ २ ॥
यिह सन्शय मम चित विखे, कण्टक सम खटकाय ।
दूर करें इस शङ्क को, दे कर ज्ञान उपाय ॥ ३ ॥

श्री भगवान उवाच

इच्छा अर कर्म के तीन प्रकार

दोहा

हे अर्जुन, सुन कान धर, बुध में कर वीचार ।
खोलूँ अब मैं दान अर, श्रद्धा का विस्तार ॥ ४ ॥
श्रद्धा छाया प्रेम की, प्रेम लगे उन साथ ।
इच्छित वस्तू पुरुष की, होवे जिन के हाथ ॥ ५ ॥

दोहा

मानो इच्छा की अहे, श्रद्धा बेटी एक ।
अर इच्छा की भाँत से, होवे पुरुष विवेक ॥ ६ ॥
जैसी इच्छा पुरुष में, तैसा उस का रङ्ग ।
जिस में श्रद्धा पुरुष की, उस का धारे ढङ्ग ॥ ७ ॥
इच्छा का पुतला अहे, हर प्राणी जग बीच ।
इच्छा से उत्तम बने, इच्छा से ही नीच ॥ ८ ॥
इच्छा जग में बीज है, श्रद्धा तोय समान ।
पृथिवी अन्तः करण है, वृक्ष शील पहिचान ॥ ९ ॥
जैसी श्रद्धा पुरुष की, वैसे तास सुभाउ ।
उज्जल से उज्जल बनो, मल से मल हो जाउ ॥ १० ॥
इच्छा तीन प्रकार की, उत्तम मध्यम नीच ।
तैसे श्रद्धा भी त्रिविध, हे अर्जुन, जग बीच ॥ ११ ॥
दान अर यग भी जगत में, तीन भाँत के चीन ।
सात्विक अर राजस पुनः, तामस दानी तीन ॥ १२ ॥
पूजा सेवा भाव भी, त्रिविधा, अर्जुन, जान ।
इन के पीछे भी सदा, रँग इच्छा का मान ॥ १३ ॥
तीन भाँत के लोग हैं, हे अर्जुन, जग बीच ।
इक उत्तम, मध्यम पुनः, तीजो मानो नीच ॥ १४ ॥
उत्तम शाँत चहें सदा, मध्यम सुख अर मान ।
अधम चाहें विषय को, धन ताँ का भगवान ॥ १५ ॥

दोहा

उत्तम की श्रद्धा बसे, उत्तम देवन माँहिं ।
मध्यम सेवे यक्ष को, अधम भूत मनाँइं ॥ १६ ॥
उत्तम पूजें सन्त को, मध्यम मानें राज ।
अबला की सेवा पुनः, है अधम का काज ॥ १७ ॥
जो तप साधन करत हैं, विषय वासना धार ।
ऐसे दम्भी मूढ़ जो, उन को असुर चितार ॥ १८ ॥
तप वुह है जो विषय के, त्याग विखे वृत लाइ ।
ग्रहन विखे वृत लाइ जो, हिन्सा समझी जाइ ॥ १९ ॥
कपटी तप इक पाप है, झूट अर हिन्सा मेल ।
ऐसे तप धारी गनें, परमेश्वर को खेल ॥ २० ॥
मोर निरादर करत हैं, ठग झूटे मन द्रोह ।
दिखलाएँ मम प्रेम पर, है विषयन में मोह ॥ २१ ॥
हाथों से आदर करें, ऐसे नीच पुमान ।
पर पाऊँ से मूढ जन, मुझ को दें अपमान ॥ २२ ॥

त्रिविध आहार

चौपाई

सात्विक भोजन उत्तम खावें । मध्यम राजस भोग लगावें ॥
अधम जन तामस आहारी । इस विध भोजन तीन प्रकारी ॥२३॥

चौपाई

सात्विक भोजन शाँत प्रदाता । राजस चञ्चल भाव बढ़ाता ॥
तामस से बुध होवे अन्धी । सूझे निश दिन ही विषयन की॥२४॥
आयू वृद्धक पुन बल दाता । रोग निवर्तक चित को भाता ॥
हलका फुलका राखे जेई । समझो सात्विक भोजन सोई ॥२५॥
करवा, खट्टा और सलूना । तीखण, रूखा, तप्त अर भूना ॥
रोग अर दुख अर शोक उपजाई । यिह राजस भोजन है भाई ॥२६॥
गलता, सड़ता, बिन रस, जूठा । दुर्गन्धित अर मल कर लिपटा ॥
ऐसे भोजन जितने भाई । तामस जन तेंह रुच रुच खाई ॥२७॥
जिस भोजन में बुद्धी चमके । धर्म परायन मन चित लागे ॥
दुख देने को चित नहिं चाहे । ऐसो भोजन सात्विक आहे ॥२८॥
जो भोजन इच्छा उपजावे । मर्कट सम दिन रात नचावे ॥
बुध व्यवहारक जोइ बनाई । वुह राजस भोजन है भाई ॥२९॥
जिस भोजन में सोच विलावें । और विचार परे हो जावें ॥
भोग अर मैथुन लागे मीठा । तामस भोजन नाम है उस का ॥३०॥
सात्विक भोजन सत्य दिखावे । राजस माया को प्रगटावे ॥
तामस शून दिखावे भाई । इस विध पश्चाताप दिखाई ॥३१॥
जठड़ा जिस को शीघ्र पचावे । जो खट्टे उद्गार न लावे ॥
मल जाँ से उतरे हर प्राता । वुह सात्विक आहार कहाता ॥३२॥
पाचन शीघ्र न होवे जिस का । जिस से रुधिर पुनः हो पतला ॥
मल का नेम जास से बिगड़े । ताँ को राजस भोजन कहिये ॥३३॥

चौपाई

वप में रोग जोइ हो जावे। विषय वासना जो उपजावे॥
मन्द अग्नी हो जावे जिस से। ताँको तामस भोजन कहिये॥३४॥
भाँग, तमाकू, चर्स अर मदिरा। चाय, अफीम अर विष अर गाँजा॥
ऐसे जो नश्शे जग माहीं। सब तामस आहार कहाईं॥३५॥
बुद्धी को अन्धा कर देवें। सत्य असत्य विवेचन लेवें॥
खोखी कर देवें यिह देही। नश्शे में तो गुण हैं एही॥३६॥
रुधिर सभी नश्शे पी जावें। फीका, काला रङ्ग बनावें॥
निद्रा आलस ऊँघ बढ़ावें। चित को कायर और बनावें॥३७॥
तम अर नश्शा एक स्वरूप। नश्शे वाला अन्धा कूप॥
समझे रञ्च न मूरख साईं। अपनी भलियाई बुरियाई॥३८॥
नश्शे से इन्द्रिय मर जावें। प्राण चक्र कुण्ठित हो जावें॥
धीरज वीरज सकल विनासें। "ब्रह्म""विषय" ही हो कर भासें॥३९॥
नश्शे जग में दीन बनाएँ। दूध, मलाई, पेरे, चाहें॥
दर दर पर जा बीख मँगाएँ। आगे नीच जनम में लाएँ॥४०॥
राजस भोजन भी दुख दाई। चञ्चल रोगी दीन बनाई॥
यिह भोजन भी माँगे पैसे। चिन्ता बिन पैसा हो कैसे?॥४१॥
बहुता घृत अर खीर, मलाई। माखन, मेवा अर चिकनाई॥
मास अर मछली यिह हैं जेते। राजस भोजन जग में एते॥४२॥
रोग अर इच्छा इन ते आवें। भय अर चिन्ता यिह उपजावें॥
यद्यपि लोरें यिह व्यवहारी। पर बहुती यिह आँहि विकारी॥४३॥

चौपाई

सञ्जम इन में जानो युक्ती। सञ्जम देवे दुख से मुक्ती॥
मास अर मछली रञ्च न खाइये। इस विध चित को शुद्ध बनाइये॥४४॥
राजस तामस दोनों मास। परमारथ ते करत निरास॥
बुध कुण्ठित, निर्वंश हों इन्द्रिय। चित चञ्चल, मन हो इच्छा मय॥४५॥
कोमलता सब ही उड़ जावे। कृपा दया नहिं नेरे आवे॥
दुख दाई मानुष है बनता। वप नमित्त है हत्या करता॥४६॥
सूक्षम दृष्टी, सूक्षम बुद्धी। मास अहारी खोवे सकली॥
आतम दर्शन ताँहि न होवे। शील अर धर्मा मानुप खोवे॥४७॥
सात्विक भोजन सीधा साधा। बिन हिन्सा जो उत्पन होता॥
मध्य भाव है तास सुभाई। जेभा ताँ को तजन न चाही॥४८॥
शीत उषण के बीच विराजे। गर्मी बादी से नहिं साजे॥
मीठे करवे के मञ्झारो। सात्विक ऐसो भोग विचारो॥४९॥
मध्यम भाव अर सञ्जम दोई। सात्विक लक्षण जग में होई॥
और कमाई का जो खावे। सात्विक पुरुष वुही कहिलावे॥५०॥

त्रिविध कमाई

चौपाई

सेवा, विद्या, आतम ज्ञाना। त्रिविध कमाई का है बाना॥
कारण, सूक्षम थूल शरीरा। सेवे ज्ञान अर विद्या, सेवा॥५१॥

चौपाई

इन तीनों बिन जो है लेवे । अपनी उज्जलता खो देवे ॥
आपद रोग उसी पर आवें । बुध, बल, रस, सब उनके जावें ॥५२॥
पाप फुरे नित ऐसे जन को । ठौर न आवे निश दिन मन को ॥
मर कर नीच जून वुह पावे । भङ्गी बन कर अन्न कमावे ॥ ५३॥
सेवा होवे तीन प्रकारी । वप की, बुध की, अर आतम की ॥
वप की सेवा मानो अध्यम । बुध की सेवा जानो मध्यम ॥५४॥
आतम सेवा उत्तम मानो । शान्त प्रसाद इसी में जानो ॥
चिन्तातुर अर रोगी, शोकी । आतम सेवा से हों योगी ॥५५॥
आतम सेव अचिन्त बनावे । रोग अर शोक सभी ले जावे ॥
शील अर धर्म स्थापन करके । मान अर तेज अर मुदता देवे॥५६॥
आतम श्रोत्रो का रिण भारा । धन कर सकत न तास उतारा ॥
उन का रिण अविनाशी आहे । धन छिन भङ्गुर वप तक जाए ॥५७॥
ताँ ते जो भेटो सन्तन को । उन के रिण से घटिया समझो ॥
इन की भेटा जगत रजावे । उन की सेवा सुख फैलावे ॥५८॥
सर्व यज्ञ का फल तू लेवे । यदि सन्तन को चित से सेवे ॥
तन कर, मन कर, धन कर सेवो । सन्तन को, शाँती फल लेवो॥५९॥
उन को सुख, जग को सुख देवे । उन से सब ही शुधता लेवे ॥
उन का जीवन जग उपकारी । पापी पामर का उद्धारी ॥ ६० ॥
सन्तन की सेवा नहिं ताँ ते । निष्फल, जिम मूरख जन समझें ॥
उन की सेवा तेज बढ़ावे । स्वय को, सब को मुक्त बनावे ॥६१॥

चौपाई

ताँ ते सन्त न पाप उठावें। जब वुह जग की भेटा खावें ॥
उन की इतनी आँहिं कमाई। जाँ को बुध नहिं सोच सकाई ॥६२॥
सन्तन की जो सेवा करते। जग को मानो सुख से भरते ॥
जो सन्तन को बूखा मारें। घोर नरक में जाइ पधारें ॥६३॥
जोइ कमा कर खाना खावें। सात्विक आहारी कहिलावें ॥
रोग अर शोक न व्यापे तिन को। रिण से भय होवे है जिन को ॥६४॥
वुह भी हैं तामस आहारी। बिन सेवा जो हैं बिक्षारी ॥
सिर पर सब का भार उठावें। ले ले कर नरकों में जावें ॥६५॥
लेने वाला इक दिन देता। यिह, अर्जुन, है जग की नेता ॥
भङ्गी बन कर प्राश्चित करता। सिर पर जो पर ऋण को धरता॥६६॥
स्वारथ प्रीती तास मँझारी। बढ़ कर विपदा लावे भारी ॥
मन का भाव देह बन जावे। अँगों को बल हीन बनावे ॥६७॥
रोम रोम में आलस भरता। अन्तर की मल सञ्चन करता ॥
इस विध रोग विखे वुह तड़पे। आपद अग्नी उस पर भड़के ॥६८॥
बुद्ध मलीन रिदय हो करवा। जग में कहिलावे वुह भरवा ॥
हासी ठट्ठा उस पर ठानें। बच्चे भी उस को खल मानें ॥६९॥
चित की शुधता भी है सेवा। भावें कुटिया में हो देरा ॥
केवल मुख से सेव न होई। जगत उधारे, शुध हो जोई ॥७०॥
व्याख्या कर कोई सुख देवे। शास्त्र बना कर कोई सेवे ॥
शुध मन मौनी भी उद्धारे। बन में मुनि भी जगत सँवारे ॥७१॥

चौपाई

शुधता चित की जग में फैले । शुच होवें तिस ते चित मैले ॥
जिम सुगन्ध चन्दन की व्यापे । त्यों शुधता सन्तन की व्यापे ॥७२॥
इस विध सन्त भाव भी कर्मा । ता की शाँत नसावे भर्मा ॥
ऐसे जो जग भेटा खावें । उन को भेट न पाप लगावें ॥ ७३ ॥

त्रिविध यज्ञ

दोहा

अब, अर्जुन, बाखत अहूँ, यज्ञन का वीचार ।
तीन भाँति के यज्ञ हैं, सुन तू सहित पियार ॥७४॥
सात्विक, राजस, तामसी, यिह हैं तीन प्रकार ।
इस विध भिन भिन यज्ञ हैं, सुन इन का विस्तार ॥७५॥
इच्छा बिन जो यज्ञ है, यग कारण यग जोइ ।
नम्र भूतता सहित जो, सात्विक यग है सोइ ॥७६॥
"देने" को है "यग" कहें, त्याग अर यग हैं एक ।
त्याग तभी सात्विक अहे, धरे न फल की टेक ॥७७॥
ममता को तजना अहे, सात्विक यग पहिचान ।
नाम रूप इच्छा परे, इस यग का अस्थान ॥७८॥
"देने" का जो कर्म है, है आनन्द निधान ।
इस ते उत्तम मिले क्या, दानी को सुख धाम ॥७९॥

दोहा

अति मीठा रस देत है, "देना" जग के माँहि ।
अमृत है तो यिही है, देने बिन कुछ नाँहि ॥८०॥
"दे" देखो तब तुम लखो, अमृत धारा "देन" ।
रिदे शाँत आ जात है, मुक्ती मिले सुखेन ॥८१॥
जो "देवें" मुक्ती लहें, मैं हूँ "दान स्वरूप" ।
जो लेवें मो खोत हैं, डूबें अन्धे कूप ॥८२॥
हे अर्जुन, इस रीत से, सात्विक यग है सोइ ।
जिस में इच्छा दग्ध हो, केवल "देना" होइ ॥८३॥
राजस यग फल चहत है, इच्छा युत यिह होइ ।
चाहे यश, धन, राज्य को, नाम रूप हैं जोइ ॥८४॥
तामस यग वुह जानिये, जो पर को नहिं देत ।
स्वय को और कुटुम्ब को, दे कर गर्व करेत ॥८५॥
टुकरा बाँटे वुह नहीं, कपड़ा वुह नहिं देत ।
इक पैसा भी और को, दे कर शोक करेत ॥८६॥
बिन आदर अर दक्षिणा, जो जन भोजन देत ।
तामस यग उस को गनो, उलटा पाप करेत ॥८७॥
इस विध तीन प्रकार के, यग जानो तुम मीत ।
सब में उत्तम यग गनो, सात्विक को तुम नीत ॥८८॥
भावें कौड़ी दान हो, सात्विक की जग माँहि ।
लाखों से उत्तम रहे, राजस जोइ उड़ाइँ ॥८९॥

दोहा

दानी ममता त्याग कर, विस्तीरण हो जाइ ।
याँ ते परमानन्द में, ऐसो पुरुष समाइ ॥१०॥
यद्यपि जग की नीत में, फल तिस को मिल जाइ ।
पर वुह स्वय फल को नहीं, "देन" काल पर चाहि ॥११॥
इच्छा बिन वुह रस लहे, "दे देने" का मीत ।
यिह फल उस को अधिक है, चहे न वस्त अनीत ॥ १२ ॥
नित का फल वुह चहत है, छिन भङ्गुर फल नाँहिं ।
याँ ते वुह देते समय, चित को नहिं बिखराइं ॥१३॥
"देना" अर "चित" एक हों, बिन सङ्कल्प विलीन ।
सात्विक दाता ऐस हो, योगी बने प्रवीन ॥ १४ ॥

त्रिविध तप

दोहा

तप भी तीन प्रकार का, सात्विक आदिक मीत ।
इन का अब वर्णन करूँ, सुन तू दे कर चीत ॥ १५ ॥
तन सूँ गुरु सेवा करे, पूजे देव अर वृद्ध ।
इस रीती से पुरुष का, तन तप होवे सिद्ध ॥ १६ ॥
सन्तों को पूजे सदा, जत सत राखे जोइ ।
होइ अहिन्सक पुरुष जो, तन तप धारी सोइ ॥ १७ ॥

दोहा

विद्वानों की सेव कर, शोभनीक है जोइ ।
कर से जो जन दान दे, तन तप धारी सोइ ॥ ९८ ॥
मात पिता की सेव कर, जो उन को रीझाइ ।
और कमाई आपनी, उन के हाथ धराइ ॥९९॥
जो इस विध माँ बाप की, नीत असीसा लेत ।
ऐसा मानुष जग विखे, उत्तम तपस करेत ॥१००॥
पाऊँ सत सङ्गत चलें, तीरथ चल कर जाँइं ।
टहिल विखे देही गलें, यिह तन तप कहिलाँइं ॥१०१॥
सच बोले जो सर्वदा, मीठा बोले जोइ ।
उस के वच से लाभ हो, वच तप धारी सोइ ॥१०२॥
सच बोले अभिमान सूँ, पर का रिदा दुखाइ ।
हे अर्जुन, सच तास का, हिन्सा रूप कहाइ ॥१०३॥
मीठी रीती सच कहो, सच से अवर रिझाउ ।
सच बोलन से कभी भी, दूसर को न फँसाउ ॥१०४॥
सच अर आतम एक हैं, आतम प्रेम समान ।
प्रेम युक्त जो सच अहे, उस को सच पहिचान ॥१०५॥
पर के हित में झूट जो, उस को भी सच मान ।
अपने हित में साच भी, समझो झूठ महान ॥१०६॥
साचा वच वुह वाक है, पर हित कारी जोइ ।
ऐस परीक्षा साच की, भावें कैसे होइ ॥१०७॥

दोहा

ऐसा सच भी तप अहे, प्रेम अमृत का बान ।
जिस को सुन कर जगत में, सुख का होवे भान ॥१०८॥
शास्त्र उचारण भी अहे, बानी का तप एक ।
अमृत बानी पाठ भी, बुध को देत विवेक ॥१०९॥
मानस तप को अब कहूँ, सुन अर्जुन, चित लाइ ।
सुन कर इस को धार तूँ, शोक अर चिन्त नसाइ ॥ ११०॥
चित में सदा हुलास हो, प्रेम सदा रिद माँहिं ।
समता बुध के बीच में, निश वासर दरसाँइं ॥१११॥
निश्चल वृत नित जास की, हान लाभ के माँहि ।
दुख सुख में जो सोम है, मानस तपस धराँइ ॥११२॥
भाव शुद्ध है जास का, बुरा न चितवे जोइ ।
सुपने में भी कास का, दुख दाई नहिं होइ ॥११३॥
इन्द्रिय निग्रह जास की, मन जिस का वश माँहिं ।
निर सङ्कल्प सदा रहे, हठ धर्मी जो नाँहिं ॥११४॥
मनन शील जो पुरुष है, सब सूँ रल मिल जाइ ।
वाद न काहूँ सूँ करें, मानस तपी कहाइ ॥११५॥
मौन धार कर जीभ का, मन का वेग विलाइ ।
वाक् अभिलाषा रोक कर, इच्छा दग्ध बनाइ ॥११६॥
ऐसो मन मारी गनो, अर्जुन, मन तप वान ।
वाध घाट नहिं जास को, रहे सदीव समान ॥११७॥

दोहा

इस विध तप को जान तू, अर्जुन, तीन प्रकार।
कोयिक, वाचिक, मानसी, सुन अब अधिक विचार ॥११८॥

चौपाई

बिन इच्छा जो यिह तप धारे। तप में ही आनन्द विचारे।
हो निशकाम परम रस पावे। वुह सात्विक तप्‌वान कहावे॥११९॥
फल को निश दिन जो जन चाहे। दम्भ सहित जो तपस कमाए॥
मान अर धन, यश का बिक्षारी। वुह जन है राजस तप धारी॥१२०॥
दूसर को जो तपी दुखाए। तप से नष्ट, उचाटन चाहे॥
पर की जो माँगे बुरियाई। ऐसो तप तामस कहिलाई ॥१२१॥
इस विध तप है तीन प्रकारा। पर सात्विक सब से उचियारा॥
तपस करे पर फल नहिं चाहे। ऐसो परमानन्द समाए ॥१२२॥

त्रिविध दान

दोहा

दान तीन विध का अहे, अर्जुन, जग के माँहिं।
सात्विक, राजस, तामसी, यिह त्रय भाँत कहाँइं ॥१२३॥
दान पुरुष का धर्म है, यिह निश्चय जिस माँहिं।
दान मात्र जो जन चहे, सात्विक दानी आँहिं ॥१२४॥

दोहा

दया दृष्ट जिस में भरी, कृपा मया जिस माँहिं ।
पर दुख को नहिं सहि सके, सात्विक दानी आँहिं ॥१२५॥
"देने" में अमृत चखे, विष जो "लेने" माँहिं ।
ऐसो दाता जगत में, सात्विक दानी आँहिं ॥१२६॥
"देने" को "आतम" लखे, "लेने" को "मन" जोइ ।
दे दे कर जो रस लहे, सात्विक दानी सोइ ॥१२७॥
खान पान पहिरान दे, विद्या दे, दे ज्ञान ।
औषध दे, धन दे सभी, माँगे केवल "दान" ॥१२८॥
ऐसो निर्मम पुरुष जो, सात्विक दानी मान ।
"देने" के रस अर्थ जो, बन जावे वुह "दान" ॥१२९॥
मन जिस का है मर गया, जिस में नाँहि गिलान ।
बिन शङ्का अर तर्क वुह, सब को देवे दान ॥ १३० ॥
आतम का है धर्म निज, दान, क्षमा अर प्रेम ।
ताँ ते सब को "देन" ही, सात्विक का है नेम ॥ १३१ ॥
अधिकारी को देखना, तुच्छ दृष्ट का न्याय ।
इस से वृती कठोर हो, कोमलता चल जाय ॥१३२॥
दान वृत्ती खण्डित करे, शङ्का और गिलान ।
निर्विकल्प होने विखे, "देने" का रस जान ॥१३३॥
लाभ आप को होत है, दान दिये ते मीत ।
तर्क गिलानी दान में, मूरख की है रीत ॥१३४॥

दोहा

परछिनता का त्याग ही, अर्जुन, दान कहाय।
कैसे दाना बन सके, परछिनता जो ध्याय ॥१३५॥
तर्क गिलानी है सभी, परछिनता की छाय।
किम इन भीतर दान का, व्यापक भाव समाय ॥१३६॥
दूसर को जब आतमा, अर्जुन, माने चीत।
तब "देने" का भाव हो, उत्पत मन में मीत ॥१३७॥
आतम में ही लीनता, दान विखे रस दाइ।
तर्क गिलानी कैस हूँ, आतम माँहि समाइ ॥ १३८ ॥
"यिह अधिकारी है नहीं", यिह दृष्टी जब होइ।
दान विखे जो सुधा है, विष बन जावे सोइ ॥१३९॥
आँहिं अनातम दृष्ट यिह, "अधिकारी" का सोच।
जब तक यिह जावे नहीं, होइ न दुख से मोच ॥१४०॥
"दया दृष्ट" उपजे जभी, "अधिकारी" दरसाइ।
"पात्र" वुही है जगत में, जोइ "कृपा" उपजाइ ॥१४१॥
सब "अधिकारी" हैं सभी, "पात्र" अहें जग बीच।
जब आतम सब में भरा, किस को मानें नीच ॥१४२॥
नीच तर्क ही मानिये, शङ्क गिलानी नीच।
त्यागे जब इन को तभी, दुख सङ्कट हो मीच ॥१४३॥
दान अर शङ्का के विखे, बड़ो अन्तरो आँहिं ॥
शङ्का बसती है जहाँ, दान न तहाँ समाँइं ॥१४४॥

दोहा

"दान" अदेश, अकाल पुन, निर वस्तू दरसाइ ।
याँ ते "दान" समय विखे, तर्क नहीं सोभाइ ॥१४५॥
इच्छा बिन जो दान है, बुह सात्विक कहिलाइ ।
तर्क, गिलानी, द्वेष पुन, इच्छा की हैं छाइ ॥१४६॥
इच्छा अर परित्याग का, जब जग में है वैर ।
त्याग समय क्यों तर्क को, रखने देवो पैर ॥१४७॥
इस रीती से दान वुह, जो दे बिना विचार ।
"देने" का रस जात है, जब हो आर विचार ॥१४८॥
पङ्खी को अर पसू को, पाथर को सम जान ।
सब सूँ प्रेम पियार कर, दे तू सब को दान ॥१४९॥
पात्र वुही जिस से फुरे, दया कृपा चित माँहिं ।
अधिकारी जग में वुही, जिस में इच्छा आँहिं ॥१५०॥
तन दे, मन दे और दे, धन अर विद्या, ज्ञान ।
ऐसो है दातार जो, वुह सचला भगवान ॥१५१॥
तर्क दृष्ट तो होत है, परछिनता के माँहिं ।
विस्तीरन दानी बने, कैसे तर्क उठाँइं ॥१५२॥
एसो सात्विक दान है, जाँ नहिं तर्क गिलान ।
पुन जाँ मे इच्छा नहीं, जाँ नहिं दम्भ अर मान ॥१५३॥
सब को आतम मान कर, सब पर हो बलिहार ।
भावें मूढ़ मलेछ वुह, भावें हो चमियार ॥१५४॥

चौपाई

जो दानी फल इच्छा धारें । अर जो पात्र अपात्र विचारें ॥
अर जो दुख से द्रव्य निकारें । राजस दानी ताँहि पुकारें ॥१५५॥
ऐसे दानी हैं व्यवहारी । ऐसे दानी हैं भिक्षारी ॥
देने का रस वुह नहि लेते । वास्तव में वुह स्वय को देते॥१५६॥
दान प्रयोजन था निर ममता । पर उन में है बहुती हमता ॥
दे कर ममता पुष्ट बनावें । निर्ममता का रस नहिं पावें॥१५७॥
दानी निर्मम एक स्वरूपा । नरक अहे ममता का कूपा ॥
राजस दानी ममता वान । कर न सके वुह अमृत पान॥१५८॥
आँख मीट कर जो जन देवे । सोई अमृत का रस लेवे ॥
देने में जिस का आनन्द । जन्म मरण से होइ सुछन्द ॥१५९॥
जो बेचे है अपना दान । ताँ को तू व्योपारी मान ॥
ताँको इच्छा चिन्त सितावे । मुक्तीरस वुह कैसे पावे ॥१६०॥
झूटे यश का फल वह चाहे । साचा रस वुह जन नहिं पाए ॥
छिनभङ्गर वस्तू वुह माँगे । अविनाशी पद को नहिं ताँगे॥१६१॥
देही को तो फल मिल जावे । पर चित में आशा बढ़ आवे ॥
आशा तृष्णा बन्धन मूल । सदा रखे वुह मन में शूल ॥१६२॥
सात्विक दानी दो फल लेवे । बाहिर को अन्दर को सेवे ॥
रिद में वुह भुञ्चे आनन्द । बाहिर भी वुह रहत सुछन्द ।१६३।
उत्तम होवे सात्विक दानी । मध्यम राजस देह अभिमानी ॥
अधम तामस दान पछान । ताँका सुन तू अब व्याख्यान १६४

दोहा

जो सेवे ससरूख से, और विषय से देत।
अर जो लड़ कर झिड़क कर, धन से पर सेवेत ॥१६५॥
ऐसो जन, अर्जुन, गनो, तामस दानी मूढ़।
तम अपने को अधिक कर, सोवे निद्रा गूढ़ ॥१६६॥
तन, मन, धन अर्पन करे, विषय देव के पाद।
तामस दानी जगत में, पावें दुःख विखाद ॥१६७॥
अबला को वा पुत्र को, देवें वुह दिन रात।
पर इस्त्री की सेव को, समझें अच्छी बात ॥१६८॥
वढ्ढी दें अर लोभ दें, पैसा दें, दें सूख।
पर कारन हो सर्व में, विषयन की ही बूख ॥१६९॥
भाग मिले जिस से उन्हें, देवें उस को धन्न।
आतम रस जानें नहीं, सेवें निश दिन मन्न ॥१७०॥
ऐसे जन भी दान दें, पर दें विषयन अर्थ।
ऐसे दानी दान से, पावें नाँहिं समर्थ ॥१७१॥
स्वारथ प्रीति अर्थ ते, जो देने की रीत।
अमृत रस इस में नहीं, उलटा विष की भीत ॥१७२॥
काम रहित जो दान है, वुह है अमृत खान।
रस दायक वुह दान है, जा में नहीं गिलान ॥१७३॥
आतम में जो इस्थिती, ताँ की छाई दान।
इच्छा युत जो दान है, वुह व्यवहार समान ॥१७४॥

तोटक छन्द

तप दान अर यज्ञ श्रधा युत जो। उपजावत वुह रिद में सुख को ॥
बिन प्रेम श्रधा सब व्यर्थ अहे। व्रत दान अर यज्ञ अर नेम सभे।१७५।
जो अपना आप सभी समझें। अर आप समा सब को सुख दें ॥
उन का तप दान सफल समझो। उनके चित को निर्मल समझो-१७६
अद्वैत विखे तप दान बनें। सम भाव तईं व्रत नेम कहें ॥
है द्वैत जहाँ नहिं दान बने। हो द्वेष जहाँ नहिं प्रेम बसे॥१७७॥
पुन "ओम" विचार यिही समझो। "इक ब्रह्म बिना नहिं दूसर को" ॥
"अ" अर्थ अहे "हूँ पूरण मैं"। "उ" "म" सब रूप पलाल कहें।१७८।
जो आपन को सब माहिं लहें। तिन भीतर दान अर प्रेम रहें ॥
जब दान करो, तब प्रेम भजो। अथवा "सब मैं हूँ" ऐस कहो।१७९।
जो दान अर तप अर यज्ञ सभे। सब नाम अर रूप विचार तजे ॥
केवल "तत" मात्र विखे विचरे। वुह मानुष "तत" को नित सिमरे१८०
'सत" मारग पे जो पुरुष चले। "सत" कर्म सदा जग माँहिं करे ॥
अर धर्म विखे निश्चल विचरे। वुह जन "सत" को नित ही उचरे१८१
इस विध जो "तत" अर "सत" सिमरे। वुह "श्रद्धा" में निश दिन विचरे ॥
इस श्रद्धा से जो दान करे। सोई दुस्तर सन्सार तरे ॥१८२॥
बिन "तत" अर "सत्त" विचार किये। नहिं मानुष कोइ उदार बने ॥
श्रद्धा तिस के चित होवत है। जिस का फुरना सब सोवत है।१८३।
इस ते सब सन्त महन्त कहें। "श्रद्धा अर हित" ही "दान" करें ॥
फल दायक वुह यग दान नहीं। जिस भीतर श्रद्धा ज्ञान नहीं॥१८४॥

इति सप्तदश अध्याय।

सङ्क्षेप

कुण्डली

आतम को जो देखते, सब घट में भरपूर ।
दया दान में वर्तते, देह दृष्ट कर दूर ॥
देह दृष्ट कर दूर, सभी को आप पछानें ।
पर का रोग कलेश सभी, अपना कर मानें ॥
सेवा को *रघुनाथ* कहें, वुह जन परमातम ।
परमानन्द लहें समझें, जब सब को आतम ॥ १ ॥

ऐसे पुरुष मलीन हैं, जाँ में देह अध्यास ।
मन जिन का नित ही रखे, राग द्वेष अभ्यास ॥
राग द्वेष अभ्यास, गिलानी की विष खावे ।
शङ्का तर्क विषाद, इन्हीं में काल निभावे ॥
द्वेषी है *रघुनाथ*, जगत् में सूकर जैसे ।
विष्टा जाँ का भोग, निभावे आयू ऐसे ॥ २ ॥

प्रेम माँहि जो लीन है, ताँ को सम सब कोइ ।
ऊँच नीच ताँ को नहीं, शङ्का तास विलोइ ॥
शङ्का तास विलोइ, सर्व सूँ वुह मिल जावे ।
रल मिल का आनन्द सदा, वुह चित में पावे ॥
निश दिन है *रघुनाथ*, रहे ऐसे को क्षेम ।
जाँ के रिद के बीच, बसे निष्कण्टक प्रेम ॥ ३ ॥

कुण्डली

दानी ऐसे जन गनो, जाँ में तर्क न शङ्क ।
जाँ की दृष्टी सम लखे, महाराज अर रङ्क ॥
महाराज अर रङ्क, सभी को सुख पहुँचावें ।
तन मन धन को वार, सभी का रिद रीझावें ॥
भेद भाव *रघुनाथ*, नहीं जिस में वुह ज्ञानी ।
ऐसा है जो देव, कहावे है वुह दानी ॥ ४ ॥

जो दानी यश को चहे, अर माँगे जो मान ।
ताँ को व्यवहारी गनो, बेचे अपना दान ॥
बेचे अपना दान, कामना का दुख पावे ।
ममता अर हङ्कार, उभय को प्रोढ़ बनावे ॥
चिन्ता में *रघुनाथ*, सदा ही विचरत है सो ।
अहङ्कार को धार, दान को देवत है जो ॥ ५ ॥

वो दानी अमृत चखे, जो कुछ फल नहिं चाहि ।
नाम रूप की कामना, जिस के मन ते जाइ ॥
जिस के मन ते जाइ, सभी तृष्णा अर आशा ।
केवल देने मात्र विखे, जिस को हो मुदता ॥
दानी सो *रघुनाथ*, उड़ावे ममता को जो ।
सब में व्यापक होइ, चखे अमृत रस को वो ॥ ६ ॥

कुण्डली

जो दानी इच्छा रखे, माँगे यश का दाम ।
अमृत तज कर चहत है, नाशी रूप् अर नाम ॥
नाशी रूप् अर नाम, चहे चिन्ता विष खावे ।
ममता को परित्याग, न परमानन्द समावे ॥
त्यागन मात्र विखे, *रघुनाथ*, सुधा रस समझा ।
ब्रह्म रूप हो जाइ, तियागे ममता को जो ॥ ७ ॥

अधिकारी वुह जन अहे, जोइ कृपा उपजाइ ।
दया दृष्टि जिस ते फुरे, पात्र वुही कहिलाइ ॥
पात्र वुही कहिलाइ, न्यूनता जिस में भासे ।
शील बुद्ध अर द्रव्य, जास में न्यून प्रकासे ॥
पात्र सभी *रघुनाथ*, अहें ब्रह्माण्ड मँझारी ।
देवो सब को दान, सभी समझो अधिकारी ॥ ८ ॥

दानी अपनी दया को, पाले है दिन रात ।
दया विखे कुछ कल्पना, शङ्का नाहि समात ॥
शङ्का नाहि समात, चित्त कोमल के माँहिं ।
तर्क गिलान सदीव, कठोर अर भृष्ट बनाँइं ॥
ताँ ते हे *रघुनाथ*, न होना देह अभिमानी ।
शङ्का वाला पुरुष नहीं, कहिलावे दानी ॥ ९ ॥

कुण्डली

"देना" तेरा धर्म है, धर्म विखे हो लीन।
लेने वाले के कभी, तू अवगुण नहिं चीन॥
तू अवगुण नहिं चीन, न कर तू तर्क गिलानी।
दान अमृत के बीच, न विष की गन्ध मिलानी॥
अधिकारी *रघुनाथ*, विचारे जग में "लेना"।
पात्र अपात्र विचार, नहीं करता है "देना"॥ १० ॥

दान विखे सत्या सभी, दान विखे कल्यान।
दान विखे शाँती अहे, दान विखे सन्मान॥
दान विखे सन्मान, दान से लछमी आवे।
आपद रोग कलेश, दान से सब हट जावे॥
तेज सभी *रघुनाथ*, दान के माँहीं मान।
अन्तर नयन उघार, करे है उज्जल दान॥ ११ ॥

त्याग विखे महिमा सभी, त्याग विखे आनन्द।
ममता भीत गिराय कर, त्याग बनाय सुछन्द॥
त्याग बनाय सुछन्द, अभय पुन त्याग बनावे।
त्याग धार कर पुरुष, अती प्यारो बन जावे॥
जो माँगे *रघुनाथ* जगत में, उत्तम भाग।
ममता मोह को छोड़, करे धारण वुह त्याग॥ १२ ॥

कुण्डली

त्यागे बिन नाहीं मिले, कोई सुख जग माँहिं ।
मानो जग में त्याग ही, सुख का नाम रखाँइं ।
सुख का नाम रखाँइं, त्याग ही शोक हटावे ॥
दुख चिन्ता अर द्वेष, सभी जल कर मर जावे ।
सङ्ग्रह से *रघुनाथ* रहें, सकले दुख आगे ॥
परमानन्द मिले जब मानुष, ममता त्यागे ॥ १३ ॥

ऐसी आकर्षण अहे, त्याग विखे जग माँहिं ।
नर, नारी, पक्षी, पशू, त्यागी पे बलि जाँइं ॥
त्यागी पे बलि जाँइ, करें तन, मन, धन वारी ।
सकल मनोरथ सिद्ध, त्याग में सत्या भारी ॥
सिद्धी है *रघुनाथ*, नहीं को त्यागे जैसी ।
राजे भी भय खाँइं, त्याग में शक्ति ऐसी ॥ १४ ॥

मोह् त्याग ही त्याग है, नगर त्याग नहिं त्याग ।
वन में कुटी बनाय के, जग जावे नहिं भाग ॥
जग जावे नहिं भाग, अकेला भी उक्लावे ।
वन को छोड़ पुनः वुह जन, इत उत भरमावे ।
त्यागी नेंह *रघुनाथ*, रिदे में जिस के द्रोह ॥
त्याग तभी रस देत, जभी हम त्यागें मोह ॥१५॥

कुण्डली

जगत पदारथ पुरुष के, अन्तर नहिं घुस जाँइं ।
ताँ ते यिह कबहूँ नहीं, दुख सुख को उपजाँइं ॥
दुख सुख को उपजाँइ, रिदे में राग अर द्वेषा ।
राग अर द्वेष जले, बच जावे शाँती शेषा ॥
मन मारे *रघुनाथ* अहे, वुह साचा भगत ।
त्याग सिद्ध नहिं होइ, तजे यदि केवल जगत ॥१६॥
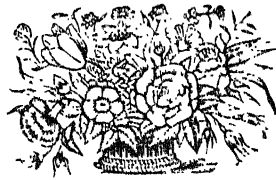
अथ अष्टादश अध्याय

अर्जुन उवाच

दोहा

हे करुणा मय, प्रेम मय, हे धीरज मय, शाँत।
कृपा कीजिये दास पर, काटैं सकली भ्राँत ॥ १ ॥
धार दया समझाइये, होवे क्या वैराग।
सन्न्यासी किस को कहैं, अर होवत क्या त्याग ॥ २ ॥
भली रीत विस्तार से, इन का कहैं स्वरूप।
जिस को रिद में धार कर, पाऊँ योग अनूप ॥ ३ ॥

श्री भगवान उवाच

सन्न्यासी लक्षण

दोहा

राग द्वेष की क्षीणता, हे अर्जुन, वैराग।
इच्छा बिन सन्न्यास है, भोग रहित है त्याग ॥ ४ ॥
आतम में जो इस्थिती, सोई है सन्न्यास।
सन्न्यासी जग में रहे, विषयन ते निर आस ॥ ५ ॥
नाम रूप परपञ्च जो, तुच्छ जिन्हें दरसाँइ।
सन्न्यासी त्यागी पुनः, वैरागी वुह आँहिं ॥ ६ ॥

दोहा

सर्व अवस्था के विखे, जिन को है आनन्द ।
सन्न्यासी तिन को कहें, जीवन्मुक्त सुछन्द ॥ ७ ॥
कोइ भी दुख कष्ट हो, कोई सुख कल्यान ।
उभय अवस्था में रहे, सन्न्यासी सामान ॥ ८ ॥
सम बुध को ही कहत हैं, सन्न्यासी, हे मीत ।
हर्ष शोक में तुल्य जो, सुख दुख में मन जीत ॥ ९ ॥
हान लाभ में सम रहें, ऐसे जन हैं सन्त ।
मान निरादर तास को, कुछ भी नाँहि दिखन्त ॥ १० ॥
भगवे कपड़े, दण्ड अर, तूँबा ले कर भाग ।
इस नटुए की खेल से, सिद्ध न होवे त्याग ॥ ११ ॥
दुख कण्टक चित में अहे, वस्तू में तो नाँहिं ।
ममता त्यागे रिदे से, त्याग सिद्ध हो जाँइं ॥ १२ ॥
मोह दृष्ट बिन जगत में, वरतो तुम दिन रैन ।
ऐसे सन्न्यासी बनो, ऐसे रहो सुखैन ॥ १३ ॥
बाहिर के बन में नहीं, शाँत पदारथ मीत ।
शाँत मिले अन्तर विखे, जब मन पर हो जीत ॥ १४ ॥
रतन तुम्हारे रिदे में, ढूँढो तुम बन माँहिं ।
बाहिर मुखता धरे से, शाँत रतन नहीं पाँइं ॥ १५ ॥
ममता को भञ्जन करो, इच्छा को कर चूर ।
इस विध तू सन्न्यास धर, सुख से हो भरपूर ॥ १६ ॥

दोहा

मार गिलानी द्वेष को, शत्रू को कर प्रेम।
दुख से कर तू प्यार नित, यदि चाहे तू क्षेम ॥ १७ ॥
नाम रूप की प्रीत को, मन से तू कर त्याग।
इस विध जग में बैठ कर, समता बन में भाग ॥ १८ ॥
"यिह अच्छा, यिह बुरा है," इस भ्रम को कर त्याग।
सब में आतम देख तू, यिह समझो वैराग ॥ १९ ॥
आशा, तृष्णा, कामना, जिस की होवे नास।
धीरज युत जो पुरुष है, वुह राखे सन्न्यास ॥ २० ॥
बाहिर के चिन धार कर, मन को रखे मलीन।
ऐसो कपटी पुरुष है, धर्म कर्म ते हीन ॥ २१ ॥
खाल भेड़ की पहिन कर, अन्तर में बघियार।
ऐसे दम्भी पुरुष से, कभी न हो उपकार ॥ २२ ॥
वेष मात्र में जो पुरुष, समझें हैं सन्न्यास।
स्वय भी चञ्चल चित रहें, पर भी करें निरास ॥२३॥
ताँ ते, अर्जुन, समझ रख, वेष विखे कुछ नाँहिं।
शाँत मिले है धर्म में, सुख है आतम माँहिं ॥ २४ ॥
बाहिर के जो रङ्ग हैं, अन्तर रङ्गें नाँहिं।
ऐसे वैसे वेष में, जीव न मुक्ती पाँइं ॥ २५ ॥
वर्ण, वेष, बृधता नहीं, मुक्ती अर्थ उपाइ।
मुक्ती आतम प्रेम में, आतम सब घट माहि ॥२६॥

दोहा

निर गिलान भङ्गी भला, द्वेषी साधू नीच।
भङ्गी तो मुक्ती लहे, साधू तम के बीच ॥२७॥
मरन समय देही तजे, रख जावे सब वेश।
सङ्ग जीव के चलत है, शील कर्म का लेश ॥ २८ ॥
शील कर्म से मिलत है, नरक, स्वर्ग अर मोख।
ताँ ते साचा वेष है, शाँत, धर्म, सन्तोख ॥२९॥
जो जन साचे वेष को, धारें जग के बीच।
वुह पावें हैं मोख को, भावें कैसे नीच ॥३०॥
ऊँच नीच है मन विखे, वेष विखे वुह नाँहिं।
ब्राह्मण जावे नरक में, यवन स्वर्ग को जाँइं ॥३१॥
धर्म विखे इस्थित रहे, जो जन आयुश माँहिं।
वुह होवे परवान है, भावें राज्य कमाँइं ॥३२॥
विषय त्याग ही त्याग है, शुभ इच्छा वैराग।
सन्न्यासी राखे नहीं, इच्छा की कुछ लाग ॥३३॥
शील तपस वैराग का, त्यागी का तप मौन।
शान्त तपस सन्न्यास का, सन्न्यासी सम कौन? ॥ ३४ ॥
पहिले जन वैराग ले, पाछे धारे त्याग।
फिर बारी सन्न्यास की, घोर नींद ते जाग ॥ ३५ ॥
नाम रूप सन्सार को, बिसरे है सन्न्यास।
रात दिवस उस देव का, आतम माँहि निवास ॥ ३६ ॥

अर्जुन उवाच

दोहा

कर्म हीन सन्न्यास है, वा कर्मों में लीन।
इस सन्शय को मया कर, कीजे, *माधव*, क्षीन ॥ ३७ ॥
देह धारी तो कर्म बिन, क्षण भी सके न जी।
ताँ ते कैसे रहत हैं, जग में सन्न्यासी ?। ३८ ॥
त्याग भाव भी कृपा कर, पुन समझाएँ देव।
जिस को बुध में धार कर, समझूँ सुख का भेव ॥ ३९ ॥
कर्म योग की युक्त जो, समझाएँ किरपार।
जिस युक्ती को श्रवन कर, मेरा होइ सुधार ॥ ४० ॥

श्री भगवान उवाच

"पुन्य" वा "पाप" कर्म में नहीं; भाव में है

दोहा

सच है अर्जुन जग विखे, कर्म बिना नहिं कोइ।
कर्म लिये ही जगत में, देही उत्पन होइ ॥ ४१ ॥
पर कर्मों के माँहि भी, अर्जुन, आँहि विवेक।
जैसे इच्छा बहुत हैं, तैसे कर्म अनेक ॥ ४२ ॥
कर्मों में कुछ भी नहीं, सब कुछ इच्छा माँहिं।
उसी कर्म से सुख मिले, उस ही से दुख पाँइं ॥४३॥

दोहा

भाव माँहि बन्धन अहे, भाव माँहि है मुक्त।
भाव शुद्ध है जास का, वुह जाने है युक्त ॥४४॥
ममता का जो भाव है, वुह है बन्धन रूप।
निर्मम कीजे कर्म जो, वुह है मोख अनूप ॥४५॥
कर्म विखे कोई नहीं, अर्जुन, जग में पाप।
मन में जो तव भाव है, वुह देवे सुख ताप ॥४६॥
धर्म भाव से क्रोध जो, वुह देवे है मुक्त।
ममता से जब कोप हो, ताँ की बन्धन भुक्त ॥४७॥
ताँ ते विषयन भोग भी, सुख दुख दोनों लाँइं।
धर्म भाव से सुख मिले, ममता ते दुख पाँइं ॥ ४८ ॥
हत्या में भी उभय हैं, बन्धन भी अर मुक्त।
हत्या जो उपकार से, है मुक्ती की युक्त ॥४९॥
वप को आतम समझ कर, ताँ को पुष्ट बनाँइं।
यूँ करते जो कर्म को, वुह बन्धन को पाँइं ॥५०॥
पर जो मानुष देह ते, स्वय को भिन्न लखेत।
आतम हित से कर्म कर, मुक्ती धाम लभेत ॥५१॥
फल होवे है भाव का, कर्तव्या का नाँहिं।
कर्तव्या तो पशू भी, वैसी करता आँहिं ॥५२॥
ताँ ते, अर्जुन, समझ तू, कर्म नाहिं दुख रूप।
पर कर्मों को कामना, है सब दुख का कूप ॥ ७३ ॥

दोहा

इच्छा बिन जो कर्म है, वुह है धर्म स्वरूप ।
उस ही में आनन्द है, उस में मुक्त अनूप ॥ ७४ ॥
सम्भव जग में कर्म वुह, जो इच्छा बिन होइ ।
ऐसे धर्मी को कहें, सन्न्यासी सब कोइ ॥ ७५ ॥

इच्छा के दो प्रकार—
आतम और अनातम इच्छा

दोहा

इच्छा उभय प्रकार की, अर्जुन, जग के माँहि ।
इक देही इच्छा अहे, दूजी आतम आँहि ॥ ७६ ॥
देही इच्छा पाप है, दुख सङ्कट की खान ।
आतम इच्छा जो अहे, उस को मोख पछान ॥ ७७ ॥
आतम इच्छी को कहें, जग में इच्छा हीन ।
आतम इच्छा ही करे, परमानन्द विलीन ॥ ७८ ॥
याँ ते आतम प्रेम से, जो जन कर्म करेत ।
बाँधे ताँ को कर्म नहिं, पर मुक्ती को देत ॥ ७९ ॥

बन्धन और मुक्ति

दोहा

बाँधा ताँ को कहत हैं, जो हो दीन अधीन।
जग के विषयन को गने, जो रस दायक मीन ॥ ८० ॥
विषयन के पीछे फिरे, सौदाई सम जोइ।
विषयन बिन मानुष्य जो, दुखी होइ अर रोइ ॥ ८१ ॥
ऐसा दीन अधीन जो, वुह है बन्धन माँहिं।
विषय वासना तास में, पुन पुन देह धराँइं ॥ ८२ ॥
पर जो जन आतम विखे, पावे है आनन्द।
सब इच्छा को त्याग कर, विचरे होय सुछन्द ॥ ८३ ॥
भय आशा तृष्णा पुनः, चिन्ता जिस की जाइ।
सोई पुरुष स्वतन्त्र है, सोई मुक्त कहाइ ॥ ८४ ॥
जिस की परसनता नहीं, आश्रित जग के माँहिं।
निर आश्रय जो पुरुष है, सोई मुक्त कहाँइं ॥ ८५ ॥
सर्व अवस्था के विखे, जिस को है आनन्द।
सोई पुरुष कहात है, जीवन मुक्त सुछन्द ॥ ८६ ॥
जग की कोई भी दशा, जिस को नाँहि भ्रमाइ।
ऐसो मानुष जगत में, जीवन मुक्त कहाइ ॥ ८७ ॥
इच्छा और गिलान बिन, आशा बिन, बिन त्रास।
ऐसा सम चित पुरुष जो, मोख वस्त है तास ॥ ८८ ॥
खड्ग धार पर चलत है, जीवन मुक्ती वान।
इत उत वुह डोले नहीं, रहे सदीव समान ॥ ८९ ॥

धर्म स्वरूप

दोहा

इस सीक्षा को समझ कर, कर तू कर्म विचार।
इच्छा मारें कर्म जो, उन कर्मों को धार ॥ १० ॥
इच्छा जिन से दग्ध हो, निर इच्छित पद आइ।
इस विध का जो कर्म है, धर्म वुही कहिलाइ ॥ ११ ॥
धर्म वुही है जास से, मुक्ती पद मिल जाइ।
दीन भाव अर चिन्त जो, जिस से सर्व विलाइ ॥ १२ ॥
जगत पदारथ ते बिना, जो सुख निध दिखलाइ।
धर्म उसी को जानिये, ब्रह्म स्वरूप बनाइ ॥ १३ ॥
निर आश्रय जो करत है, और स्वतन्त्र बनाइ।
इस रीती का कर्म जो, सोई धर्म कहाइ ॥ १४ ॥
शब्द, स्पर्श अर रस पुनः, गन्ध आँहि जो पाँच।
धर्मी को जग में नहीं, इन की लागे आँच ॥ १५ ॥
धरती सम इस्थित रहे, हान लाभ के माँहि।
धरती भी यदि नाश हो, ताँ की धृती न जाँइ ॥ १६ ॥
हान लाभ सब देह को, आतम को कुछ नाँहिं।
ऐसे वैसे के विखे, आतम निर्मल आँहिं ॥ १७ ॥
केवल "है-ता" आतमा, आतम वुह जो "है"।
रूप ढङ्ग बदले यदी, "है-ता" होत न खै ॥ १८ ॥

दोहा

ऐसे हो वा वैस हो, उभय रूप में "है"।
"है"-पन है जो वस्तु में, उस को किस का भै ॥९९॥
इस रीती से पुरुष जो, समझे स्वय को "है"।
हान विखे, आपद विखे, विचरे आनन्द मैं ॥१००॥
ऐसे देव कहात हैं, धर्म वान, बलवान।
मन रोधन का कर्म ही, उन का कर्म पछान ॥१०१॥

साचा बल—शान्ति और आनन्द

दोहा

मारें वुह दिन रैन ही, अपना देह अध्यास।
दान, यज्ञ अर तप से, मन का करें विनास ॥१०२॥
इच्छा के रोधन विखे, चाहिये शक्त महान।
जो इच्छा निग्रह करे, सोई है बलवान ॥१०३॥
इच्छा को जो मानता, वुह निर्बल पहिचान।
बल को जो ढूँढत फिरे, वुह है इच्छा वान ॥१०४॥
ताँ ते बल का कर्म जो, करता है सन्न्यास।
निर्बलता के कर्म से, राखे चीत उदास ॥१०५॥
ममता को जो मारता, तुछता त्यागे जोइ।
त्यागी ताँ को कहत हैं, विस्तीरन जो होइ ॥१०६॥
सब को अपना आप ही, जो जन समझत आँहिं।
सब में वुह व्यापक बने, विस्तीरन कहिलाँइं ॥१०७॥

दोहा

ऐसे ममता त्याग में, पावें परमानन्द ।
सन्न्यासी जो देव हैं, मानें ममता फन्द ॥१०८॥
तन, मन, धन के त्याग को, मुक्ती पद वुह मान ।
सब कुछ पर अर्पण करें, पावें पद निर्वान ॥१०९॥
सब चिन्ता से छूट कर, सब भय से हो पार ।
समझो तिन को जगत में, मुदता का भण्डार ॥११०॥
उन के सुख को जगत में, लगे न काइ कलङ्क ।
आतम में माते फिरें, गनें ईश को रङ्क ॥१११॥
ऐस अवस्था को कहें, हे अर्जुन, सन्न्यास ।
कोइ अवस्था जास को, कर नहिं सकत उदास ॥११२॥
करुणा पुन मैत्री पुनः, मुदता को जो धार ।
और उपेक्षा धार कर, जावें दुख के पार ॥११३॥
तप के रस को पाय कर, सदा रहें निश्चिन्त ।
इन्द्रिय मन को वश करें, रहें सदीव इकन्त ॥११४॥
दूसर को सेवा नमित, सब कुछ कर दें दान ।
दान विखे आनन्द लें, मानें तेंह सुख खान ॥११५॥
करें विलम्ब न रती भी, दे देने में जोइ ।
त्याग कूद कर करत जो, सन्न्यासी हैं सोइ ॥११६॥
विद्या दें, अर अन्न दें, देवें ज्ञान अर ध्यान ।
"देने" के व्यवहार को, सन्न्यासी पहिचान ॥११७॥

दानी ब्रह्म स्वरूप है

दोहा

"दे देना" ही ब्रह्म है, "दे देना" ही मोख।
"दे देने" से ही मिले, धीरज अर सन्तोष ॥११८॥
"देने" में जो चतुर है, वुह सन्न्यासी मान।
"देने" ही की युक्त से, ब्रह्म माँहि हो ध्यान ॥११९॥
जो "लेना" ही जानते, "देने" से उकलाँइं।
ऐसे पामर पुरुष जो, सद दुख में तरपाँइं ॥१२०॥
लटका है "देने" विखे, "देना" ब्रह्म स्वरूप।
जो "देना" नहिं जानते, डूबें तम के कूप ॥१२१॥
सन्न्यासी वुह जन अहें, जो हैं दान स्वरूप।
यज्ञ तपस जिस में रहें, पावें सूख अनूप ॥१२२॥
सन्न्यासी का कर्म है, केवल धर्म, सुजान।
समता का जो यत्न है, ताँ को धर्म पछान ॥१२३॥
दिवस रैन वुह धर्म में, रहि कर सुख को पाइं।
इच्छा युत जो कर्म है, ताँ को दूर भगाइं ॥१२४॥
मन का निग्रह नित करें, सोधें बुध को नीत।
इन्द्रिय वश में वुह रखें, तोड़ें ममता भीत ॥१२५॥
ऐसे जो साधन अहें, वुह हैं उन के कर्म।
उन ही को वुह सच लखें, दूसर गनें विकर्म ॥१२६॥
ऐसे साधन साध कर, साचे वुह बन जाँइं।
सब को आतम मान कर, सब सूँ प्रेम कराँइं ॥१२७॥

साचा और सेवा-युत व्यवहार

दोहा ।

करते वुह व्यवहार भी, लिपित न होवे, मीत ।
झूट अर धोका त्याग कर, तोलें साचा नीत ॥ १२८ ॥
साचा बोलें सच रखें, कपट न धारें सोइ ।
चोरी, हिन्सा ते परे, सब हितकारी जोइ ॥ १२९ ॥
लोभ बिना, तृष्णा बिना, लालच बिन, वुह आँहिं ।
मिथ्या लाभ निमित्त वुह, जीव न मैल चढ़ाँइं ॥ १३० ॥
सब व्यवहारों के विखे, तास प्रयोजन एह ।
ममता बन्धन त्याग कर, फेर न पाऊँ देह ॥ १३१ ॥
जन्म मरण की कैद से, छूटूँ किसी उपाय ।
देही के अध्यास को, भूलूँ ब्रह्म समाय ॥ १३२ ॥
ऐसा व्यवहारी बने, सन्न्यासी जग बीच ।
सब को भाई ही गने, भावें उत्तम नीच ॥ १३३ ॥
राज द्वार में यदि अहे, वढ्ढी मूल न खाँइं ।
अपने अपने काम को, सच के साथ निभाँइं ॥ १३४ ॥
यदि रखते हैं जगत में, ऐसे मानुष हाट ।
तोल बोल अर वस्त में, कभी न वरतें काट ॥ १३५ ॥
वस्तू में कब हूँ नहीं, करें मिलावट खोट ।
भाउ, तोल में कभी भी, वुह वर्तें नहिं त्रोट ॥ १३६ ॥
सोने को सोना कहें, लोहे को वुह लोह ।
साचे व्यवहारी बनें, तज कर ममता द्रोह ॥ १३७ ॥

व्यवहारी योगी, सन्न्यासी और जीवन मुक्त

दोहा

इस रीती व्यवहार में, रहें ब्रह्म से युक्त ।
परमानन्द विलीन वुह, होवें जीवन मुक्त ॥ १३८ ॥
कर्म योग इस को कहें, योगी जो बन जाइ ।
व्यवहारों के बीच में, आतम को जो ध्याइ ॥ १३९ ॥
आतम ध्यान यिही अहे, "सच" का जो व्यवहार ।
सब में अपना आप ही, देखन आँहि विचार ॥ १४० ॥
नाम रूप की कल्पना, "सच" में होवे दूर ।
किस से वुह दोखा करे, जब स्वय ही भरपूर ?॥ १४१ ॥
तप महान है "सच" विखे, "साचा" योगी आँहि ।
कर्म कर्म में आतमा, ऐसो पुरुष धियाँइ ॥ १४२ ॥
सकल सृष्ट माला उसे, मनका इक इक वस्त ।
सब को आतम देख कर, रहे योग में मस्त ॥ १४३ ॥
आतम वत जब हित करे, कोई जग के माँहिं ।
अन्तर बाहर "सच" बने, उस सम योगी नाँहिं ॥ १४४ ॥
कर्म रूप बन जात है, ऐसे का जो ज्ञान ।
स्वप्न विखे भी वुह पुरुष, राखे सब का मान ॥ १४५ ॥
दूसर भाव विलाइ सब, उस के मन ते, मीत ।
पर सूँ दोखे को गने, स्वय सूँ दोखा नीत ॥ १४६ ॥
कर्म माँहि वुह करत है, परमातम से योग ।
सद वुह जीवन्मुक्त है, भावें भोगे भोग ॥ १४७ ॥

दोहा

कर्म योग इस को कहें, परमानन्द निधान ।
ऐसे योगी पुरुष को, सन्न्यासी पहिचान ॥ १४८ ॥
त्यागी वैरागी पुनः, सन्न्यासी इक मान ।
द्वैत दृष्ट उन से गई, रहें सदीव समान ॥ १४९ ॥
कर्म करें, पर आप को, दूसर माँहि पछान ।
अपने सूँ वुह आप ही, लीला करें समान ॥ १५० ॥
भय ते, चिन्ता ते परे, दम्भ, कपट ते पार ।
निर्मल मन, प्रेमी रिदे, कर साचा व्यवहार ॥ १५१ ॥
भाव शुद्ध यदि तोर हो, कर्म न तोहि फसाँइं ।
उलटा साचे कर्म जो, परमानन्द दिलाँइं ॥ १५२ ॥
कर्म विखे तू लीन हो, आगा पीछ भुलाइ ।
कर्ता, क्रिया भुलाइ कर, आतम रस तू पाइ ॥ १५३ ॥
चित से जोइ अचित्त है, करते हूए काम ।
मस्ती में जो मस्त है, योगी ताँ का नाम ॥ १५४ ॥
इस उत्तर को समझ कर, स्वय सन्शय कर दूर ।
सन्न्यासी के कर्म जो, आतम रस कर पूर ॥ १५५ ॥

अर्जुन उवाच

दोहा

भाँत भाँत के त्याग हैं, भगवन, जग के माँहिं ।
कृपाधार वर्णन करें, कैसे कैसे आँहिं ॥ १५६ ॥

दोहा

मानत हूँ सब भाव पर, बन्धन मुक्ती आँहिं ।
एक भाव से मुक्त हो, एक भाव फन्साँइं ॥ १५७ ॥
प्रेम भाव ते मुक्त हो, राग द्वेष से भार ।
बाहिर के कर्मन विखे, रञ्चक भी नहिं सार ॥ १५८ ॥
समझत हूँ उपदेश यिह, हे *श्री कृष्ण मुरार* ।
कर्म पुन्य अर पाप हैं, भावन के अनुसार ॥ १५९ ॥
पर यिह सन्शय रहत हैं, उस को क्या फल आँहिं ।
जगत पदारथ छोड़ कर, जो बन भीतर जाँइं ॥ १६० ॥
तज कर सर्व कुटुम्ब को, सर्व राज्य को त्याग ।
जो मानुष इस जगत में, जङ्गल जावें भाग ॥ १६१ ॥
वुह किस श्रेणी माँहि हैं, त्यागी हैं वा नाँहिं ।
इस देही के मरण पर, किस विध का फल पाँइं ॥ १६२ ॥
मुक्त लहें वुह वा नहीं, शाँत लहें, वा नाँहिं ।
इस सन्शय को *कृष्ण जी*, करुणा कर बिसमाँइं ॥ १६३ ॥

श्री भगवान उवाच

केवल "गृह" त्याग सन्न्यास नहीं; परन्तु "मन" त्याग सन्न्यास है

दोहा

हे अर्जुन, यदि समझते, मेरा प्रथम् उपदेश ।
रहिता तेरी बुद्धि में, कोइ न सन्शय शेश ॥ १६४ ॥

दोहा

कर्म आँहि निष्फल सभी, भाव विखे फल आँहि ।
उत्तर तेरी शङ्क का, है इस पँक्ती माँहि ॥ १६५ ॥
भाव शुद्ध को जगत में, आहे एक समान ।
गृह में विचरें वा करें, जङ्गल में अस्थान ॥ १६६ ॥
भाव तुले परलोक में, कर्म न परखा जाइ ।
बन वासी नरके परे, ग्रेही मुक्ती पाइ ॥ १६७ ॥
जो गिलान अर दुःख से, त्यागे अपना ग्रेह ।
भाव मलीन रिदे विखे, छोड़े नाँहि सनेह ॥ १६८ ॥
जिस के रिद में द्वेष है, उस में भी है राग ।
राग द्वेष मन के विखे, यिह कैसा वैराग ?। १६९ ॥
जग से जावे बन विखे, बन से आवे ग्रेह ।
ऐसे भटकत ही फिरे, जोरे तोरे नेह ॥ १७० ॥
दुख तो आहे "मन" विखे, "जग" माँहीं दुख नाँहिं ।
जब तक "मन" भीतर अहे, दुख नहिं छूटत आँहिं ॥ १७१ ॥
राग द्वेष को "मन" कहें, जब तक यिह है बीच ।
बन हो अथवा ग्रेह हो, सब . भासेंगे नीच ॥ १७२ ॥
जो वृत भागे ग्रेह से, वुह अन्तर रहि जाँइं ।
बन में भी ले जाय कर, भागन ही सिखलाँइं ॥ १७३ ॥
तर्क द्वेष को रोधना, यिह है सचला त्याग ।
ऐसे "मन" के त्याग से, बिसमे दुख की आग ॥१७४॥

गिलानी से कुटुम्ब त्याग, तामस त्याग है

दोहा

जो जन तजे कुटुम्ब को, दुख मय उस को जान।
ऐसे तामस त्याग को, द्वेष गिलानी मान ॥१७५॥
बच्चे बूढ़े छोड़ कर, जो अपना सुख चाँहिं।
सुख तो था उपकार में, कैसे वुह सुख पाँइं ?।१७६॥
पर का रिदा दुखाय कर, स्वय सुख जो ढूँढ़े।
ऐसा हिन्सक पुरुष तो, व्याकुल ही भटके ॥१७७॥
सब का आतम एक है, सब में है सम्बन्ध।
दुख पावे जब एक जन, पहुँचे सब को गन्ध ॥१७८॥
इस रीती से जो तजे, दुख दायक सन्सार।
देही के सुख के लिये, पर को दुख में डार ॥१७९॥
ऐसे अर्थी पुरुष को, कभी न आवे शाँत।
उलटा ताँहि जलात हैं, निश दिन भय अर भ्राँत ॥१८०॥
जीते जी दुखता फिरे, मर कर नरके जाँइं।
पुनर्जन्म को धार कर, बच्चों से दुख पाँइं ॥१८१॥
ऐसी गत हो तास की, राग द्वेष जिस माँहि।
पर को कूँए डाल कर, अपना सुख जो चाँहिं॥१८२॥
इस रीती से समझ तू, वुह मानुष है नीच।
बन को जो उड़ जात है, धर कुटुम्ब दुख बीच ॥१८३॥

गिलानी रहित गृह त्याग, निर्दोष त्याग है

दोहा

पर ऐसे भी देव हैं, रहित गिलानी जोइ।
पर सुख अर्थ तियाग दें, घर आदिक को सोइ ॥१८४॥
द्वेष कष्ट रञ्चक नहीं, जिन के मन के माँहिं।
होय दयाल कुटुम्ब को, सहिजे त्यागत आँहिं ॥१८५॥
उन के रिद में है नहीं, रञ्चक मात्र गिलान।
त्याग मोह को करत वुह, जग सूँ प्रेम समान ॥ १८६ ॥
छोटे गृह को त्याग कर, जग को ग्रेह बनाँइं।
सब सूँ प्रेम समान रख, मोह विशेष नसाँइं ॥ १८७ ॥
ऐसे उत्तम पुरुष जो, स्वर्ग मोख को पाँइं।
ऐसे निर अभिमान को, कोई विपद न आँइं ॥ १८८ ॥
त्यागत आँहि विशेषता, धारें दृष्ट समान।
त्यागत वुह हैं मोह को, बनते प्रेम निधान ॥ १८९ ॥
अपने पर के पुत्र को, करें समान प्रतीत।
इस विध राग अर द्वेष से, रहें सदीव अतीत ॥ १९० ॥
भावें जीता रहे वुह, भावें वुह मर जाइ।
उभय अवस्था के विखे, सन्त समान रहाइ ॥ १९१ ॥
इस रीती से सन्त जन, समता मुदता धार।
सर्व दशा में तुल रहें, तर जावें सन्सार ॥ १९२ ॥

दोहा

रक्षा करें कुटुम्ब की, समता रिद में धार ।
नाम रूप की प्रीत ते, हो जावें वुह पार ॥ १९३ ॥
अपना पर का है उन्हें, तुल्य अर सम अर एक ।
आतम मात्र विखे रहें, जिस में नाहिं विवेक ॥ १९४ ॥
त्याग करें वुह रूप की प्रीती चित से मीत ।
व्यापक आतम बन विखे, विचरत हैं वुह नीत ॥ १९५ ॥
बाहिर "रूप" कहाइ जो, अन्तर "मन" तिस नाम ।
दुख का कूप यिही अहे, सुख है "आतम राम" ॥ १९६ ॥
रूप प्रीत को त्याग कर, मन को ऐसे मार ।
आतम माँहि विलीन हो, तज ऐसे सन्सार ॥ १९७ ॥
दुख दाई तो मोह है, घर दुख दाई नाँहिं ।
त्याग मोह को रिदे से, परमानन्द विलाइँ ॥१९८॥

दुख दाई मूर्ती पूजा

दोहा

रूप प्रीत अर मोह को, प्रतिमा पूजन मान ।
ऐसी प्रतिमा पूजना, निन्दें सब बुध वान ॥ १९९ ॥
रूप पुजारी दीखता, सारा ही सन्सार ।
इस विध सकल जहान ही, प्रतिमा पूजन हार ॥ २०० ॥

दोहा

इस प्रतिमा पूजन विखे, दुख, चिन्ता अर सोग ।
नहिं तो पाथर मूरती, है नहिं निन्दन योग ॥ २०१ ॥
निन्दित दुख दायक अहे, ममता, प्रीत अर मोह ।
नहिं तो निरमम प्रेम में, रञ्चक नहिं कुछ द्रोह ॥ २०२ ॥

जड़ वस्तू पूजा

दोहा

पाथर अथवा रङ्ग की, मूरत जो पूजें ।
सर्व वियापी ब्रह्म का, वुह निर्मम रस लें ॥ २०३ ॥
जो जड़ अर चेतन विखे, इक सत्ता को पाँइं ।
किन्तू जड़ की शाँत को, स्वय आदर्श बनाँइं ॥ २०४ ॥
ऐसों को जो निन्दते, ब्रह्म हतियारे आँहिं ।
निश्चल को चञ्चल करें, चित की शाँत उड़ाँइं ॥ २०५ ॥
प्रेम उड़ा कर द्वेष को, चित में आन घुसाँइं ।
जड़ से ब्रह्म निकाल कर, कैदी ताँहि बनाँइं ॥ २०६ ॥
"चेतन पूजा" से बड़ी, "जड़ पूजा" सौ वार ।
"जड़" समता अर शाँत का, मानो इक भण्डार ॥ २०७ ॥
"चेतन पूजा" मोह है, "जड़ पूजा" निर माम ।
ताँ ते "जड़" को सन्त जन, मानें सुख का धाम ॥ २०८ ॥

दोहा

"जड़" में "चञ्चल" लोप है, "चञ्चल" "जड़" का खेद।
"जड़" "चञ्चल" की खान है, ताँ ते दोउ अभेद ॥ २०९ ॥
जड़ का निन्दन जगत में, मानो घोर अज्ञान।
"ईश्वर" की जो "शाँत" है, ताँ का "जड़" में भान ॥ ११० ॥
जड़ ही पालक जगत का, अन जल पवन स्वरूप।
जिस के तुम आश्रय अहो, वुह तो विश्व अनूप ॥ २११ ॥
"जड़ पूजा" नहिं निन्दनी, निन्दित "निन्दन" आँहिं।
"द्वेष गिलानी" निन्दनी, "साचा जड़" इस माँहिं ॥ २१२ ॥
द्वैत दृष्ट ही जड़ अहे, झगड़े झेड़े मूल।
ताँ ते तोड़ो "द्वैत" को, नासे मन का शूल ॥ २१३ ॥
जड़ अर चेतन उभय हैं, ईश्वर के दो रूप।
दोनों का आदर करो, भक्ती मोक्ष अनूप ॥ २१४ ॥
"ईश्वर" अहे "समाध" में, "जड़" के भीतर, मीत।
"चञ्चल मन" हो कर दिसे, "चेतन" में वुह नीत ॥ २१५ ॥
जड़ होता नाँ जगत में, होती कहाँ इकाँत?
योगी कहाँ निवासते, क्यों कर पाते शाँत? २१६ ॥
"जड़" तो है जगदीश का, "लक्षन मुक्ष प्रधान"।
अर "चेतन" को ईश की, "रोग अवस्था" मान ॥ २१७ ॥
मूढ़ महा वुह पुरुष हैं, जो निन्दें "जड़ भक्त"।
जड़ ही की सेवा विखे, मिलती है सब शक्त ॥ २१८ ॥

दोहा

सत्र को "सत्ता" देत है, ताँ ते "सत" "जड़" माँहिं ।
चेतन की "जड़" "जोत" है, ताँ ते "जड़" "चित" आँहि ॥२११॥
"शाँत" अर "समता" श्रवत हैं, जड़ से दिन अर रात ।
ताँ ते "जड़" "आनन्द" है, तत्व ज्ञान यिह बात ॥ २२० ॥
द्वेष भावना दुख अहे, दुख है भाव विशेष ।
समता जब प्रापत हुई, दुख का रहे न लेश ॥ २२१ ॥

आतम स्थिती सच्चा बन वास है

दोहा

साचा बन आतम अहे, जा में रञ्च न द्वेष ।
जाँ नहिं खोव विखाद को, चञ्चल भाव न लेश ॥ २२२ ॥
ऐसे बन में जात हैं, सन्न्यासी जग माँहिं ।
राग द्वेष को त्याग कर, आतम इस्थित पाँइं ॥ २२३ ॥
नहिं काहू से प्रीत है, नाँहीं तिसे गिलान ।
नहिं छोड़े, नहिं पकड़ता, मध में ले अस्थान ॥ २२४ ॥
ऐसे मधवर्ती पुरुष, सन्न्यासी कहिलाँइं ।
ग्रहण त्याग के बीच में, आसन सहज लगाँइं ॥ २२५ ॥
वृत अडोल जो रखत हैं, जग के द्वन्दन माँहिं ।
निश्चल बुध जो सोम चित, वुह सन्न्यासी आँहिं ॥ २२६ ॥
नहिं लागे भागे नहीं, इसथित मत जो कोइ ।
चाह अचाह के बीच में, सन्न्यासी नित सोइ ॥ २२७ ॥

दोहा

नहिं माँगे फैंके नहीं, खोव वृती ते पार ।
सन्तोषी जो पुरुष हैं, वुह सन्न्यासी सार ॥ २२८ ॥
पर की दशा परेख कर, नहिं ललचावे जी ।
ऐसा जो सन्तुष्ट है, वुह है सन्न्यासी ॥ २२९ ॥
ताँ को कौतुक देख कर, कभी न हो अश्चर्ज ।
नाहिं डरावे तास को, कभी सिङ्घ की गर्ज ॥ २३० ॥
ऐसो जो निश्चल मती, सन्न्यासी कहिलाइ ।
घर ते डरने से उसे, आतम लज्जा आइ ॥ २३१ ॥
किस को समझे न्यून वुह, किस को कहे विशेष ?
किस ते धारे प्रीत वुह, किस से राखे द्वेष ?। २३२ ॥
सब घट पूरन आप को, देखे जब वुह सन्त ।
किस की इच्छा वुह करे, किस से रहे इकन्त ?। २३३ ॥
सर्व अवस्था के विखे, जिस को है आनन्द ।
सन्न्यासी ताँ को कहें, ब्रह्म स्वरूप सुछन्द ॥ २३४ ॥
ऐसे को त्यागी कहें, आचारज बुध वान ।
इक को तज दूसर गहें, वुह हैं मूढ़ पुमान ॥ २३५ ॥
त्यागी वुह है जगत में, जो निर्मम हो जाइ ।
निर्गिलान निर्द्वेष पुन, सब सूँ सम हित लाइ ॥ २३६ ॥
यदि त्यागे भी प्रेम में, उस के भेद न आइ ।
त्यागे पुरुषों साथ भी, आतम हित दिखलाइ ॥ २३७ ॥

दोहा

ऐसा योगी कास का, वैरी कभी न होइ ।
वैरी का भी प्रेम से, वैर जलावे सोइ ॥ २३८ ॥
इस उत्तर को समझ कर, हे अर्जुन, ले शाँत ।
मन का फुरना दूर कर, चित की मेटो भ्राँत ॥ २३९ ॥
ममता त्यागे के बिना, होवत त्याग न सिद्ध ।
निर्मम सद त्यागी अहे, यद्यपि हो निर्विद्ध ॥ २४० ॥

त्रिविध त्याग

दोहा

त्यागी त्रिविधा जग विखे, उत्तम मध्यम मन्द ।
इन को भी तू श्रवण कर, सुन कर होय सुछन्द ॥ २४१ ॥
विषय अर्थ जो त्याग है, वुह है तामस त्याग ।
अधम इस को जान तू, कभी न इस में लाग ॥ २४२ ॥
त्याग करे जो जगत में, यश अर शोभा अर्थ ।
मध्यम ऐसा त्याग है, बिस्मे सकल समर्थ ॥ २४३ ॥
त्याग लिये जो त्याग है, वुह है उत्तम त्याग ।
शाँत देत अर मोख दे, मारे दुख का नाग ॥ २४४ ॥

दोहा

त्याग मात्र में है सुधा, "देने" में है शाँत।
ममता का दुख नाश हो, जावे चिन्ता भ्राँत ॥ २४५ ॥
यिही त्याग ही त्याग है, दूसर है व्यवहार।
व्यवहारी किस विध लहे, दुख मय जग का पार ॥ २४६ ॥
इस विवेक को समझ तू, शाँत पदारथ माँग।
त्याग विखे लिवलीन हो, रख नहिं फल की ताँग ॥ २४७ ॥
ममता तज कर बनत है, सन्न्यासी जग माँहि।
भावें वुह जन खड़ग से, सारा जगत कटाँइं ॥ २४८ ॥

अर्जुन उवाच

दोहा

करता, कारन कौन है, जग में *कृष्ण मुरार*।
कौन कर्म करता अहे, कौन करे व्यवहार ?। २४९ ॥
को सामग्री चाहिये, कर्तव्या के हेत ?
किस किस वस्तू के बिना, काम न कोइ चलेत ?। २५० ॥
कृपा धार भञ्जन करें, यिह सन्शय, भगवान।
जाँ ते करता, कर्म अर, क्रिय की होय पछान ॥ २५१ ॥
करता आतम को गनूँ, याँ ते दुख सुख पाउँ।
क्या यिह निश्चय ठीक है, या इस को बदलाउँ ॥ २५२ ॥
दुख सुख भोगे कौन है, कौन बने है मोख ?
इच्छा धारी कौन है, कौन धरे सन्तोख ?। २५३ ॥

श्री भगवान उवाच

आत्मा का स्वरूप

दोहा

आतम तो, अर्जुन, अहे, सकल अवस्था पार ।
यूँ वूँ में इक रस रहे, यूँ वूँ है सन्सार ॥ २५४ ॥
आतम "है-ता" मात्र है, सर्व अवस्था "है" ।
ताँ ते "है" जो वस्त की, हो सक्ती नहिं खै ॥ २५५ ॥
जिम तरङ्ग अर बुद्बुदे, कैसे धारें ढङ्ग ।
पर जल के जल भाव को, कर सकते नहिं भङ्ग ॥ २५६ ॥
तैसे "है-ता" मात्र जो, रहिता एक समान ।
ऐसे वैसे रूप में, वस्तू एक पछान ॥ २५७ ॥
इस रीती से आतमा, दुख सुख से है पार ।
दुख सुख दोनो ढङ्ग हैं, वस्तू आतम सार ॥ २५८ ॥

"जीव" और "मन" स्वरूप

दोहा

आतम को दुख सुख नहीं, जुग में आतम एक ।
दुख सुख होवत "जीव" को, जिस में आँहिं विवेक ॥ २५९ ॥
"आतम" में जब भ्रम रमे, ताँ को "जीव" बताइ ।
भ्रम है, अर्जुन, द्वैत का, "भ्रम" ही "मन" कहिलाइ ।२६० ।

दोहा

"भ्रम-युत आतम" "जीव" है, "भ्रम बिन जीवा" "ब्रह्म्म"।
"ब्रह्म" अर "आतम" एक हैं, इक हैं "मन" अर "भ्रम्म" ।२६१ ।
"मन" "आतम" में रोग है, जो तेंह "जीव" बनाइ ।
"मन" मारो तो "जीव" ही, "ब्रह्म" रूप हो जाइ ॥ २६२ ॥
भ्रम की ऐनक से दिसे, सिनिमा वत सन्सार ।
"मन" वा "भ्रम" जब नाश हो, "जग जादू" हो छार ॥ २६३ ॥
"दूसर" के भ्रम से उगे, "जीव" विखे सन्ताप ।
अप्नी कल्पी देह को, माने अप्ना आप ॥ २६४ ॥
अप्ने भ्रम की छाय जो, जगत रूप दरसात ।
ताँ को समझे सत्य अर, सुख वा दुख की मात ॥ २६५ ॥
जाँ ते "मन" "जग" एक हैं, "जग" का कोइ विकार ।
"मन" में उतपन होत है, यिह रीती सन्सार ॥ २६६ ॥
जाँ ते "मन" भ्रम मात्र है, दुख सुख सर्व विकार ।
"आतम" निर्मल सर्वदा, ताँ को सकत बिसार ॥ २६७ ॥
इस रीती से "आतमा", सुख दुख ते है पार ।
सुख वा दुख "मन" को लगे, "मन" ही सुख दुख सार । २६८ ।
"मन" ही को "इच्छा" कहें, "इच्छा" द्वैत स्वरूप ।
"इच्छा" से ही "जीव" हो, जो है ब्रह्म अनूप ॥ २६१ ॥
जब "इच्छा" को त्याग दें, निर इच्छत बन जाइ ।
तब वुह "जीव" "आतम" बने, जीवन मुक्त कहाइ ॥ २७० ॥

दोहा

धीर वीर वुह जीव है, वुही जीव सन्तुष्ट।
कृश्य जीव वुह नहीं रहा, अब वुह आतम पुष्ट ॥ २७१ ॥
ताँ ते झूटे भ्रम विखे, तड़पो नाहीं मीत।
ब्रह्म बनो, भ्रम को तजो, राज गदी को जीत ॥ २७२ ॥
"मन" ही करता भोगता, "मन" ही है सन्सार।
इच्छा धारी "मन" अहे, "मन" ही में व्यवहार ॥ २७३ ॥
जब "मन" को चूरन करें, "भ्रम" को दूर नसाँइं।
नाम, रूप जड़ जात सब, आतम ही रहि जाँइं ॥ २७४ ॥
आतम जो साखी अहे, सब कर्मों के माँहिं।
जितने जितने कर्म हैं, "मन" ही को बदलाँइं ॥ २७५ ॥
"मन बुध" ही को कहत हैं, जीव सभी विद्वान।
ताँ ते कर्ता, कर्म तू, "जीव" विखे ही मान ॥ २७६ ॥
"भ्रम" अर "ब्रह्म" मिले उभय, जीव स्वरूप बनाइ।
जन्म मरन है जीव को, इस को जग दरसाइ ॥ २७७ ॥
"भ्रम" ही से "इच्छा" फुरे, "भ्रम" ही से सब कर्म।
"भ्रम बिन" "आतम" है सदा, निश्चल और अकर्म ॥ २७८ ॥
"भ्रम" छोड़े जब "जीव" को, "ब्रह्म" रूप हो जाइ।
कर्ता, कर्म् अर क्रिया की, त्रिपुटी सर्व विलाइ ॥ २७९ ॥
दुख सुख है सब "भ्रम" विखे, मानो तो यिह आँहिं।
धीरज को दुख सुख नहीं, नाहीं डीठ हिलाँइं ॥ २८० ॥

दोहा

भूल सके जब "जीव" सब, सब कुछ बाहिर आँहिं।
बाहिर सब कुछ "भ्रम" अहे, "भ्रम" ही भूल सकाँइं ॥ २८१ ॥
ताँ ते, अर्जुन, जान तू, "जग" है "भ्रम" की भीत।
माने को तो दुख अहे, बिन मन को है जीत ॥ २८२ ॥
नाम रूप जितने अहें, सब ही तोहि भ्रमाँइं।
निर चिन्ता से खेंच कर, चिन्ता वान बनाँइँ ॥ २८३ ॥
भ्रम अर चिन्ता रूप हैं, इस विध नाम अर रूप।
सून विखे इस्थित करें, ताँ ते सून स्वरूप ॥ २८४ ॥
याँ ते सन्त, महातमा, भूलें नाम अर रूप।
आतम में इस्थित रहें, परमानन्द स्वरूप ॥ २८५ ॥

कर्म सामग्री

दोहा

अब सामग्री कहत हूँ, कर्मों की जग माँहिं।
इस को सुन कर मित्र मम, निर सन्शय हो जाँइं ॥ २८६ ॥
कर्म लिए जग के विखे, चाहिये वस्तू पाँच।
अर्जुन, इन्हें विचार कर, जिस ते लगे न आँच ॥ २८७ ॥
"इच्छा" हो अर "रूप" हो, "इन्द्रिय" हो अर "देव"।
"रूपन का सञ्योग" हो, पाँच करें जग सेव ॥ २८८ ॥
जग में जेते कर्म हैं, इन बिन सिद्ध न होइँ।
कर्म नास हो जात हैं, जब यिह पाँच विलोइँ ॥ २८९ ॥

दोहा

इन पाँचों को सोच कर, जब हम देखें, मीत।
"रूप" "रूप" सञ्योग को, "कर्म" कहें हम नीत ॥ २१० ॥
जाँ ते रूप अतीत है, आतम तेरा, मीत।
कर्म न आतम के विखे, सोइ अकर्ता नीत ॥ २११ ॥
जब इस रीती से लखें, स्वय को आतम मात्र।
इच्छा तेरी दग्ध हो, होवें सुख का पात्र ॥ २१२ ॥
कर्म बनें तब धर्म सब, द्वैत भाव बिस्माइ।
कर्म लेश तब नहिं लगे, चिन्ता, भय सब जाइ ॥ २१३ ॥
सर्व दुःख अर रोग सब, आपद सब, सब शोक।
आवें जब, निज को लखें, कर्ता भर्ता लोक ॥ २१४ ॥
जब यिह भ्रम जावे तभी, परमानन्द लभाइ।
सब सूँ आतम प्रेम जो, यिह नहिं कर्म कहाइ ॥ २१५ ॥
"कारण" जग में एक है, "इच्छा" ताँ का नाम।
"इच्छा" से प्रगटें सभी, "अच्छे" "मन्दे" काम ॥ २१६ ॥
ताँ ते, अर्जुन, समझ तू, "इच्छा" "कर्म सुरूप"।
"मन" को कर्ता मान तू, "आतम" शाँत अनूप ॥ २१७ ॥

कहिनी और रहिनी

दोहा

कहिना तो यिह सुगम है, "मैं हूँ आतम मात्र"।
"ताँ ते इच्छा लेश का, मैं नाहीं हूँ पात्र" ॥ २१८ ॥

दोहा

ऐसे मुख ज्ञानी बहुत, पालें "इच्छा" साप ।
विषय भोग में लत रहें, पर कहें "हम निष्पाप" ॥ २९९ ॥
"हम तो हैं आतम अमल, मन ते हैं हम दूर ।
"मन के राग अर द्वेष की, हम को चढ़त न धूर" ॥ ३०० ॥
ऐसे ज्ञानी मूढ़ हैं, अज्ञानी, अति अन्ध ।
कहिते "हम तो मुक्त हैं", जब "इच्छा" में बन्ध ॥ ३०१ ॥
जिस में "इच्छा" फुरत है, वुह नहि "आतम", भूप ।
"आतम" तो "आनन्द" है, "इच्छा" "चिन्ता रूप" ॥ ३०२ ॥
जब वुह चाहें इष्ट को, फेंकें परे अनिष्ट ।
कड़वे को त्यागन करें, भुञ्चें रुच से मिष्ट ॥ ३०३ ॥
राग, द्वेष की जो सहें, नित्य चपेड़ें, मीत ।
भय अर चिन्ता ताप में, जो तड़पें हैं नीत ॥ ३०४ ॥
वुह "आतम" मानें नहीं, स्वय को "निश्चय माँहिं" ।
"निश्चय में" वुह "जीव" हैं, वा केवल "मन" आँहिं ॥ ३०५ ॥
हो कर डरती, काँपती, निर्बल, कायर, भेर ।
मुख से दम्भी कहत हैं, "हम तो निरभय शेर" ॥ ३०६ ॥
जब तक करनी "शेर" की, नहि धारे वुह "भेर" ।
तब तक कैसे बन सके, जग भीतर वुह "शेर" ॥ ३०७ ॥
तैसे "जीव" न हो सके, "आतम" निरमल, मीत ।
जब तक "इच्छा मैल" से, उस की लागी प्रीत ॥ ३०८ ॥

दोहा

"निरमल सोना" "आतमा", "मैला सोना" "जीव"।
मैल चढ़ी "मन" की उसे, "मन मारे" हो "सीव" ॥ ३०९ ॥
"मन" ही तो तव "मैल" है, जब तक "मन" तुद माँहिं।
तब तक कैसे कहि सकें, मैल न तोहि चढ़ाँइं ॥ ३१० ॥
जब तक "मन" तू मानता, माने तू "निज मैल"।
भावें मुख बकता फिरे, "मैं आतम निर वैल" ॥ ३११ ॥
रोगी अर नीरोग का, जैसे है दृष्टान्त।
तैसे "आतम" "रोग बिन", "जीव" माँहिं "भय भ्राँत"॥ ३१२ ॥
जब तक "इच्छा रोग" है, अर "मन" की है मैर।
तब तक जीव न कहि सके, "मैं आतम निर वैर" ॥ ३१३ ॥
"इच्छा रोग" न जा सके, पल में, अर्जुन भ्रात।
जनम जनम के "यतन" से, "तप" से "इच्छा" जात॥ ३१४ ॥
जन्मों में उतपन हुआ, जन्मों में हो नास।
एक मिनिट के सोच से, रोग न जावे तास ॥ ३१५ ॥
केवल "समझे" से नहीं, जांवे "मन का रोग"।
यतन, तपस, अभ्यास से, धीरे आवे योग ॥ ३१६ ॥
जेंह इच्छा नहिं रती भी, वुह है जीवन मुक्त।
"इच्छा युत" "जीव आतमा", होत न "आतम युक्त" ॥ ३१७ ॥

अर्जुन उवाच

दोहा

धन्य धन्य हो कृष्ण जी, मैं जाऊँ बलिहार ।
करुणा के तुम अबिध हो, अर हो ज्ञान भँडार ॥ ३१८ ॥
कृपा तुम्हारी से भयो, चित में तृप्ती, शाँत ।
सन्शय सब जाते रहे, बिस्मी "मन की भ्राँत" ॥ ३१९ ॥
मैं करता नहिं भोगता, मैं हूँ ब्रह्म स्वरूप ।
"नाम रूप" सब "भ्राँत" है, यिह "भ्रम" "दुख का कूप" ॥ ३२० ॥
समझ्यो भली प्रकार मैं, हे सतगुरु, यिह ज्ञान ।
जिस से निर्भय मैं हुआ, खेचूँ तीर कमान ॥ ३२१ ॥
धरती के दुख के नमित, मारूँ मैं तलवार ।
दुष्टों के सर काटता, ममता "मन" तें डार ॥ ३२२ ॥
धार रिदे में भाव यिह, लड़ता हूँ मैं, देव ।
पर गिनता हूँ रिदे में, ऐस लड़ाई सेव ॥ ३२३ ॥
पाप जगत से नष्ट हो, होय धर्म का राज ।
इस निश्चय से करत हूँ, *माधव*, युध का काज ॥ ३२४ ॥
धर्म भाव से काट दूँ, यदि सारा सन्सार ।
मानत हूँ नहिं होत है, मुझ पर राई भार ॥ ३२५ ॥
नाशी सब के देह हैं, आगे पीछे जाँइं ।
क्या होगा यदि चार दिन, पहिले दुष्ट सिधाँइं ॥ ३२६ ॥
सीख्या उन को आयगी, "पाप करें हैं नास" ।
आगे जन्मों में उन्हें, होगा धर्म प्रकास ॥ ३२७ ॥

दोहा

मैं भी उज्जल बनूँगा, कर के जग की सेव ।
गो का भार उतार कर, बन जाऊँगा देव ॥ ३२८ ॥
इच्छा सगरी जार कर, धर्म विखे थिर होइ ।
प्रेम भाव से लड़त हूँ, द्वेष न मन में कोइ ॥ ३२९ ॥
हे माधव, हे कृष्ण जी, दीजे मोहि अशीर ।
धर्म विखे इस्थित रहूँ, वीर बनूँ अर धीर ॥ ३३० ॥
यद्यपि मो सन्शय नहीं, पर अभिलाषा आँहिं ।
अपने मुख से, *कृष्ण जी*, ज्ञान प्रकार सुनाँइं ॥ ३३१ ॥
कर्म भ्राँत भी मो कहें, कर्ता के भी भेद ।
हे सत गुरु, तुमरो वचन, मुझ को है सम वेद ॥ ३३२ ॥

श्री भगवान उवाच

त्रिविध ज्ञान

चौपाई

हे अर्जुन, सुन ज्ञान विचार । ज्ञान रखे है तीन प्रकार ॥
इक सात्विक इक राजस भाई । इक तामस यिह तीन सुनाई ॥ ३३३ ॥
नाम रूप को तुच्छ पछाने । सब में आतम एको माने ॥
बिन आतम नहिं देही कोई । "सात्विक ज्ञान", मित्र, है सोई-३३४
गुण लक्षण की जोइ पज्ञान । "राजस ज्ञान", इसी को मान ॥
नाम रूप से प्रीती जोई । "तामस ज्ञान", मित्र, है सोई ३३५

चौपाई

"सात्विक ज्ञान" अहे सत ज्ञान । प्रेम कुण्ड अर शाँत निधान ॥
ध्यान मात्र, अर अफुर अवस्था । कर साकूँ नहिं तास प्रशन्सा ।३३६।
"राजस ज्ञान" विहार सुहाई । चित को चञ्चल भाव सिखाई ॥
गुण अवगुण का आँहिं विचारी । "मैं मेरो" उस से हो भारी॥३३७॥
"तामस ज्ञान" अहे अन्धेरा । ताँ में केवल झगड़ा झेरा ॥
मोह गिलानी सोइ प्रकासे । काम अर क्रोध उसी से भासे ।३३८।

त्रिविध कर्म

चौपाई

कर्म अहे भी तीन प्रकारी । सत, रज, तम, से होइ विकारी ॥
इन का भी तू सुन वीचार । सुन कर मम वचनों को धार॥३३९॥
"आतम हित" से है जो कर्मा । कोविद ताँ को बाखें "धर्मा" ॥
जा में इच्छा रहत न राई । सोई "सात्विक धर्म" कहाई ।३४०।
"राग द्वेष" की जो करतव्या । जास प्रयोजन केवल "इच्छा" ॥
"सुख इच्छा" से कर्मा जोई । "राजस कर्म" गनो तुम सोई ।३४१।
आलस, क्रोध अर ईरख माता । "तामस कर्मी" सोइ कहाता ॥
चोरी, ठग्गी, धोका, हिन्सा । यिह लक्षण है "तामस जन" का-३४२
"सात्विक कर्मी" "धर्म" कमाए । नहिं कुछ माँगे, नहिं कुछ चाहे ॥
केवल धर्म विखे वुह लीना । प्रेम अर हित से नित वुह भीना ३४३
परमानन्द लहे है "धर्मी" । सुख निध होवे "सात्विक कर्मी" ॥
धर्म मात्र की इच्छा धारे । और सकल इच्छा को डारे॥३४४॥

चौपाई

"राजस करमी" सुख अभिलाशी । चाहे नित्य पदारथ नाशी ॥
रात दिवस व्यवहार विलीना । कबहूँ क्षण भी चैन न कीना॥३४५॥
ज्यूँ त्यूँ द्रव्य कमावे सोई । शाँत न प्रापत तिस को होई ॥
धर्म कमावे तो भी माँगे । कर्मों के फल को वुह ताँगे॥३४६॥
"तामस कर्मी" आलस ध्यावे । अर वुह असुरी कर्म कमावे ॥
पर सूँ निश दिन करे बुराई । हिन्सा में ताँ की बड़ियाई॥३४७॥
निश दिन चिन्ता ताँहिं जलावे । ईरख निन्दा ताँ को खावे ॥
स्वारथ प्राती के मद माता । रात दिवस वुह पाप कमाता ।३४८।

त्रिविध कर्ता

चौपाई

कर्ता भी है तीन प्रकारी । सात्विक, राजस अर तम वारी ॥
इन का अब तू सुन विरताँत । निदिध्यासन कर पा तू शाँत॥३४९॥

सात्विक कर्ता

चौपाई

जो कर्ता है निर हङ्कारी । आतम में जाँ की है तारी ॥
द्वैत भाव ते जो है पार । वुह है "सात्विक कर्ता" सार ।३५०।
जो इच्छा ते पार बिराजे । सोम वृती कर जो है साजे ॥
धर्मवान मत जाँ की निश्चल । ऐसो "सात्विक कर्ता" निर्मल-३५१

चौपाई

वर्तमान में जो है लीना। आतम रस कर जो है भीना॥
भूत भविष्यत जेंह नहिं चिन्ता। "सात्विक कर्ता" है नाम उस का-३५२
प्रग माहीं जो इस्थित रहिते। दुख अर कष्ट प्रेम से सहिते॥
तप धारी, मारे जो मन को। ऐसे "सात्विक कर्ता" मानो।३५३।
"देने" में जो नित रस पावें। "सेवा" से जो सर्व रिझावें॥
व्रत अर नेम विखे जो तत्पर। "सात्विक कर्ता" ऐसे हैं नर।३५४।
राग द्वेष ते जोइ अतीता। मध वर्ती, जिस का रिद शीता॥
धर्म मात्र में जो है वासो। तिस कर्ता में "सत्व" प्रकासो।३५५।
नेह अर प्रेम निभावे जोइ। तर्क गिलान उड़ावे जोई॥
लज्जा जिस को "शरण परे" की। "सात्विक करता" समझो सोई ३५६
काम न कोई छोड़े आधा। कर आरम्भ करे तेंह पूरा॥
वेले का जो बन्धन राखे। सो कर्ता अमृत रस चाखे॥३५७॥
वचन जास का होइ न झूटा। वाक सिद्ध हो जावे जिस का॥
पूरा बोले, पूरा तोले। मुख को सो बिरथा नहिं खोले।३५८।
ऐसा गुण धारी जो होवे। हे अर्जुन, जो निश्चल सोवे॥
सो है "सात्विक कर्ता" भाई। जग का भूषण और बड़ाई॥३५९॥

राजस कर्ता

चौपाई

पैसे अर्थ कमाय कमाई। ऐसो "राजस कर्ता", भाई॥
इच्छा से जो कर्म कमावे। वुह "राजस कर्ता" कहिलावे-३६०

चौपाई

यश वा स्वर्ग नमित जो कर्मा। अर्जुन, "राजस" है सो कर्मा ॥
विषय भोग जो कर्ता चाहे। वुह "राजस कर्ता" कहिलाए-३६१
स्वारथ प्रीती जाँ में होवे। लाभ हान में हन्से रोवे ॥
ऐसे जो जन देह् अध्यासी। "राजस कर्ता" सँज्ञा ता की।३६२।

तामस कर्ता

चौपाई

पर दुख अर्थ काम जो करता। पर सुख, धन को है जो हरता ॥
नित्य विचारे हानी पर की। "तामस कर्ता" होवे सोई ॥३६३॥
हिन्सा में निश दिन रस पावे। ईरख ते नित चीत जलावे ॥
जो सोचे, सोचे बुरियाई। "तामस कर्ता" सो कहिलाई ३६४
चलते को जो टाँग लगावे। पर दुख में जोई सुख पावे ॥
चलती बेरी को जो डोबे। "तामस कर्ता" ऐसो होवे ॥३६५॥
पर के घर जो आग लगावे। पर इस्त्री सूँ नेह बनावे ॥
पर का पुत्र गिरावे कूपै। "तामस कर्ता", अर्जुन, सो है-३६६
सन्तों का जो करे निरादर। छित्तर मारे उन के सिर पर ॥
ताँ के वचनन को जो तोड़े। "तामस कर्ता" ऐसो होवे।३६७।
वेद शास्त्र पर मूते जोई। पर उपकार न करता कोई ॥
पैसे पर जो देवे प्राना। "तामस कर्ता" वुह है माना।३६८।

चौपाई

चोरी, ठगगी में रस पावे। वैर विरोध जिसे नित भावे ॥
बूखे को जो पुरुष सितावे। "तामस कर्ता" सो कहिलावे।३६९।
इस विध, अर्जुन, कर वीचार। कर्ता के हैं तीन प्रकार ॥
सब से उत्तम कर्ता सोई। बुद्धी जिस की "सात्विक" होई-३७०

युद्ध विधान

चौपाई

इच्छा सकली को तू जार। बिन इच्छा तू बन करतार ॥
पाप पुन्य है इच्छा माहीं। कर्मों में कुछ ही भी नाहीं ॥३७१॥
बिन इच्छा जो होवे कर्मा। सोई, अर्जुन, होवे धर्मा ॥
धर्म युद्ध में लग तू, मीत। होवे तुम को नित ही जीत ॥३७२॥
पर उपकार रिदे में धार। शत्रू को आतम वीचार ॥
इस विध आतम इस्थित पा तू। सिर पर आई युद्ध निभा तू ॥३७३॥
काट, मार अर जार, पछार। पर रिद में नहिं वैर विचार ॥
हित से मार, अर हित से जार। मृत्तक का भी सुख वीचार ॥३७४॥
ऐसी रिद में भावन धार। जग का तुद ते होय उधार ॥
मृत्तक भी उज्जल मत होवे। जग भी सुख की निद्रा सोवे।३७५।
ऐसे भावन से जो युद्ध। होवे जिस ते निर्मल बुद्ध ॥
मुक्त पदारथ फल है ताँ का। इच्छा बिन "मन" मूआ जाँ का३७६

चौपाई

आतम हित सूँ करो लराई। सोचो सब ही की भलियाई॥
वप का वैर भुलाओ मन ते। देह अध्यास उड़ाओ मन ते।३७७।
"रूप" "रूप" को, अर्जुन, तोड़े। "रूप" "रूप" को पकड़े, छोड़े॥
आतम आँहि अरूप, अखराडा। भावें उलटे सर्व ब्रह्मराडा॥३७८॥

आतम अनातम विचार

चौपाई

सर्व वस्त है आतम भाई। सब रूपन में जोइ समाई॥
"रूप मात्र" को जान "अनातम"। "वस्त मात्र" को मानो "आतम" ३७६
सब "रूपन" को जोई धारे। "आतम" ताँ को वेद विचारे॥
"वस्त रूप" नहिं "आतम" भाई। "वस्त तत्व" ही "आतम" आही ३८०
जैसे यिह तेरा जो तीर। इस में जो है तत गम्भीर॥
"तीर आतमा" सो है, भाई। लम्बा तीक्षण भाव भुलाई॥३८१॥
टूट परे यदि तेरा तीर। पिगल जाय कर होवे नीर॥
नीर, तीर में जो है तत्त। वुह इस्थित है आतम सत्त॥३८२॥
सर्व रूप में जो इस्थाई। सर्व विकार धरे जो, भाई॥
ऐसे वैसे में जो एक। ऐसे "आतम" की ले टेक॥३८३॥
सर्व यिही "आतम" ही आँहीं। "आतम" बिन कोऊ भी नाँहीं॥
"रूप" गये "आतम" नहिं जाई। "आतम" ही सब "रूप" धराई-३८४
ऐसी वैस अवस्था माँहीं। है-ता मात्र "आतमा" आँहीं॥
ऐसा भी वो, वैसा भी वो। वस्तू मात्र विचारो ताँ को॥३८५॥

चौपाई

"बुध" का विषय अहे जो "रूपा" । ताँ के पार "अनन्द स्वरूपा" ॥
वुह "आनन्द" गनो तुम "आप" । "नाम रूप" का तेंह नहिं ताप ।३८६।
पुरुष "आतमा" मानें नभ में । और "परे" सब से तेंह मानें ॥
सूक्षम ते सूक्षम तेंह बाखें । ऊपर ते ऊपर तेंह लाखें ॥३८७॥
उन का नाँहिं प्रयोजन ऐसा । "तारा" ऊपर होवे जैसा ॥
तातपर्ज इस का समझाई । "आतम" "बुध" ते ऊपर आही-३८८
"दूर" आँहि वुह "इन्द्रिय" "बुध" से । "पार" आँहि वुह "सब रूपन" से॥
जो वस्तू धारे सब स्वाँग । उस वस्तू से आनँद माँग ॥३८९॥
"भाग त्याग" से "आतम" दीसे । "व्यभिचारी रूपों" को तज दे ॥
"परिणामी जो आँहि अवस्था" । ताँ के पार "आतमा" बैठा ।३९०।

शिव शङ्कर वा आत्मा

चौपाई

रूप भुलावन, "आतम" मान । भोला-पन समझो भगवान ॥
याँ ही ते है शङ्कर भोला । भिन्न भाव का तेंह नहिं रोला॥३९१॥
भोला बन, हे अर्जुन मीत, । तब तू है आनन्दी नीत ॥
यूँ वूँ का तू लक्षण भूल । सर्व दशा के बन अनुकूल॥३९२॥
तब तू होवे शङ्कर भोला । जब भूले रूपन का रोला ॥
"भोले" को "आतम" में मान । "भूला" समझो "चिन्तावान"-३९३
"रोधन" ही तुम "आतम" जानो । "रोधन" में "आनन्द" पछानो ॥
"रोधन" "रूप भुलावा" होई । "आतम" "रूप पार" है सोई।३९४।

चौपाई

ताँ ते जो रोधे है "मन" को। ताँ को ही "आतम" में समझो ॥
ताँ को ही है परमानन्द। सोई है जग माँहि सुछन्द॥३९५॥
याँ ते "आतम" "तप" हैं एक। "तप" अर "सुख" में नाहिं विवेक॥
"तप" बिन "आतम" को नहिं पावे। "शाँत" बिना "तप" के नहिं आवे३९६
"भोला शिव" है "तप" का ईश्वर। शयन करे जो शम्शानों पर ॥
रुण्डमाल ग्रीवा में पावे। भाँग, धतूरा निश दिन खावे।३९७।
अलङ्कार यिह "आतम" का है। "रूप" जास से सब होवे खै ॥
राग, द्वेष जिस के नहिं नेरे। जो भूले सारे ही झेरे ॥३९८॥
रूपन की जो खोखी माला। आतम के ऊपर यिह खाला ॥
सर्व अवस्था में सम जोई। मानो भाँग नशे में सोई ॥३९९॥
ऐसा "शिव स्वरूप" जो "आतम"। समझो तेंह सूक्षम से सूक्षम ॥
काहे ते "रूपन" ते पार। "रूपन" को ही थूल विचार।४००।

सम अवस्था, आतम स्थिति है

इस "आतम" में इस्थित हो तू। भेद अवस्था को सब धो तू ॥
सर्व अवस्था में सम रहियो। "समता" को ही "आतम" कहियो४०१
"रूप पार" उस ही को मानो। रूप अमाइ न साके जिस को ॥
अथवा "जो समता में लीन"। ताँ ही को परमातम चीन ॥४०२॥
समता में तू हो जा लीन। मित्र शत्र का भाव न चीन ॥
व्याकुल्ता को कर तू खीन। "समता" सागर की बन मीन ४०३
इस विध युद्ध विखे तू लाग। द्वैत दृष्ट से अहि निश भाग ॥
पर उपकार विखे हो इस्थित। तब तू रञ्चक भी नहिं लीपित४०४

पाप वा बन्धन का मूल "द्वैत" है

चौपाई

"पाप" कहे हैं "असम भाव" को। सर्व दुःख "द्वैती" को ही हो ॥
जहाँ अहे "अद्वैत मात्र" ही। कौन करे तब हान किसी की?।४०५॥
इस विध कर्ता बन तू, अर्जुन। मन से सर्व भुला दे तू गुन ॥
निर्गुन हो कर मार, पछार। यूँ ले मुक्ती का अधिकार ॥४०६॥
"मुक्ती" समझो "निर्गुन भाव"। "आतम" का है "मोख" स्वभाव ॥
जो जन "समता" में हैं लीन। "जीवन्मुक्त" तास को चीन।४०७।

अर्जुन उवाच

दोहा

हे सत गुरु अब मया कर, बाखें बुद्ध प्रकार।
कैसी बुद्ध मलीन है, शुध कैसा वीचार?। ४०८ ॥
कृपा धार फिर बाखिये, हठ के कितने भाँत?
पुनः दया धर कर कहें, सुख का भी विरताँत ॥ ४०९ ॥

श्री भगवान उवाच

त्रिविध बुद्धी

दोहा

हे अर्जुन, वेदन विखे, बुध के तीन प्रकार।
सात्विक, राजस, तामसी, सुन इन का विस्तार ॥४१०॥

सात्विक वा आतम विचारनी बुद्धी

दोहा

जब बुद्धी को आतमा, ही दीसे सब ओर।
नाम रूप मिथ्थ्या दिसे, जाँ को जोर न तोर ॥ ४११ ॥
वुह बुद्धी है सात्वकी, राग द्वेष ते पार।
धर्म विखे इस्थित रहे, मित्र भाव को धार ॥ ४१२ ॥
पर उपकार विखे रहे, इस्थित जिस की मन्त।
ऐसे जन की बुद्ध को, सात्विक बुद्ध कहन्त ॥ ४१३ ॥
आश्रम, पुस्तक, सभा रच, देवें जो नित शाँत।
ऐसे सात्विक बुद्ध हैं, मेटें चित की भ्राँत ॥ ४१४ ॥
चञ्चलता को नाश कर, इस्थित बुद्ध बनाइँ।
वैर विरोध नसाइ कर, प्रेम भाव फैलाइँ ॥ ४१५ ॥
देह मात्र की प्रीत तज, आतम प्रेम सिखाइँ।
पर आश्रय निन्दन करें, सात्विक बुद्ध कहाँइ ॥ ४१६ ॥
सात्विक बुद्धी धर्म है, सब सूँ करे पियार।
ऐसी बुद्धी श्रेष्ठ को, परमानन्द विचार ॥ ४१७ ॥
"सात्विक बुद्धी" "आतमा", दोनो एक स्वरूप।
बुद्धी की जो कल्पना, सो होवे है लूप ॥ ४१८ ॥

राजस वा इच्छा धारी बुद्धी

दोहा

पुन जो बुद्धी भ्रमत है, पुन्य पाप के बीच।
कब हूँ उत्तम बन परे, कब हूँ बनती नीच ॥ ४११ ॥

दोहा

धर्म अधर्म विचार से, जो है डाँवां डोल।
चञ्चल ही हो सर्वदा, दुख सुख का हण्डोल ॥ ४२० ॥
ऐसी डोलत बुद्ध को, राजस बुद्धी जान।
कब हूँ फूली जान यिह, कब हूँ कुमली मान ॥ ४२१ ॥
जग की जो चातुर्यता, राजस बुद्धी आँहिं।
जोर तोर में चपलता, राजस बुद्ध कहाँहिं ॥ ४२२ ॥
आतम और अनातमा, का जो जग में मेल।
इस को राजस बुध कहें, नित अनित्य की खेल ॥ ४२३ ॥
कला, रेल अर तार में, राजस बुद्ध पछान।
खाने, कपड़े, ग्रेह सब, राजस बुध से मान ॥ ४२४ ॥
"मन" अर "राजस बुद्ध" यिह, दोनों एक स्वरूप।
राजस बुद्धी वान जो, भटकें भ्रम के कूप ॥ ४२५ ॥

तामस वा देह अध्यासी बुद्धी

दोहा

जो बुद्धी है अन्धली, उलटी, टेढ़ी, डीठ।
पुन्य विखे जेंह दुख मिले, पाप विखे जेंह मीठ ॥ ४२६ ॥
दुख दाई, हिन्सक, मलिन, झूटी, करवी, क्रूर।
ऐसी बुद्धी तामसी, यवन, मलेछ अर मूर ॥ ४२७ ॥
"ऐसी बुद्धी" "देह' पुन, दोनो को इक जान।
देही वत अस्थूल जो, वप को आतम मान ॥ ४२८ ॥

दोहा

पर को दुख देने निमित्त, जो जन करत विचार ।
सँवरी वस्त बिगार कर, होवे बहुत निहार ॥ ४२९ ॥
ऐसो मानुष होत है, तामस बुध का रूप ।
बुरियाई को सोच कर, माने स्वय को भूप ॥ ४३० ॥

ऐसे, हे अर्जुन, अहैं, बुध के तीन प्रकार ।
राजस, तामस बुद्ध तज, सात्विक बुध को धार ॥ ४३१ ॥

त्रिविध हठ

चौपाई

हे अर्जुन, अब सुन चित धार । हठ के भी हैं तीन प्रकार ॥
इक सात्विक, दूजो है राजस । तीजो, हे अर्जुन, है तामस।४३२।

सात्विक वा आत्मिक हठ

चौपाई.

मन मारण की जोइ तपस्स्या । अर नित प्रति की आतम रक्षा ॥
हठ से भोगन ते उपरत्ती । ऐसो हट्ठी "सात्विक मत्ती" ४३३
प्रण पालन में जो हठधारी । जो सद ही है सच उच्चारी ॥
धर्म विखे जो इस्थित बुध हो । "सात्विक हट्ठी" बाखें उस को-४३४

राजस वा मानस हठ

चौपाई

जो अपना व्यवहार न छोड़े। इच्छा से जो मन नहिं मोड़े॥
धन सञ्चन में जोइ हठीला। "राजस हट्ठो" नाम है उस का-४३५
मोह प्रीत से जो हठ धारी। यश ढूंडन जाँ को अति प्यारी॥
जग म्रयाद में जोइ हठीला। "राजस हट्ठो" है नाम उस का४३६

तामस वा शारिरक हठ

चौपाई

जो हठ से नहिं छोड़े निद्रा। शोक अर भय अर आलस बिक्षा॥
मलिन रहे जो और उदासी। "तामस हट्ठो" सँज्ञा ताँ की।४३७।
विषय भोग को जो नहिं छोड़े। खराडन मराडन में सिर फोड़े॥
नशे जो हठ से नित पीवे। "तामस हठ" में सो जन जीवे-४३८

यिह हठ के हैं तीन प्रकार। हे अर्जुन, मन माहिं विचार॥
"सात्विक" हठ है "उत्तम" सब ते। शोभित बन तूँ उस ही हठ से।४३९।

त्रिविध सुख

दोहा

हे अर्जुन, अब श्रवण कर, सुख के तीन प्रकार।
सात्विक, राजस, तामसी, यिह सुख तीन विचार॥४४०॥

सात्विक सुख वा परम आनन्द

दोहा

तप में जो सुख ध्यान में, समता में सुख जोइ ।
दान, यज्ञ, व्रत नेम में, जो सुख जग में होइ ॥ ४४१ ॥
पुन जो सुख है धर्म में, निर इच्छित को जोइ ।
कर्म विखे जो लीनता, इस में जो सुख होइ ॥ ४४२ ॥
प्रेम विखे जो सुख अहे, धीरज में जो सूख ।
जो सुख है सन्तोष में, जो सुख ले गुरु मूख ॥ ४४३ ॥
क्षमा, दया अर कृपा में, जो सुख जग के माँहिं ।
जो सुख मन जीते विखे, शाँत माँहि जो आँहि ॥ ४४४ ॥
ऐसे जो सुख जगत में, "सात्विक सुख" कहिलाँइं।
आतम में इस्थित रखें, इत उत नाहिं डुलाँइं ॥ ४४५ ॥
अमृत वत यिह सुख अहें, अति रस दायक जोइ ।
"परमानन्द" इन्हीं विखे, "मुक्ती" इन से होइ ॥ ४४६ ॥
पहिले कड़वें भासते, पर मीठे हूँ अन्त ।
यिही सुधा रस पान कर, बनते सन्त महन्त ॥ ४४७ ॥

राजस सुख वा विषय आनन्द

दोहा

विषय भोग में जोइ रस, मन पालन में जोइ ।
इच्छा मानन विखे जो, "राजस सुख" है सोइ ॥ ४४८ ॥

दोहा

भासे मीठा प्रथम यिह, पर कड़वा हो सिद्ध ।
पश्चाताप कराय वुह, खोखा है इस विद्ध ॥ ४४९ ॥
माया में जो इस्थिती, "राजस सुख" उपजाइ ।
खान पान पहिरान में, "राजस" जन रहि जाइ ॥४५० ॥
विद्या सुख भी इसी में, माया के यिह नेम ।
चञ्चल मन को करत है, विद्या का जो प्रेम ॥ ४५१ ॥
जग के जो हैं भोग सब, विष से हैं भर पूर ।
देही को अर बुद्ध को, कर देवें हैं चूर ॥ ४५२ ॥
आतम और अनातमा, मिल कर माया होइ ।
इस "माया" से प्रेम जो, "राजस सुख" है सोइ ॥ ४५३ ॥

सञ्जम, परम आनन्द स्वरूप

दोहा

यदि राखे वीचार को, राजस जन बुध माँहिं ।
सञ्जम के सब भोग जो, दुख नाँहीं पहुँचाँइं ॥ ४५४ ॥
सञ्जम का व्यवहार हो, सञ्जम के हों भोग ।
इस रीती मानुष्य को, लगे न दुख अर रोग ॥ ४५५ ॥
"राजस" "सात्विक" बनत है, सञ्जम से, हे मीत ।
सञ्जम वारो पुरुष जो, आनन्दी हो नीत ॥ ४५६ ॥
सञ्जम आतम रूप है, इस में इस्थित जोइ ।
ताँ को दुख चिन्ता न हो, निःसङ्कट हो सोइ ॥ ४५७ ॥

दोहा

मधवर्ती है सञ्जमी, "बहुत" "अल्प" के बीच।
प्रीत गिलानो तें रहित, नहिं तेंह उत्तम नीच ॥ ४५८ ॥
खेंच सके उस को नहीं, कोई जग के माँहिं।
अर नहिं सकत हटाय भी, कोई जग में ताँहिं ॥ ४५९ ॥
राग द्वेष के बीच में, जग में वर्ते जोइ।
ऐसो सञ्जम में गनो, आनन्दी है सोइ ॥ ४६० ॥
यिह युक्ती आनन्द की, व्यवहारों के बीच।
नहिं उस को धक्का मिले, अर नहिं उस को खींच ॥ ४६१ ॥
सञ्जम व्यवहारों विखे, है परमेश्वर रूप।
सेवे उस को जो पुरुष, होवे ब्रह्म अनूप ॥ ४६२ ॥
नाम रूप के भेद ते, सञ्जम का पद पार।
ताँ ते सञ्जम जानिये, सदा अरूप अपार ॥ ४६३ ॥
अर्जुन, सञ्जम मुख्य रख, जीवन काल मँझार।
फिर तू जीवन मुक्त है, तोहि न कुछ सन्सार ॥ ४६४ ॥

तामस सुख वा ममता आनन्द

दोहा

"तामस सुख" है शोक में, अर पुन चिन्ता माँहिं।
वैर, ईरखा माँहिं पुन, पुन आलस में आँहिं ॥ ४६५ ॥
दूसर को दुख देन में, हिन्सा चोरी माँहिं।
ठग्गी में, अर झूट में, "तामस सुख" ही आँहिं ॥ ४६६ ॥

दोहा

पर को दुखिया देख कर, होवत जोइ प्रसन्न ।
तामस जन ताँ को गिनो, अति मलीन तेंइ मन्न ॥ ४६७ ॥
केवल आँहिं अनातमा, तामस जन का देव ।
लाभ न रञ्चक देत है, ऐस देव की सेव ॥ ४६८ ॥
"शून" "अनातम" होत है, फल ताँ को भी शून ।
द्वेषी की इस हेत ते, बिरथा जावे जून ॥ ४६९ ॥
पहिले भी कड़वा अहे, पाछे भी विष आँहिं ।
ऐसा "तामस सुख" अहे, डाले नरकों माँहिं ॥ ४७० ॥

ऐसो, हे अर्जुन, अहे, सुक्खों का वीचार ।
इन में "सात्विक सुख" अहे, तीनो सुख में सार ॥ ४७१ ॥
"सात्विक सुख" को ढूँढ तू, आतम में हो लीन ।
धीरज अर सन्तोख के, अमृत रस को चीन ॥ ४७२ ॥

अर्जुन उवाच

चौपाई

हे सत गुरु, मैं समझ्यो नीको । विध हठ, सुख अर विध बुद्धी को ॥
सात्विक हठ अर सुख को धारूँ । सात्विकबुध कर कृष्ण विचारूँ ४७३
अब किरपा कर मो समझावें । अर मम चित को शाँत बनावें ॥
मानुष हैं कितने भाँती के । त्रय गुण उन में कैसे घटते ॥ ४७४ ॥

श्री भगवान उवाच

चतुर्विध मानुष्य

चौपाई

जग के सर्व पदारथ जोई। सकले तीन विधी के होई॥
इक उत्तम, इक मध्यम भाई। इक अधम यिह तीन सुनाई।४७५।
उत्तम आतम गुण प्रगटाएँ। मध्यम नित्य, अनित्य दिखाएँ॥
अधम आँहिं अनातम केवल। शून, कलेश, कल्पना अर मल-४७६।
इस विध तीन खगड जग माँहीं। सात्विक, राजस, तामस आहीं॥
इक इक वस्तु त्रय गुण धारे। कब हूँ डोबे, कब हूँ तारे॥४७७॥
इस विध मानुष की त्रय भाँत। अब तू सुन उन का विरताँत॥
इक सात्विक, इक राजस भाँती। इक तामस जो आँहि अशाँती॥४७८।
"सात्विक जन" को "ब्राह्मण" बाखें। "सात्विक-राजस" "खत्री" लाखें॥
"राजस-तामस" "वैश्य" कहावें। "तामस" "शूद्र" बुलाए जावें-४७९

सात्विक मानुष्य, वा ब्रह्म-निष्ठ सन्त, वा ब्राह्मण

चौपाई

ब्राह्मण वुह जो ब्रह्म धियावे। सब रूपन में आतम पावे॥
विषय लगें कड़वे सब ताँ को। शाँत अमी रस आयो जाँ को।४८०।
मन अर इन्द्रिय ताँ के मूए। इच्छा दग्ध तास के हूए॥
रहत इकाँत आप में माते। वैर विरोध गये सब ताँ ते॥४८१॥
सब को ज्ञान प्रसाद खिलावें। और सदा विज्ञान सुनावें॥
सब का हित ताँ के रिद माँहीं। शत्रू को भी प्रेम दिखाँइं॥४८२॥

चौपाई

तप साधन में आनँद पावें। दे दे कर वुह जगत रिझावें॥
सीधे, सूधे, साँचे, भोले। निश दिन झूलें प्रेम हँडोले।४८३।
चिन्ता, शोक न व्यापे ताँ को। अन्तर बाहिर शुधता जाँ को॥
नाम रूप का गर्व न राखें। आतम रस को निश दिन चाखें४८४
जो बन जावे, ताँहि सुहावें। घाट वाध में इक रस पावें॥
जीना मरना ताँ को एकी। इच्छा ताहिं नहीं करने की॥४८५॥
नित सन्तुष्ट सदा तृप्तीने। निश दिन समता रस कर भीने॥
ऐसे जन जो नित आनन्दी। "ब्राह्मण" सोई आँहि सुछन्दी-४८६

सात्विक-राजस मानुष्य; वा धर्मिष्ठ जगती, वा क्षत्री

चौपाई

"क्षत्री" वुह जो त्रय को मारे। त्रय को क्षय कर आप सँवारे॥
"आलस" मारे "भय" को वारे। अर "किर्पणता" को वुह जारे४८७
यतन, शूर्मत, दातव जाँ में। क्षत्री के गुण समझो ताँ में॥
जग सुख कारण वर्ते जोई। आतम बल को, क्षत्री सोई॥४८८॥
इसथित बुध हो काज सँवारे। वचन पालना में सिर हारे॥
ऐसे क्षत्रो धारें रक्षा। याचक को देवें नित बिक्षा॥४८९॥
सत सम्भाषण में इस्थाई। धीरज में पुन हों अधिकाई॥
दया दृष्ट जाँ में हो न्याई। ज्यों त्यों वुह नित प्रीत निभाई।४९०।

चौपाई

शूर, वीर, तेजस्वी, दाता । जो पुन रक्षक जैसे माता ॥
पुन गम्भीर विशाल मती जो । ऐसो मानुष ही "क्षत्री" हो ।४११।

राजस-तामस मानुष्य; वा धन-सेवक व्यवहारी, वा वैश्य

चौपाई

वैश धर्म सुन, अर्जुन, प्यारे । यिह जग के ब्योपार सँवारे ॥
राजस-तामस यिह जन भाई । धन को परमेश्वर समझाई ॥४१२॥
खेती अर रक्षा गायन की । ऐसी किर्त अहे वैशन की ॥
ब्योपारी भी वैश सुहावे । उदर पूरना सोइ करावे ॥ ४१३ ॥
प्रायः वृती अनातम ताँ की । पैसे पीछे देवे सिर भी ॥
रात दिवस जो है व्यवहारी । ऐसे जन को "वैश" विचारी-४१४।

तामस मानुष्य, वा पामर, वा शूद्र

चौपाई

तामस गुण में वृत हो जाँ की । शूद्र अहै उपसँज्ञा ताँ की ॥
बुद्ध विहीन, मलीन, अभागी । सूक्षम वृत जाँ की नहिं जागी ४१५
नीच काम के योग अहे जो । जग में "शूद्र" पछानो उस को ॥
"सेवा" उस की बुध को धोवे । "सेवा" से वुह उत्तम होवे॥४१६॥
चरण अहें देही में जैसे । शूद्र विराट विखे हैं तैसे ॥
जैसे चरण देह का आश्रे । तैसे शूद्र जगत को सेवे ॥४१७॥

चौपाई

सेवा, इच्छा, मूरखता जो। इन लछनों को "शूद्र" पछानो ॥
जो धन ले कर टहिल कमावे। "शूद्र" वुही जग में कहिलावे-४१८

यिह मानुष के चार प्रकार। चलते इन से जग व्यवहार ॥
जब स्वय स्वय यिह धर्म निभावें। मिल कर जगत प्रवन्ध चलावें-४११
जगत कला के चक्कर चारे। इक इक अपना काज सँवारे ॥
जब इक चक्कर ही हो ढीला। बिगरे सर्व प्रबन्ध जगत का॥५००॥
ताँ ते इक इक है जो वरना। ताँ को चाहिए निश दिन करना ॥
अपना अपना है जो कर्मा। जाँ ते रहिवे इस्थित धर्मा ॥५०१॥
अपना कर्म निभावे जोई। उतम गत को पावे सोई ॥
पहिली श्रेणी में जो कढ़ता। दूजो में वुह ही है चढ़ता ॥५०२॥
हैं विराट के चारों अङ्ग। कष्टी हो इक, सब हूँ भङ्ग ॥
अङ्ग अङ्ग जब पूरा उतरे। तब विराट में कुछ नाहिं बिगरे॥५०३॥

विशेष धर्म भेद

दोहा

उपजे जो जिस वरन में, सोइ ताँ का धर्म।
ताँ को पालन उचित है, चहे न पर का कर्म ॥ ५०४ ॥
सोच समझ कर देवता, कर्मन के अनुसार।
मानुष को उत्पन करें, इस उस वर्ण मँझार ॥ ५०५ ॥
इस ते जो जिस वर्ण में, उस ही के है योग।
जो त्यागे उस वर्ण को, पावे दुख का भोग ॥ ५०६ ॥

दोहा

उस का धर्म यिही अहे, अपना धर्म कमाइ ।
अर दूजे के धर्म की, इच्छा मन ते जाइ ॥ ५०७ ॥
पुत्र अर इस्त्री का धरम, आज्ञा पालन आँहिं ।
पर भरता अर तात का, है रक्षा के माँहिं ॥ ५०८ ॥
आश्रम, आयू भेद ते, आँहिं धर्म का भेद ।
जोइ भेद नहिं समझते, होवे तिन को खेद ॥ ५०९ ॥

सर्व धर्म, प्रेम के भिन भिन रूप

दोहा

"धर्म" जगत में एक है, नाम तास है "प्रेम" ।
पर भिन भिन भावन विखे, बदले यिह निज नेम ॥ ५१० ॥
प्रेम पुत्र का और है, प्रेम बाप का और ।
प्रेम रूप बदलत अहे, जैसे बदले ठौर ॥ ५११ ॥
प्रेम पती का और है, पत्नी का है और ।
छोटे बड़े विखे यिही, कोमल बने कठोर ॥ ५१२ ॥
इस विध इस सन्सार में, अपनां अपना धर्म ।
अर हर इक को उचित है, करना अपना कर्म ॥ ५१३ ॥
जग में भेद बनात हैं, काल, वस्त अर देश ।
इस ते जग में धर्म भी, पहिने कितने वेश ॥ ५१४ ॥
इक ही मानुष का अहे, भिन भिन पुरुषों सङ्ग ।
भिन भिन धर्म जगत विखे, "प्रेम" सभी में रङ्ग ॥ ५१५ ॥

दोहा

और अवस्था भेद ते, धर्म भेद हो जाइ।
पहिले जो सन्मान दे, मान वुही फिर पाइ ॥ ५१६ ॥
अपने अपने धर्म को, यदि राखे हर कोइ।
जगत स्वर्ग वत जाय वन, दुख सब जाय विलोइ ॥ ५१७ ॥
अपने अपने धर्म में, हर कोई गत पाइ।
उत्तम वुह मानुष बने, अध्यम जो भुगताइ ॥ ५१८ ॥
नीच काम को भली विध, जो भुगताय सकेत।
ऊँच काम के लिये वुह, अर्जुन, योग बनेत ॥ ५११ ॥
ताँ ते जो जिस वरण का, सोई ताँ का रङ्ग।
अपर अवस्था जो चहे, करे आपनो भङ्ग ॥ ५२० ॥
सेवा कर कर बनत है, शूद्र वैश्य के योग।
तत्पर वैश्य-पने विखे, बनते क्षत्री लोग ॥ ५२१ ॥
क्षत्री-पन जब सिद्ध हो, आवे ब्राह्मण भाव।
पौरी पौरी इस विधी, बढ़ता चले प्रभाव ॥ ५२२ ॥
वरण बदलने योग हो, जब नर जग के माँहिं।
मृत्यू पर तब पुरुष वुह, ऊँच वरण में जाँइं ॥ ५२३ ॥

वर्ण और धर्म, योग्यता से, आगे जन्मों में स्वयम् बदल जाते हैं

दोहा

वर्ण बदलना काम है, देवन का जग माँहिं।
जब वुह परखें योगता, उचले वर्ण चढ़ाँइं ॥ ५२४ ॥

दोहा

वर्ण बदलने की विधी, देवन की यिह आँहिं ।
मृत्यु के उपरन्त वुह, उत्तम जन्म दिलाँइ ॥ ५२५ ॥
केवल इच्छा से नहीं, होइ निवारण तम्म ।
केवल ही सङ्कल्प से, शूद्र बनें नहिं ब्रह्म्म ॥ ५२६ ॥
मूरख यदि चाहे बनूँ, मैं शास्त्री पल माँहिं ।
प्राज्ञ विशारद जब तलक, बने न किम फल पाँइं ॥ ५२७ ॥
इस ते सब को योग है, पाले अपना धर्म ।
काहेते इस रीत से, उज्जल होवे कर्म ॥ ५२८ ॥
लीन होय स्वय धर्म में, जो जन जग के माँहिं ।
भावें वुह भङ्गी अहें, योगी पुरुष कहाँइं ॥ ५२९ ॥
धर्म विखे जो लीनता, आतम माँहि मिलाइ ।
नीच ऊँच सब दूर हो, मुक्त अवस्था आइ ॥ ५३० ॥
जो चाहे वुह कूद कर, चन्द्रलोक चढ़ जाइ ।
मूरखता उस की अहे, विर्था जन्म गँवाइ ॥ ५३१ ॥
एक अवस्था जब बने, पूरन इस जग माँहिं ।
उस ही में जो दूसरी, उत्पन होती आँहिं ॥ ५३२ ॥
पूरनता जो एक में, अगले में वुह आद ।
इस विध सर्व पुमान को, अपना धर्म प्रयाद ॥ ५३३ ॥
धर्म अपना निन्दन करे, दूज धर्म सहिलाइ ।
ऐसो जो मानुष्य है, नीच जन्म फिर पाइ ॥ ५३४ ॥

दोहा

निन्दन की विष उस विखे, निन्दत उसे बनाइ ।
निन्दत कत्र हूँ भी नहीं, उत्तम गत को पाइ ॥ ५३५ ॥
अपना रिदय जलाय कर, पर को शत्र बनाइ ।
नाँहि रहे वुह इधर का, नाहिं उधर का आहि ॥ ५३६ ॥
जलता बलता रिदे में, ऐसो जन मर जाइ ।
पर जलने से कभी भी, उत्तम जून न पाइ ॥ ५३७ ॥
करे गिलानी एक की, चाहे उत्तम भाव ।
ऐसे मूरख पुरुष को, कभी न मिले प्रभाव ॥ ५३८ ॥
नि.गिलान जग में लहे, उत्तम पद, हे मीत ।
उत्तम गत पावे वुही, जिस की मन पर जीत ॥ ५३९ ॥
ताँ ते सब को चाहिये, अपना कर्म सलाँहिं ।
अर पुन उस में लीन हो, परमानन्द समाँइं ॥ ५४० ॥
इस ही रीत सुखेन से, ऊपर चढ़ता आइ ।
शूद्र, वैश्य, क्षत्री पुनः, पुन ब्राह्मण बन जाइ ॥ ५४१ ॥
उत्तम बनने की विधी, अर्जुन, इस में मान ।
जन्म होइ जिस कर्म में, करो न तास गिलान ॥ ५४२ ॥
इच्छा दूसर की कभी, जीवन रस नहिं देत ।
उल्टा अपने कर्म का, भी वुह रस हर लेत ॥ ५४३ ॥
रस तो प्रेम विखे अहे, नाहिं अवस्था माँहिं ।
इस विध, हे अर्जुन, कभी, दूसर धर्म न चाँहि ॥ ५४४ ॥

सर्व धर्मों का एक ही रस

दोहा

राजा भी अर रङ्क भी, एक अमी रस पाँइं ।
तास रूप को भूल कर, जब आतम में जाँइं ॥ ५४५ ॥
भूल विखे इस्थित भया, शिव भोला हो जाइ ।
ऊँच नीच का तास को, भेद न रञ्च दिखाइ ॥ ५४६ ॥
नींद विखे जब लीन हो, राजा और कँगाल ।
एक अवस्था उभय की, उभय समान निहाल ॥ ५४७ ॥
ध्यान विखे जब इस्थिती, ऊँच नीच की होइ ।
दोनो सम आनन्द में, अर्जुन, रहें विलोइ ॥ ५४८ ॥
जाँ ते भेद प्रछेद जो, नाम रूप में आँहिं ।
नाम रूप के पार में, सभी समान अहाँइं ॥ ५४९ ॥
इस रीती से धर्म सब, हैं इक रस सामान ।
कोई भी ऊँचा नहीं, नहिं को नीचा मान ॥ ५५० ॥
नीची आँहि गिलान ही, नीची आँहि मनोत ।
राग, द्वेष जब दूर हों, सब में एको जोत ॥ ५५१ ॥
प्रेम भरी जब आँख से, मानुष पेखत आँहिं ।
विष अर मल के बीच भी, परमानन्द दिखाँइं ॥ ५५२ ॥

अर्जुन उवाच

चौपाई

हे *केशव*, तव महिमा भारी। ताँ को साकूँ नाहिं विचारी॥
समझ्यो मैं ने मानुष भाँती। चित मेरे को आयो शाँती॥५५३॥
अब पूँछूँ मैं कैसे सन्त। शाँत ब्रह्म के माँहि मिलन्त॥
कैसे देह अवस्था माँहीं। मानुष परमानन्द समाँईं॥५५४॥
कैसे जग कल्पत की चिन्ता। कैसे तृष्णा, कैसे आशा॥
दूर होय, सन्तोष सुहावे। कैसे अमृत का रस आवे?॥५५५॥
निर सङ्कल्प अवस्था कैसे। *माधव*, बुध में उतपन होवे?।
कैसे जीवन मुक्ती आवे? कैसे अक्रिय बुध बन जावे?५५६।
दया धार यिह प्रश्न बुझावें। सन्शय चित से मोर नसावें॥
चाहत हूँ मैं शाँत समाऊँ। जग में रहि कर त्याग कमाऊँ॥५५७॥

श्री भगवान उवाच

रिषि मुनि लच्चण

तोटक छन्द

बुध आतम माँहिं मिली जिस की। बृत फूल समान खिली जिस की॥
मन जास मुआ, इच्छा बिसरी। चिन्ता अगूनी तिस की बिसमी ५५८
जो द्वन्द विखे इस्थित मत हो। नहिं द्वैष फुरे कब हूँ जिस को॥
नित प्रेम विखे झूले जोई। निर शोक सदा विचरे सोई॥५५९॥

तोटक छन्द

जो नाम अर रूप बिसार तजे । नित आतम व्यापक सार भजे ॥
नहि ऊँच् अर नीच फुरे जिस को । तुम जीवन मुक्त गनो तिस को।५६०।
जब भोग असार लखे जोई । नहिं ताँहि बिगाड़ सके कोई ॥
नित निश्चल बुद्ध रहे जिस की । बृत आतम माँहि लगी तिस की-५६१
नहिं रीस जिसे, नहिं लोभ जिसे । नहिं मोह जिसे, नहिं खोब जिसे॥
अभिमान, न गर्व जिसे कोई । है सन्त समान बृती सोई ॥५६२॥
नित राग् अर द्वेष अतीत बसे । ममता जिस में से मूल नसे ॥
नहिं मान्, अपमान जिसे कोई । मुझ माँहि विलीन गनो सोई ॥५६३॥
बृत रोधन को जो ब्रह्म गने । मन जीतन को आनन्द मने ॥
ऐसो जो तप में लीन मुनी । तिस को हम मानत सन्त गुनी।५६४।
जो नाहिं डुले इत उत कब हूँ । जो बिचरत है नित ज्यूँ का त्यूँ ॥
सद ही मन पर पहिरा दे जो । अमृत का पान करे सद सो॥५६५॥

आतम-बल वा मन-मारन

तोटक छन्द

वुह बल जो इच्छा को रोके । अर ममता का सिर जो ठोके ॥
उस बल को परमान्द कहें । उस ही को ब्रह्म सुछन्द कहें॥५६६॥
ताँ ते, अर्जुन, आतम रस ले । छिन छिन इच्छा के रोधन से ॥
इस ही को पुरुषारथ समझो । इस ही में अमृत का रस लो ॥५६७॥
"मन" "यूँ" चाहे, "तुम" "वूँ" करियो । "मन" "जाग" कहे "तुम" "सो" परियो
इच्छा के उलट जभी हो तुम । तब ही दुखरे तुमरे हों गुम॥५६८॥

तोटक छन्द

इस "आतम बल" को पुष्ट करो । निश दिन तुम "मन" से युद्ध लरो॥
इस "युध" को "जीवन मोख" कहें । इस ही को हम सन्तोख कहें॥५६९॥
"आतम" "मन" का विच्छेद करो । "मन" में से "इच्छा मैल" हरो ॥
"इच्छा बिन" "मन" ही "आतम" है । यिह आतम ही परमातम है॥५७०॥
ढूँडा रस को जग में हम नें । पाया दम, धीरज अर यम में॥
"रस" नाहीं "सुत" में, अर "धन" में । समझो "आनन्द" "निरोधन" में५७१
क्षन भी जब इच्छा भूत जरे । अमृत का रस रिद माँहि परे ॥
जब ही इन्द्रिय को तुम थामो । तब राज्य गती का रस तुम लो।५७२।
मन मारो जब तुम इक छिन भी । बृत होवे तब आनन्द भरी ॥
मन मारन, इन्द्रिय रोधन ही । समझो जग में सुख की गठरी।५७३।

"रूप" वा "इच्छा" त्याग ही "आनन्द" है

तोटक छन्द

यिह जेतक नाम अर रूप अहें । सब दुख सङ्कट का कूप अहें ॥
छिन भङ्गर और विनासी हैं । अर पश्चाताप प्रकासी हैं ॥५७४॥
आतम निरनाम अरूप अहे । सब ताँ को इच्छा पार कहे ॥
ताँ ते इच्छा को जो मारे । वुह ब्रह्म विखे वृत को धारे ॥५७५॥
निर इच्छित जो जन कर्म करे । वुह मानुष अक्रय हो विचरे ॥
वुह करते हुए अकर्ता है । नहिं जीता है, नहिं मरता है।५७६।

तोटक छन्द

उस के सब कर्म अहें धर्मा । उस के चित माँहि न कुछ भर्मा ॥
नहिं विषयन को लोचे कब हूँ । सन्तुष्ट रहे नित आतम सूँ ॥५७७॥
ऐसे सब सन्त विखेप तजें । ऐसे सब सन्त महेश भजें ॥
ऐसे जो निर सङ्कल्प हुए । तर जावें जग के सागर ते॥५७८॥
तुम भी, हे अर्जुन, ऐस बनो । नित आतम सर्व विखे सिमरो ॥
नहिं हर्ष विखे फूलो कब हूँ । नहिं शोक विखे रोवो कब हूँ।५७९।
नित सोम रहो, नित धीर रहो । नित शाँत रहो, गम्भीर रहो ॥
निज धर्म विखे इस्थित रहियो । सुख दुख में भी मन जित रहियो५८०
क्षत्री हो, वीर बनो, अर्जुन । उपकार नमित्त लड़ो, अर्जुन ॥
कायर-पन योग्य नहीं तुम को । तुम सिङ्घ बनो, क्यों भेड़ बनो॥५८१।
निज आतम नीचे ऊपर है । इस ते किस का तुम को डर है ॥
नित निर्भय हो निर्वाह करो । नहिं विषयन की तुम चाह करो।५८२।
इस को हम बुद्धी योग कहें । इस में सब ही आनन्द रहें ॥
यिह आतम सूँ सञ्युक्त करे । सब चिन्ता, शोक, कलेश हरे।५८३।

आतमा में स्थिति अर निश्चय

तोटक छन्द

मैं आतम सर्व वियापक हूँ । सब वस्त मँझार प्रकाशक हूँ ॥
सब डील अर डौल विखे एको । सब लहरन में जिम पानी हो॥५८४॥
मैं "है-ता" मात्र अहू सब में । मैं तीनो काल रहूँ सब में ॥
ऐसो जो मैं, मुझ को सिमरो । मुझ को नहिं कब हूँ भी बिसरो-५८५

तोटक छन्द

मैं अर हर एक समान अहें । सब ही में मम अस्थान अहें ॥
मुझ को नहिं कोई मार सके । सब रूप लड़ें हैं रूपन से ॥५८६॥
इस रीत लड़ाई में लड़ तू । अर पर उपकार नमित मर तू ॥
चित केवल मुझ में ही धर तू । अर जय ही जय प्रापत कर तू।५८७।
जो निश्चय मुझ में राखत हैं । निश्चय वुह जय फल चाखत हैं ॥
कुछ नाँहि अगाध तिन्हें भाई । हो सिद्ध तिन्हें हर कठिनाई॥५८८॥
पर जो ममता में गलताने । पुन नाम अर रूपे मस्ताने ।
उन की होवत नित ही हानी । चिन्तायुत ऐसे अभिमानी ॥५८९॥
मुझ में निश्चय ही मुक्ती है । मम सेवा जय की युक्ती है ॥
जो मुझ ही को सब कुछ जानें । वुह हान् अर लाभ न कुछ मानें।५९०।
सम हान विखे अर लाभ विखे । ऐसो जन निर सङ्कल्प फिरे ॥
उस की जग में नित ही जय है । अर उस के दोषी की क्षय है ।५९१।

"मन" से युद्ध ही शान्ति-कुण्ड की चाबी है

तोटक छन्द

अन्तर भी "मन' से तू युध कर । अर इच्छा से निश दिन तू लर ॥
यम नयम अर ब्रत के सद तप धर । यूँ शाँत भवन में डेरा कर ।५९२।
मन मारे बिन कहिं शाँत नहीं । निर "इच्छा" बिन एकाँत नहीं ॥
"मन" माँगे विष वत "भोगन" को । "इच्छा" लाए सब "रोगन" को-५९३

तोटक छन्द

"मन" "इच्छा" ते उल्टा चल तू । यूँ उतपन कर "आतम बल" तू ॥
"आतम बल" ही भय भ्राँत हरे । "आतम बल" से कामादि मरे ५१४
ममता को यदि तू त्याग करे । तो घर में भी वन का रस ले ॥
नहिं "त्याग अहे "घर का तजना" ।"सन्न्यास""अहे निर्मम भजना" ५१५
दुख है नहिं सुत वा पत्नी में । दुख "मेरी तेरी" कथनी में ॥
जग भीतर कोइ विखेप नहीं । "चञ्चलता""राग अर द्वेष"अहीं५१६
जो "राग अर द्वेष बिना" वरते । वुह क्यों जावे बन को घर ते ? ॥
अर्जुन, है शाँत जहाँ रु कहाँ । शाँत आतम बसत यहाँ रु वहाँ५१७
जो जन आतम सन्तुष्ट अहें । निर भय निर चिन्त अशोक रहें ॥
जग माँहि रहें, पर खोभ बिना । धन को वरतें, पर लोभ बिना ।५१८।
इस विध जग में, जग बाहिर हूँ । ममता तज कर वरतें हित सूँ ॥
ऐसे सन्तों के पीछे चल । कीचर में रहि कर हो निर मल-५१९
पानी में बस, पर लेप बिना । नगरों में बस विक्षेप बिना ॥
यूँ जीवन मुक्त कहावें तूँ । समता अमृत रस पावें तूँ ॥६००॥
तेरे प्रश्नों का उत्तर यिह । चिन्तन अर निदिध्यासन कर यिह ॥
यूँ मर कर मार सकल जग को । नहिं युध से दूर हटा पग को ।६०१।
जो रण से भागे क्या योधा ? जो जग को छोरे क्या सोधा ?
वुह वीर कहाँ नहिं मर साके ? वुह शूर कहाँ नहिं लर साके?६०२॥
इस्त्री वा पुरुष जहाँ नाहीं । वाँ जत अभिमान असत आहीं ॥
दुख दाई जन यदि को नहिं हो । किम कौन कहे"कुछ क्रोध न मो"६०३

तोटक छन्द

लोभी नहिं तृष्णा मार सके। जाँ खैंचा जाइ न धन वित से ॥
इस विध न विकार तजे हम को। जब तक न पदारथ सन्मुख हो६०४
जब तक विषयन से तुम न लरो। "मन जीतन" का "तप" कैस करो॥
बल आवत है कुश्ती कर के। अर जावत है चुप बैठे से ॥६०५॥
इस ते तुम बाहिर अन्तर की। युध लड़ के शोभा पाओ जी ॥
नहिं "रण" को अर नहिं "जग" छोरो। बल दाता मानो "रण" "जग" को६०६

अर्जुन उवाच

दोहा

मया धार बतलाइये, क्या मैं साकूँ छूट।
इस युध के सम्बन्ध से, हे निश्चल सम कूट ॥ ६०७ ॥
ऐस विधी मुझ को कहें, हे प्रभु दीन दयाल।
जिस से युध को छोड़ कर, त्यागी फिरूँ निहाल ॥ ६०८ ॥
क्या सन्सार विखे गुरू, कर्म बन्ध है ऐस।
जिस को छोड़ सके नहीं, कोई भी हो कैस ॥ ६०९ ॥
इस प्रयाद को खोलिए, हे आनन्द निधान।
जिस को मैं पहिचान कर, राखूँ चीत समान ॥ ६१० ॥
समझत हूँ, हे सतगुरू, हूँ आतम निर्लेप।
अर अक्रिय निर्मल अहूँ, अर हूँ निर्विक्षेप ॥ ६११ ॥
कर्म न मुझ को बध सके, अहूँ अनाम अरूप।
अमर अहूँ, अर अज अहूँ, हूँ आनन्द स्वरूप ॥ ६१२ ॥

दोहा

समझत हूँ तत ज्ञान यिह, हे प्रभु कृपा निधान ।
पर प्रछिन्न होकर प्रभू, पूछूँ कर्म विधान ॥ ६१३ ॥
यिह देही मम जो दिसे, कर्म खेत यिह आँहि ।
अर सुख दुख जो भासते, वुह भी कर्म दिखाँहि ॥ ६१४ ॥
मानत हूँ, हे *कृष्ण जी*, यिह जो कर्म प्रयाद ।
जब तक मन बिस्मे नहीं, होय न ताँ का बाद ॥ ६१५ ॥
पर हो कर मैं नम्र अत, पूछत हूँ, हे तात ।
जिस से कर्मा भस्म हों, बाखें ऐसी बात ॥ ६१६ ॥
कर्म अधीन रहूँ नहीं, चाहूँ ऐसी रीत ।
मुझ को नाहीं बध सके, कर्मन की जो नीत ॥ ७१७ ॥
कर्म भोग मुझ से टलें, वर्ण धर्म छुट जाय ।
आपद परे हटाइ दूँ, यिह शक्ती मो आय ॥ ६१८ ॥

श्री भगवान उवाच

चौपाई

कर्मन के फल जो हैं भाई । ताँ को कोइ न टाल सकाइ ॥
राजा परजा सन्त अर योगी । अपने कर्मों के है भोगी ॥६१९॥
"कर्म भोग" कहिलावें "भावी" । अर "प्रारब्ध" कहें उस को भी ॥
"वप" "भावी" में धुर सञ्योग । टल न सके "भावी का भोग" ६२०
रोग, आपदा, सङ्कट, "भावी" । "भावी" तेज अर धन, सम्पत भी ॥
अपनी अपनी सब की देही । कर्म अनुसार निभावे एही॥६२१॥

चौपाई

यिह, अर्जुन, है कर्म प्रयाद । आँहि अनन्त, अर आँहि अनाद ॥
"सर्व ब्रह्म" को छाया एह । इस वच में नाहीं सन्देह ॥६२२॥
जैसी करनी, वैसी भरनी । भरनी ही समझो वैतरनी ॥
जो, बीजे सोई ही पावे । इक का कर्म न दूज सितावे॥६२३॥
दूसर भाव अहे इक दोखा । अपना आप सरब में बैठा ॥
पर को सुख दे, स्वय सुख पाइये । पर को दुख दे, स्वय दुख पाइये।६२४।
यिह कर्मों की समझो नीत । कब हूँ बदले नहि यिह रीत ॥
जो "होनी", वुह हो कर बिसमे । "अन होनी" कब हूँ नहिं वरते६२५
यूँ भुक्तावे यिह सन्सार । "देनी" लेनी का ब्यवहार ॥
ऋण भुक्तावें इक दूजे के । ऋण दे कर चल जावें जग ते ।६२६।
अब यिह युध भी है तव "भावी" । तुम को निश्चय करनी होगी ॥
चाहे तुम चाहो, नहिं चाहो । युध में लड़ना अवश परेगो ॥६२७॥
तेरे कर्मों का फल यिह है । ताँ ते भावी निः टल यिह है ॥
होय प्रसन्न इसे भुक्तावो । कायर बन कर नहिं उक्तावो॥६२८॥
वप के कर्म, देह भुक्तावे । आतम निर्मल ही रहि जावे ॥
"आतम" अपने को तू मान । वप को कर्ता भुक्ता जान ॥६२९॥
यदि तू रो कर युद्ध करेगो । तो भी लड़ना तोहि परेगो ॥
अर फिर रोने की जो "भावी" । तुम को भुकानी ही होगी॥६३०॥
ताँ ते क्यों नहि हँस कर लड़िये । क्यों नहि स्वर्ग जीत कर मरिये ?।
क्यों नहिं द्वेष जार सुख पावें । क्यों नहिं पर उपकार कमावें-६३१

चौपाई

इस विध पिछले कर्म विनासे । फिर आगे नहिं फल कुछ भासे ॥
फल दे राग द्वेष ही भाई । जग है राग द्वेष की फाई ॥६३२॥
ताँ ते राग न मन में द्वेष । आतम हित चित में हो शेष ॥
इस विध युध में तीर पकर तू । इस विध लड़ तू, इस विध मर तू ६३३
ऐस लड़ाई है मितराई । इस में पाप नहीं है राई ॥
उलटा इस का फल है मोख । देवे यिह चित में सन्तोख ॥६३४॥
धर्म युद्ध जग में हैं ऐसे । अश्वमेध यग होवें जैसे ॥
इस में जो केवल इक स्वास । सञ्चित कर्म करे सब नास॥६३५॥
ताँ ते युध में लड़ निःसङ्ग । इस विध "भावी" को कर भङ्ग ॥
पर उपकार रिदे में धार । इस विध ताता बन तू मार ।६३६।
द्वेष न रख काहू से, मीत । आतम हित ते जग को जीत ॥
यिह मेरा उपदेश विचार । चित ते भय अर भ्राँत निकार-६३७

अर्जुन उवाच

दोहा

धन्य वाद मैं करत हूँ, बारम्बार तुम्हार ।
हे भगतों के इष्ट जी, अर हे दीन दयार ॥ ६३८ ॥
जो जो मेरे शङ्क थे, सारे गये विलोइ ।
निः सन्शय निः चल मती, मेरी बुध गइ होइ ॥ ६३९ ॥
आतम अपना दीखता, सब ही में भरपूर ।
नाम रूप का भेद सब, भासे मुझ को कूर ॥ ६४० ॥

दोहा

नहिं मरता कोई कभी, जीता भी नहिं कोइ ।
जीना मरना नाम अर, रूप बदलना होइ ॥ ६४१ ॥
जग को भी समझत अहूँ, नाम रूप का नाम ।
कर्म खेत भी रूप है, ता के नीचे राम ॥ ६४२ ॥
नाम रूप सङ्कल्प है, मन भी है सङ्कल्प ।
मन नासे जब, रहे तब, आतम, विना विकल्प ॥ ६४३ ॥
"मन" अर "आतम" मेल को, "जीव" कहत है वेद ।
"मन" कलङ्क जब जात है, "जीव" "आतम" निर्भेद ॥ ६४४ ॥
इस कलङ्क के दोष ते, सुख दुख होवे भान ।
यिह कलङ्क जब दूर हो, सब कुछ आँहि समान ॥ ६४५ ॥
इस कलङ्क से भासता, यिह सारा सन्सार ।
यिह कलङ्क जब दूर हो, नास होइ विस्तार ॥ ६४६ ॥
"राग द्वेष" ते पुष्ट हो, "मन" का जोइ कलङ्क ।
"राग द्वेष" जब दूर हो, "मन" नासे निः शङ्क ॥ ६४७ ॥
"लैनी देनी" जगत की, "राग द्वेष" ते होइ ।
"राग द्वेष" के नाश ते, "जग सम्बन्ध" विलोइ ॥ ६४८ ॥
सर्व नेम, ब्रत, तप सभी, सर्व दान, उपकार ।
धोवें "द्वैत" कलङ्क को, इस सन्सार मँझार ॥ ६४९ ॥
जन्म जन्म में दोष यिह, क्रम से धोया जाइ ।
जब सारा धुल जाइ यिह, मोख अवस्था आइ ॥ ६५० ॥

दोहा

समझ गया मैं ज्ञान यिह, हे प्रभु दीन दयाल ।
चित मेरा हर्षित अहे, अनुभव मोर विशाल ॥ ६५१ ॥
अब लड़ने में है नहीं, मुझ को कोई शङ्क ।
उल्टा इस ते धुलेगो, मेरो "मोह कलङ्क" ॥ ६५२ ॥
राग द्वेष को जार कर, रख कर पर उपकार ।
तीर हाथ में पकड़ कर, जावूँ युद्ध मँझार ॥ ६५३ ॥
निर्गिलान, निर्वैर हो, धर्म परायण बुद्ध ।
इस विध धार पछार कर, करूँ सिद्ध मैं युद्ध ॥ ६५४ ॥
पाप करूँ मैं नाश अब, करूँ अधर्म विनाश ।
इस दुस्तर सन्सार में, होवे धर्म प्रकाश ॥ ६५५ ॥
दीजे मोहि अशीर जी, कीजे मो बल दान ।
जिस शक्ती से युद्ध में, पाऊँ मैं सन्मान ॥ ७५६ ॥
इष्ट देव मम आप हो, आप अहो मम प्रान ।
आप विखे निश्चय मिरा, आप अहें मम त्रान ॥ ६५७ ॥

श्री भगवान उवाच

चौपाई

तुम, अर्जुन, मेरे अति प्यारे । सर्व जगत से हो तुम न्यारे ॥
तुम शिर मम चरनन पर धरते । मेरी भगती तुम हो करते॥६५८॥
तुम को रिद से मोर अशीर । तुम मेरे हो प्यारे वीर ॥
रिद में रखना यिह उपदेश । भ्राँत न बुध में रखियो लेश ।६५९।

चौपाई

गुप्त महा यिह ज्ञान विचारो । इस में तुम अब इस्थित धारो ॥
बुध निर्मल, रिद ठराडा राखो । इस विध अमृत का रस चाखो।६६०।
सब में अपना आप पछानो । अथवा मुझ को सब में मानो ॥
मुझ में, आतम में नहिं भेदा । ऐसो ज्ञान निवारे खेदा ॥६६१॥
तुम को बोध दिया यिह मैं ने । जाना तुम को उत्तम सब से ॥
प्यारा रखना तुम यिह ज्ञान । सब को नहिं करना व्याख्यान।६६२।
योग्य देख कर देना बोध । पहिले कहिना "यम को सोध" ॥
"साधन चव" जो प्रथम कमावे । वुही "ज्ञान के योग्य" कहावे॥६६३॥
तपधारी को, श्रद्धायुत को । दानी को, अर किरपालु को ॥
कोमल चित को, इस्थित मत को । ऐसो उत्तम ज्ञान सुनाइयो ॥६६४॥
जो यिह सीख्या मम वीचारे । अर जो मन का वेग निवारे ॥
राग द्वेष को जो जन जीते । वुह मुझ को प्यारा है जी से ।६६५।
वुह आतम में जान विलीन । ताँ को मुझ में इस्थित चीन ॥
उस में, मुझ में भेद न राई । वुह अर मैं दोनों हैं भाई ॥६६६॥
जो यिह सीक्षा अवर सुनावें । अर जो पर में ज्ञान् उपजावें ॥
पुस्तक रच कर जो सुख देवें । वुह मानुष भी मुझ को सेवें॥६६७॥
ब्रह्म ज्ञान की सेवा जोई । सब सेवा से उत्तम होई ॥
ऐसो सेवक मुझ में लीना । ममता को उस ने तज दीना-६६८
पढ़े पढ़ावे, सुने सुनावे । ब्रह्म ज्ञान को, मो अति भावे ॥
मैं उस में, वुह मुझ में वासे । चार पदारथ उस के पासे ॥६६९॥

चौपाई

जीवन मुक्त वुही कहिलावे। शाँत उसी के चित में आवे ॥
बुद्ध उसी की निर्मल होवे। कामादिक को सोई खोवे ॥६७०॥
मेरी सीख्या का यिह अन्त। माने जो, होवे भगवन्त ॥
भक्त वुही जो माने सीख। माथे पर राखे गुरु दीख ॥६७१॥
कर प्रनाम, देऊँ आशीर। मेरी फूँक बनावे धीर ॥
जा, जय प्रापत कर, मम वीर। ऊँच नीच में रहि गम्भीर ॥६७२॥

अर्जुन उवाच

दोहा

धन्य वाद नहिं कर सकूँ, जीभा मेरी मन्द।
ऐसो गद्गद मैं हुआ, ऐसो मैं आनन्द ॥ ६७३ ॥
ब्रह्म वाक को श्रवण कर, सन्शय मेरे दूर।
निर सङ्कल्प भया अहूँ, अमृत रस भरपूर ॥ ६७४ ॥
ऐसो सुकृत को करे, बिन *केशव* जग माँहि।
पर उपकार स्वरूप जो, प्रेम निधी जो आँहिं ॥ ६७५ ॥
हे *केशव* मम रिद हुआ, ऐसा परमानन्द।
चाहूँ तोर प्रशन्स में, रचूँ सैंकरे छन्द ॥ ६७६ ॥
अगम अगोचर तुम अहो, भेटूँ ताँ ते "मौन"।
"शाँत" बिना तेरी करे, योग्य प्रशन्सा कौन ?। ६७७ ॥
अथवा तोर प्रशन्स यिह, "मानूँ मैं तव वाक"।
पर उपकार नमित्त मैं, बिसरूँ सकले साक ॥ ६७८ ॥

दोहा

शाँत रिदय, निर्मम रहूँ, राग द्वेष ते दूर ।
ऐसी वृत से लड़ूँ मैं, आतम हित भरपूर ॥ ६७९ ॥
पुर्नपुनः माँगूँ यिही, नाशे मेरा "द्वेष" ।
एक ब्रह्म देखूँ सदा, पर का लखूँ न लेश ॥ ६८० ॥
इच्छा बिन, सङ्कल्प बिन, सन्शय बिन, बिन भ्राँत ।
बुद्धी बिन, अर मन बिना, रहूँ आतमा शाँत ॥ ६८१ ॥
दान, यज्ञ अर तप नमित, अर उपकार नमित्त ।
हारूँ परम हुलास से, ममता की जो वित्त ॥ ६८२ ॥
दिवस रैन मलता रहूँ, तेरे कोमल पाद ।
चँवर झुलाउँ तोर पर, हे अवतार अनाद ॥ ६८३ ॥
तेरे अमृत वाक को, रिद में धारूँ नीत ।
बुध को यूँ निर्मल करूँ, मन चित को यूँ शीत ॥ ६८४ ॥

सञ्जय उवाच

दोहा

मैं ने कानों से सुना, यिह अद्भुत सम्वाद ।
अर्जुन अर *श्री कृष्ण* का, श्रीयुत व्यास प्रसाद ॥ ६८५ ॥
योग सुना योगीश से, ज्ञान सुना विज्ञान ।
शाँत प्रेम का रस लिया, अद्भुत था व्याख्यान ॥ ६८६ ॥
राजन्, जब सिमरन करूँ, चित में मैं वुह श्रोत ।
बारम्बार हुलास तें, रिद फूलन को होत ॥ ६८७ ॥

दोहा

अर जब सिमरन करत हूँ, हरि का विश्व स्वरूप ।
रोम रोम मम खरी हों, बरसे हर्ष अनूप ॥ ६८८ ॥
वर्णन में क्या कर सकूँ, केशव का धन वाद ।
जिस ने ज्ञान भँडार से, दीनो ऐस प्रसाद ॥ ६८९ ॥
है *श्री कृष्ण* जहाँ जहाँ, अर अर्जुन भी है ।
क्यों नहिं लछमी हो वुहाँ, क्यों नहि शाँत अर जय॥६९०॥
भाव इस का यिह समझिये, आतम युत जो होइ ।
क्यों नहिं सुख निध होइ वुह, शाँत न क्यों हो सोइ ॥ ६९१ ॥
"अर्जुन" जानो "जीव" को, "आतम""*कृष्ण* सुछन्द" ।
"आतम युत" जब "जीव" हो, पावे "परमानन्द" ॥ ६९२ ॥

इति अष्टादश अध्याय

कुण्डली

राग द्वेष को जार कर, विचरे जो आनन्द ।
हान लाभ में सम रहे, दुख सुख माँहि सुछन्द ॥
दुख सुख माँहि सुछन्द, लखे नहिं मान अपमाना ।
शीत उषन में एक, निभावे काल समाना ॥
जिस में से *रघुनाथ*, गये हैं इच्छा भाग ।
सन्न्यासी वुह आँहि, धरे जो ऐस विराग ॥२१॥

आतम आश्रय रहे जो, रूपन आश्रय नाँहिं ।
ऐसो पुरुष स्वतन्त्र जो, सन्न्यासी कहिलाँइं ॥
सन्न्यासी कहिलाँइं, न जिस को हर्ष न शोक ।
भावें निन्दें ताँहि, सलाहें भावें लोक ॥
जाँ को दे *रघुनाथ*, सदा रस, तप अर शम, दम ।
पुन जाँ को दरसाइ, सर्व ही में निज आतम ॥२२॥

आशा, तृष्णा त्याग दे, काम, क्रोध दे त्याग ।
समता में विचरे सदा, मोह नींद ते जाग ॥
मोह नींद ते जाग, सर्व को समझे भ्राता ।
जिस के चित को रञ्च, गिलान अर द्वेष न भाता ॥
ऐसे में *रघुनाथ*, निवास करे सन्न्यासा ।
निर अभिलाशा जो अर, पुन हो जो निर आशा ॥ २३ ॥

कुण्डली

सन्न्यासी वुह जन लखो, जाँ को मीन न मेख ।
जाँका प्रन ऐसो निभे, पाथर पर जिम रेख ॥
पाथर पर जिम रेख, वचन जाँ का त्यूँ साचा ।
सुपने का भी वाक, न निकले जिस का काचा॥
झूट कपट की जास, कटे *रघुनाथा* फासी ।
ऐसो जो निर्दम्भ, वुही मानो सन्न्यासी ॥२४॥

लङ्गोटी में भी फिरे, तो भी वुह अधिराज ।
ताक न डाले इन्द्र पर, भावें बिगरे काज ॥
भावें बिगरे काज, सदा सन्तुष्ट बिराजे ।
दिवस रैन गम्भीर, सदा समता से साजे ॥
तृप्त सदा *रघुनाथ*, मिले नहिं भावें रोटी ।
सन्न्यासी तेंह मान, रखे भावें लङ्गोटी ॥ २५ ॥

मन जिस का है मर गया, फुरने जिस के दूर ।
निर सङ्कल्प सदा रहे, आतम हित कर पूर ॥
आतम हित कर पूर, विपद को भी रिद लावे ।
जिस को जग के बीच, न काहू से डर आवे ॥
सिद्ध यदी *रघुनाथ*, चबावे ताँ का तन्त्र ।
वुह सन्न्यासी आँहि, डरे नहिं जाँ का मन्त्र ॥ २६ ॥

कुण्डली

नास लहे यदि सूर्य पुन, पृथिवी यदि फट जाइ।
तो भी सन्न्यासी नहीं, चित में रञ्च भ्रमाइ॥
चित में रञ्च भ्रमाइ, नहीं दृढ़ मत को खोवे।
ऐसे वैसे बीच, सदा समता में सोवे॥
है-ता है *रघुनाथ*, तास की स्वतः प्रकास।
"है" नहिं होइ विनास, रूप का हो यदि नास॥ २७॥

"वस्तू" में कुछ दुख नहीं, दुख निध "मन" में जान।
याँ ते "वस्तू त्याग" को, निष्फल वृथा पछान॥
निष्फल वृथा पछान, बनों को घर से धावन।
चञ्चलता को धार, पुनपुन आवन जावन॥
सुख चाहे *रघुनाथ*, वीर बन "मन" को कस तू।
कण्टक नाँहिं चभोइ, तुम्हें बेचारी वस्तू॥२८॥

दुक्ख नहीं सन्सार में, दुख मय आँहिं गिलान।
जाय गिलानी चीत से, जग आनन्द निधान॥
जग आनन्द निधान, "प्रेम" है ताँ की युक्ती।
"आतम हिंत" के साथ, "जगत" ही देवे "मुक्ती"॥
धार प्रेम *रघुनाथ*, सिङ्घ भी देवे सुक्ख।
दुख नहिं जग में रञ्च, गिलानी ही है दुक्ख॥२९॥

कुण्डली

वैरागी वुह जन अहे, जा में राग न द्वेष ।
नाम रूप का जास को, रञ्च न लागत लैश ॥
रञ्च न लागत लैश, सर्व में ब्रह्म पछाने ।
ऊँच नीच के भीतर, अपना आतम माने ॥
जिस को है *रघुनाथ*, गिलान बनावे त्यागी ।
निश्चय जानो होइ, न ऐसो जन वैरागी ॥२०॥

ब्राह्मन ताँ को समझिये, ब्रह्म्म विखे जो लीन ।
नाम रूप की कल्पना, जाँ की होवे क्षीन ॥
जाँ की होवे क्षीन, द्वैत की सारी भ्राँती ।
हान लाभ के बीच, रखे जो इस्थित शाँती ॥
जिस ने वश में कियो, आपनो इन्द्रिय अर मन ।
ताँ को ही *रघुनाथ*, लखो जग भीतर ब्राह्मन ॥२१॥

रिद जिस का शीतल रहे, उज्जल जाँ की बुद्ध ।
कोई भी वस्तू जिसे, भासे नाँहिं विरुद्ध ॥
भासे नाँहिं विरुद्ध, जिसे आपद अर हानी ।
ऐसो मानुष जोइ, वुही है ब्राह्मण ज्ञानी ॥
सोम वृती *रघुनाथ*, होइ जो पुन आतम विद ।
ऐसो ब्राह्मण मान, खिजे नाहीं जिस का रिद ॥२२॥

कुण्डली

विद्या माँहिं प्रवीन जो, पुन हो ज्ञान प्रकाश।
इच्छा जाँ की दग्ध हो, फुरना जास विनाश॥
फुरना जास विनाश, जगत है जाँ को जूठा।
दिवस रैन जो मानुष, है विषयन से रूठा॥
वर्तें नित जो प्रेम, दया अर सेवा रक्षा।
ब्राह्मण हो *रघुनाथ*, रखे जो धर्म अर विद्या॥३३॥

शोक चिन्त ते दूर जो, ममता से जो दूर।
दुख सुख भीतर जो लखे, एक ब्रह्म्म भरपूर॥
एक ब्रम्म भरपूर, सर्व को देवे बोध।
परमानन्द निधान, न जिस में वैर विरोध॥
सिर ऊपर *रघुनाथ*, बिठावे जिस को लोक।
ऐसो ब्राह्मण मान, न जिस को ममता शोक॥३४॥

दोहा

ऐसे ज्ञान सुनाय कर, अर्जुन को भगवान।
"सेवा" में तत्पर करें, धो कर तास गिलान॥ ३५॥
समझावें पुन दया कर, "सुन, हे अर्जुन, मीत।
"नाम रूप को भूल तू, आतम को धर चीत॥ ३६॥
"वैर विरोध भूलाय कर, राग द्वेष कर दूर।
"आतम हित ते युद्ध कर, ब्रह्म्म ज्ञान भरपूर॥ ३७॥

दोहा

"युध के समय विचार तू, 'करता हूँ मैं दान'।
"पाप दुष्टता मार कर, जग को दूँ कल्यान" ॥ ३८ ॥
इस पावन वीचार से, यदि तू धरे कटार।
अर पुन तीर कमान धर, मारे सब सन्सार ॥ ३९ ॥
पाप न कुछ भी तो चढ़े, दोष न तुझ को कोय।
उल्टा, हे अर्जुन, तुम्हें, मुक्ती प्रापत होय ॥ ४० ॥
पुन्य पाप नहिं "कर्म" में, पुन्य पाप "मन" माँहि।
"शुभ मन" को नित "मोख" है, भावें हिन्सक आँहि ॥ ४१ ॥
इस विचार को श्रवण कर, अर्जुन होय सुचेत।
कश्मल सकली त्याग कर, युद्ध विखे चित देत ॥ ४२ ॥

चौपाई

यिह जो अष्टादश अध्याय। समझो तेंह आनन्द उपाय ॥
पावन आतम द्दष्ट सिखावे। नाम रूप अध्ध्यास नसावे ॥४३॥
जो जन पढ़ के नित यिह ध्यावे। दुख आपद तें मुक्ती पावे ॥
कर्म योग की पावे युक्ती। ताँहि विहार विखे हो मुक्ती॥४४॥
साचा, सूधा वुह बन जावे। पर रिद को नहिं रञ्च दुखावे ॥
शाँत सहित आयू बीतावे। मन शत्रू को मार जरावे ॥४५॥
करते हुए अकर्ता होवे। निर इच्छित की निद्रा सोवे ॥
कर्म बने ताँ का तब धर्मा। कर साके नहिं कोइ विकर्मा॥४६॥
ऐसो अष्टादश अध्याई। जो बरते सो मुक्ती पाई ॥
इक इक वचन अमोलक मोती। जीभा से महिमा नहिं होती॥४७॥

चौपाई

गीता पुस्तक को, हे सजनो । मुक्त प्रदाता पुस्तक समझो ॥
जग में कैसे हो व्यवहार । *गीता* देवे यिह वीचार ॥४८ ॥
देत कल्पना माहीं शाँती । शोक अर चिन्त दिखावे भ्राँती ॥
पुन पुन *गीता* को वीचारो । नाम रूप की भ्राँती जारो ॥४९॥
मैं ने अष्टादश अध्याई । खोल खोल कर है समझाई ॥
कृष्ण प्रयोजन दीनो सारा । सहित प्रमान कियो विस्तारा ॥५०॥
एक प्रश्न को मैंने फोड़ा । अर उत्तर को भी है तोड़ा ॥
इस विध इक लम्बे उत्तर को । क्रम से मैं ने है समझायो ॥५१॥
भाव वुही जो *गीता* माँहीं । सर्व प्रयोजन उस का आँहीं ॥
केवल रूप मात्र बदलाया । वस्त्र उसे हिन्दी पहिनाया ॥५२॥
भेंट करूँ हे *कृष्णा मुरारी* । यिह पुरुषारथ तोर अगारी ॥
धार कृपा कीजे स्वीकार । यिह छोटी सी मम बलिहार॥५३॥
साग विदुर का समझो इसको । धान्य सुदामा का यिह समझो ॥
बेर भीलनी के यिह जानो । मुझ को उन भक्तों सम मानो॥५४॥
नहिं राखूँ कुछ सोना चाँदी । प्रेम रखूँ बलि हो कर बाँदी ॥
प्रेम करो मेरा स्वीकार । हे *भगवन*, हे *कृष्णा मुरार* ५५
सफल करो मम एह कमाई । रिद अङ्गम सब के बन जाई ॥
उत्तर, दक्षिन, पूरब, पश्चिम । यिह पुस्तक धोवे सब का भ्रम॥५६॥
ज्ञान प्रभाकर यिह चमकावे । उज्जल सब की बुद्ध बनावे ॥
प्रेम पदारथ देवे सब को । अमृत धारा होवे मानो ॥५७॥

चौपाई

कर्म रीत जग को सिखलावे। सेवा में आनन्द जितावे ॥
इच्छा सब की दग्ध बनावे। सहज अवस्था माँहि सुलावे ॥५८॥
धर्म प्रकाश करे यिह ऐसे। होवे धर्म प्रभाकर जैसे ॥
शाँत पदारथ देवे सब को। वैर विरोध न राखे तब को ॥५९॥
आतम अपना पूरन देखे। अपने को सब ही में पेखे ॥
सब का रिद रीझावे ऐसे। आतम को रीझावे जैसे ॥६०॥
यिह प्रारथना मोरी, स्वामी। पूरन कीजे अन्तर्यामी ॥
ऐसी डालें इस में शक्ती। अपनी ओर खिचे सब को ही ॥६१॥
भगवद्गीता यिह *रघुनाथी*। हो जावे भक्तन की साथी ॥
यिह तिल पुष्प धरे *रघुनाथ*। जग की सत सङ्गत के हाथ ॥६२॥

श्री भगवद्गीता तत्व वा सार

दोहा

नाम रूप जग छल अहे, ताँ के नीचे राम।
ताँ ते आतम राम ही, आँहिं शाँत को धाम ॥ १ ॥
रूपन का झगड़ा अहे, जा को बाखें कर्म।
रूप भेद का त्याग ही, मानो आतम धर्म ॥ २ ॥
ताँ ते कर्मन का नहीं, आतम को कुछ लेप।
कर्म सभी केवल करें, कोशन को विक्षेप ॥ ३ ॥
"कोश सहित जो आतमा", ताँ कों बाखें "जीव"।
"जीव" बने अध्यास से, नहिं तो "आतम सीव" ॥ ४ ॥
किंवा "भ्रम" अर "ब्रह्म्म" मिल, "जीव" दशा को पाँइं।
इस अध्यासी जीव को, अर्जुन, कर्म लिपाँइं ॥ ५ ॥
इस रीती से जानिये, भ्रम ही कर्म स्वरूप।
भ्रम ही से मुक्ती मिले, भ्रम से बन्धन कूप ॥ ६ ॥
सारे ही सन्सार को, बाँधे भ्रम की जाल।
ताँ ते कोई कर्म फल, जग में सकत न टाल ॥ ७ ॥
जब तक इच्छा भ्रम अहे, तब तक कर्मन भोग।
"इच्छा" छाया "द्वैत" की, "द्वैत" "जीव" का रोग ॥ ८ ॥
"द्वैत भ्राँत" जब उड़त है, "जीव" "आतमा" होत।
"कर्म" "धर्म" बन जात तब, मिले जोत में जोत ॥ ९ ॥

दोहा

याँ ही को मुक्ती कहें, याँ ही को निर्वान ।
या ही तो आनन्द है, या ही तो कल्यान ॥ १० ॥
कर्म युक्ति ताँ ते अहे, सब सूँ हित अर प्रेम ।
राग द्वेष की निवृरिती, लीन भाव अर नेम ॥ ११ ॥
कर्म जोइ इस युक्ति से, सो है धर्म स्वरूप ।
ममता को भङ्गन करे, मेले ब्रह्म्म अनूप ॥ १२ ॥
भगवद्गीता में लिखी, कर्मन की यिह युक्त ।
जिस के धारन से मिले, दोनो सुख अर मुक्त ॥ १३ ॥
ऐसी *भगवद्गीता* को, समझावे *रघुनाथ* ।
युक्त और विस्तार से, अर प्रमान के साथ ॥ १४ ॥

इति

श्री भगवद्गीता सिद्धान्त

—परमार्थक अर व्यवहारक वेदान्त—

ब्रह्म अर ईश्वर

दोहा

समझावत *रघुनाथ* है, *भगवद्गीता सार* ।
जिस का जिज्ञासू करे, निदिध्यासन, वीचार ॥ १ ॥
गीता का तत सार है, दो प्रकार वेदाँत ।
व्यवहारक, परमारथक, ब्रह्म विद्या सिद्धाँत ॥ २ ॥
"व्यवहारक वेदाँत" जो, वुह *ईश्वर* कहिलाँइ ।
अर जो हो "परमारथक", ताँ को *ब्रह्म्म* बुलाँइ ॥ ३ ॥
"ब्रह्म्म ज्ञान" "परमार्थक", "दूजो" "ईश्वर ज्ञान" ।
"ब्रह्म्म ज्ञान" है अगम पुन, "ईश्वर ज्ञान" जहान ॥ ४ ॥
"ब्रह्म्म ज्ञान" माया परे, ईश्वर माया मीत ।
"ब्रह्म्म ज्ञान" शून् आत्मा, ईश्वर जीव प्रतीत ॥ ५ ॥
जाँ ते "जीव" प्रछिन्न है, माया की जेंह भ्राँत ।
ताँ ते ताँ के योग्य है, व्यवहारक वेदाँत ॥ ६ ॥
व्यवहारक का आश्रय, परमार्थक जो ध्यान ।
पर "प्रछिन्न" जो "जीव" है, "व्यापक" सके न जान ॥ ७ ॥

दोहा

"परछिन" लखे "प्रछिन्न" को, "व्यापक" तेंह अन्धार ।
ताँ ते जीव सदा लखे, "ब्रह्म्म रूप" सन्सार ॥ ८ ॥
"शुद्ध ब्रह्म्म बिन रूप' को, "जीव' न सोच सकेत ।
ब्रह्म्म धरे जब रूप को, ताँ को "जीव' लखेत ॥ ९ ॥
"ब्रह्म का लक्षन" "एकता", वुह तो आँहिं अनूप ।
ताँ को जीव न लख सके, "जीव" लखे है "रूप" ॥ १० ॥

"कर्म नीती" "ब्रह्म एकत्व" का विवर्त

दोहा

"रूप" "एकता" का अहे, "कर्म भोग की नीत" ।
जिस से दूसर भ्रम बने, एकी होत प्रतीत ॥ ११ ॥
जब तू ने पर को दिया, सुख दुख जगत मँझार ।
वुह सुख दुख तुम पर पड़ा, कर्म न्याय अनुसार ॥ १२ ॥
इस से क्या यिह सिध नहीं, "करता" "भुक्ता" "एक" ।
एक ब्रह्म सब कुछ अहे, छल,भ्रम आँहिं "अनेक" ॥ १३ ॥
यूँ "एकत्व" जब "दृश्य" हो, "कर्म न्याय" बन जाइ ।
"एकत" जो है "ब्रह्म्म" का, जग में "कर्म नियाइ" ॥ १४ ॥
कर्म न्याय वेदाँत है, इस बिन अवर न कोइ ।
"रूप सहित" "एकत्व" है, "कर्म नीत" जो होइ ॥ १५ ॥
यिह "व्यवहारक वेद" जो, "जीवन" का अधिकार ।
कोई भी "जीवा" नहीं, "कर्म नीत" ते पार ॥ १६ ॥

"जन्म मरण" रीती, "ब्रह्म" की "नित्यता" का विवर्त

दोहा

पुनः ब्रह्म की "नित्यता", जन्म मरण दरसाइ।
माया के दरपन विखे, "जीव" नित्य यूँ आहि ॥ १७ ॥

"अन्दोलन नीती", "ब्रह्म" के "आनन्द" का विवर्त

दोहा

जाँ ते जो "आनन्द" है, "द्वैत निषेदी" होइ।
ताँ ते "अन्दोलन" दिसे, "है" "नाहीं" क्रम जोइ ॥ १८ ॥
द्वन्द अहें जो जगत के, "है" "नाहीं" की छाइ।
इक पाछे दूसर चले, "अन्दोलन" यिह आहि॥ १९ ॥
"रात" "दिवस", "ऊपर" "तले", "तम" "प्रकाश" है जोइ।
"अन्दोलन" के जग विखे, उदाहरण सब होइ ॥ २० ॥
लगातार कुछ नहिं दिसे, जग के भीतर, मीत।
"होता" "खोता" सब दिसे, "जनम मरण" यूँ "नीत" ॥ २१ ॥
यूँ "सत", "चित", "आनन्द" जो, ब्रह्म के लक्षण तीन।
"आवागमन" अर "कर्म" पुन, "अन्दोलन" दरसीन ॥ २२ ॥

दोहा

जैसे सच्चिदानन्द है, इक दूसर में नीत ।
तैसे कर्मादिक नयम, इक दूसर के मीत ॥ २३ ॥
"दृष्ट मान" जो ब्रह्म्म है, ताँ का "ईश्वर" नाम ।
ताँ के लक्षण तीन यिह, जग का करते काम ॥ २४ ॥
ताँ ते यिह ईश्वर अहें, लक्षण लक्ष् हैं एक ।
"नन्हे ईश्वर" "जीव" हैं, भ्रम कर दिसत अनेक ॥ २५ ॥
"पूरन्ता" जो "ब्रह्म्म" की, "जीव" "उन्नती" आँहिं ।
"आतम" और "अनातमा", मिल कर यूँ दरसाँइँ ॥ २६ ॥

जीव का नश्शा और स्वप्न

दोहा

"जीव" अहे नश्शे विखे, भ्रम की पी कर भाँग ।
भ्रम है झूट अनातमा, यूँ देखे वुह स्वाँग ॥ २७ ॥
जब तक नश्शे बीच है, तब तक साचे स्वाँग ।
"कर्म नीत" आदिक अहें, उस के लिये सचाँग ॥ २८ ॥
जब नश्शा उस का छुटे, अर सुप्ना हो अन्त ।
"देह बन्ध" उस का उड़े, "जीवा" ब्रह्म्म बनन्त ॥ २९ ॥
नश्शे में देह अर जगत, दोनो ही उतपन्त ।
नश्शे के उतरत भये, दोनो नाश लहन्त ॥ ३० ॥
पर यिह नश्शा रहत है, जीव साथ चिर काल ।
जनम अनेकी लैत वुह, ज्यों ज्यों नश्शा ढाल ॥ ३१ ॥

दोहा

एक जनम की "मौत" जो, नश्शा नहिं उतराँइँ ।
नश्शा तो है "जीव" में, "देही" में वुह नाँहिं ॥ ३२ ॥
"सूक्षम देहो" रहत हैं, "जीव्" ऊपर मृत काळ ।
फिर उन के कल्बूत पर, बनत दूसरी जाल ॥ ३३ ॥
"देही" "कारज" जानिये, "कारण" "जीव" पछान ।
"कारज" के मर गये से, "कारण" की नहिं हान ॥ ३४ ॥
"कर्मों" के जो "चित्र" हैं, वुह भी रहें समान ।
मन, चित, बुध, हङ्कार भी, "जीव भाव" पहिचान ॥ ३५ ॥
ताँ ते वप की मौत पर, "जीव भाव" नहिं जाइ ।
गुण लक्षण जो तास के, ज्यों के त्यों इस्थाइ ॥ ३६ ॥

जीव के नश्शे की औषधी

दोहा

"नश्शे" की जो "औषधी", जानो "आतम ज्ञान" ।
यिह अन्तर से ही मिले, अन्तर आतम भान ॥ ३७ ॥
अथवा सन्त महातमा, दिया सलाई होत ।
जिन के लग्ने से जळे, अन्तर आतम ज्योत ॥ ३८ ॥
वा "करमों के भोग" से, जागत आतम प्रेम ।
यूँ भी नश्शा ढील हो, धीरे आवे क्षेम ॥ ३९ ॥

दोहा

अथवा "शास्त्र विचार" से, "बुद्धी" "उज्जल" होइ।
उज्जल बुद्धी में दिसे, आतम दर्शन जोइ ॥ ४० ॥
अथवा चित एकाग्र में, आतम दे आभास।
यूँ भी नश्शा मन्द हो, पुन इक दिन हो नास ॥ ४१ ॥
जब यिह बुध में बोध हो, "मम दुख कारन द्वैत"।
"मैं तो हूँ अद्वैत ब्रह्म", तब वुह शुद्ध बनैत ॥ ४२ ॥
होवत "नश्शा" ढील तब, "जीव" "होश" में आइ।
ज्यों ज्यों "होश" अधिक मिले, त्यों त्यों वुह शरमाइ ॥ ४३ ॥
"नश्शा" अर "बन्धन" उभय, एक वस्त के नाम।
इस नश्शे की निवृती, मुक्ती है अभिराम ॥ ४४ ॥
तब से मुक्ती शुरू हो, जीवातम की, मीत।
जनम जनम में द्वैत की, मिटती जावे प्रीत ॥ ४५ ॥
राग द्वेष उस से उड़ें, प्रेम अर दान समाँइं।
आतम के लक्षण सभी, शील उस का दरसाँइं ॥ ४६ ॥
तब वुह जीवा मुक्त है, ममता का दुख जाइ।
सुप्ने में भी तास को, द्वैत दृष्ट नहिं आई ॥ ४७ ॥
द्वैत जाइ "देने" विखे, "लैने" में बढ़ जाइ।
ताँ ते "दान" बृती विखे, मुक्ती का घर आहि ॥ ४८ ॥
"दान रूप" जो बनत है, ममता मोह गँवाइ।
वुह जन जीवन मुक्त है, ब्रह्म्म रूप हो जाइ ॥ ४९ ॥
"ब्रह्म्म" "सभी का तत्व" है, वैस अवस्था नाँहिं।
"ब्रह्म्म अवस्था" जब बने, तब हम "ब्रह्म्म" कहाँइं ॥५०॥

दोहा

जो राजा बिक्षक बने, वुह बिक्षारी आँहिं ।
जब राजा के गुण धरे, महाराज कहिलांइं ॥ ५१ ॥
बिन गुन धारन किये के, नहिं कहें तो गुन वान ।
बे गुण यदि दावा करे, गुण का, मूढ़ महान ॥ ५२ ॥
तैसे मुख ज्ञानी जिते, "अहम ब्रह्म्म जेहँ वाच ।
पर इच्छा के भृत अहें, वुह नाहीं "ब्रह्म साच" ॥ ५३ ॥

जीवन मुक्त अर विदेह मुक्त

दोहा

"जीवन मुक्ती" तब तलक, जब तक "सञ्चित" शेष ।
पर जब "सञ्चित" अन्त हूँ, वप का मिटे कलेश ॥ ५४ ॥
मर कर ऐसो "मुक्त" जो, फिर देही नहिं लेत ।
ब्रह्म्म विखे वुह लीन हो, बन्धन सब तज देत ॥ ५५ ॥
पर जो ऐस "महातमा", प्रेम सुधा भरपूर ।
पर उपकारी दृष्ट से, धरें कभी वप धूर ॥ ५६ ॥
तास प्रयोजन हो नहीं, विषय भोग अभिलाश ।
पर उन का यिह अर्थ हो, जगत तिमिर हो नाश ॥ ५७ ॥

निर बन्ध कर्म

दोहा

यूँ *गीता* उपदेश है, ब्रह्म्म शील सिखलाइ ।
तुच्छ भाव खराडन करे, जीवे ब्रह्म्म बनाइ ॥ ५८ ॥

दोहा

ब्रह्म शील से जो करम, ताँ का फल आनन्द ।
चाहे जग को काट दो, परो न दुख के फन्द ॥ ५९ ॥

कर्म योग

तोटक छन्द

आतम हित से जो कर्म करे । वुह आतम ही में सद विचरे ॥
उन का जो कर्म भजन सा है । *वुह करते हुए अकरता है* ६०
जो राग अर द्वेष बिना वरते । अर ममता मोह को रखत परे ॥
फल इच्छा जो नहिं धरता है । *वुह करते हुए अकरता है* ६१
जो धीरज से सब को जीते । सन्तोष विखे सद ही विचरे ॥
जो सब के रिद को हरता है । *वुह करते हुए अकरता है* ६२
जो सञ्जम ही से नित वरते । मध वरती हो कर नित साजे ॥
प्रण पालन भूषण जिस का है । *वुह करते हुए अकरता है* ६३
भय, चिन्त बिना जो काम करे । नहिं इच्छा अर नहिं आश धरे ॥
जो वचन विहारे साचा है । *वुह करते हुए अकरता है* ६४
मृद वचन सदा जो जन बोले । सच बेचे अर साचा तोले ॥
नहिं देत कभी जो दोखा है । *वुह करते हुए अकरता है* ६५
जो कर्म विखे हो लीन सदा । इच्छा सङ्कल्प विहीन सदा ॥
बुद्धी थित जास सरवदा है । *वुह करते हुए अकरता है* ६६

तोटक छन्द

जो धर्म विखे सद ही इस्थिर। उपकार करे नित हो बे डर॥
सेवा में सब कुछ झड़ता है। *वुह करते हुए अकरता है* ६७

जूठा अभिमान न जिस में है। है ब्रह्म अभिमानी जास रिदै॥
नहिं नीच करम जो करता है। *वुह करते हुए अकरता है* ६८

प्रण और नयम से नाहिं टले। को काम अधूरा नहिं छोरे॥
आधा छोरन से लजता है। *वुह करते हुए अकरता है* ६९

नहिं कर्म उस के में बुरियाई। जग भीतर शत्रू तक की भी॥
पर महिमा में नहिं जलता है। *वुह करते हुए अकरता है* ७०

जो सद ही ऐसा काम करे। जो सब ही को सुख ही देवे॥
जिस से कोई नहिं दुखता है। *वुह करते हुए अकरता है* ७१

ज्ञान योग

चौपाई

जो सब को स्वय आतम समझे। अर सब सूँ आतम प्रेम करे॥
जिस में से द्वैती भ्राँत गई। *ताँ की बुध आतम रूप भई* ७२

जो बुध "वेदाँत" उभय समझे। "व्यवहारक" में निज ठौर लहे॥
"करमों का फल" निश्चय जिस की। *ताँ की बुध आतम रूप भई* ७३

पुन "जन्म मरण" जेंह निश्चित हो। आतम का "सत" समझे तिस को॥
पुन द्वन्द लखे "आनन्द" सभी। *ताँ की बुध आतम रूप भई* ७४

चौपाई

"जग" को जो "ब्रह्म विवर्त" लखे। जिम रेत विखे मृग जल दरसे॥
है लीला "रूप" "अरूपम" की। *ताँ की बुध आतम रूप भई*॥
ब्रह्म पद से सब हैं इक जैसे। ईश्वर पद से ऐसे वैसे॥
यूँ "समता" जिस को "धर्म" बनी। *ताँ की बुध आतम रूप भई*॥
जो "सत" आतम का होवत है। तिस को जो "इस्थिर" बोलत है॥
"चित" से जिस को हो "भ्रात" सभी। *ताँ की बुध आतम रूप भई*॥
सुख दुख में सम वृत जोइ रहे। इस ही को जो आनन्द कहे॥
जिस को रस दे रूखी सूखी। *ताँ की बुध आतम रूप भई*॥
जो धीरज सहित सहे दुख को। अर दोखा ही समझे सुख को॥
जिस की वृत नित निश्चिन्त रही। *ताँ की बुध आतम रूप भई*॥
बिन बाँटे खाइ न जो रोटी। जिस को चाहिये इक लङ्गोटी॥
हो सर्व दशा जेंह इक जैसी। *ताँ की बुध आतम रूप भई*॥
जो पुत्र बने *श्री राम* समा। अर भाई हो जिम *लछमन* था॥
हो इस्त्री जैसे *सीता* थी। *ताँ की बुध आतम रूप भई*॥
जो *व्यास* समा होवे ताता। सुत को देवे शील अर विद्या॥
धन वित की दात वियर्थ लखी। *ताँ की बुध आतम रूप भई*॥
माता *कुन्ती* सम जो होई। पर सुत पाले पहिले जोई॥
पर रक्षा में जिस शाँत लही। *ताँ की बुध आतम रूप भई*८३

चौपाई

श्री कृष्ण समान सुमित्रा जो । अर्जुन का सङ्कट में गुरु हो ॥
जिस ने दुख सहि कर रक्षा की । *ताँ की बुध आतम रूप भई* ८४
जो *भीष्म* समा हो प्रण धारी । ताता सुख अर्थ विवाह न की ॥
थी उग्र प्रतिज्ञा जिस पाली । *ताँ की बुध आतम रूप भई* ८५
दानी जो *मोर ध्वजा* जैसा । जिस ने प्यारा सुत बलिहारा ॥
जिस का आनन्दा त्याग महीं । *ताँ की बुध आतम रूप भई* ८६
जिस माँहि क्षमा *ईसा* जैसी । जिस जूडस ताँइ असीसा की ॥
जिस ने शत्रू की सेव करी । *ताँ की बुध आतम रूप भई* ८७
जिस ने दुख, अर विपदा सहि ली । सूली चढ़ कर भी चूँ न करी ॥
सब दुक्खन को औषध समझी । *ताँ की बुध आतम रूप भई* ८८
जो मान अपमान समान लखें । उल्टा अपमाने शाँत चखें ॥
जिन में अभिमान रती न रही । *ताँ की बुध आतम रूप भई* ॥
जो भूक विखे अधिकी रस लें । अर क्षीर आदिक नीरस मानें ॥
जीना मरना जिन को एकी । *ताँ की बुध आतम रूप भई* ॥
सद जोइ प्रसन्न, सदा तृप्ते । अश्चर्ज न रीस जिन्हें उपजे ॥
हूँ सर्व अवस्था में सम ही । *ताँ की बुध आतम रूप भई* ॥

भक्ती योग

तोटक छन्द

हित प्रेम सुगन्धी जिन भीतर। शत्रू को भी जो वश लें कर॥
जो भिन रूपन में प्रेम करें। *वुह भेद विखे निर भेद रहें*॥
सब की सेवा जिन की इच्छा। नहि मोरें कोई बिन बिच्छा॥
जो माँगें कोई सो दे दें। *वुह भेद विखे निर भेद रहें*॥
जिन की वस्तू कोई वरतें। जो इस में अमृत रस चाखें॥
जो चोरों को सुत वत समझें। *वुह भेद विखे निर भेद रहें*॥
लुट्वा कर जोइ प्रसन्न फिरें। बिन बाँटे टुकूरा नहिं खाएँ॥
स्वय बूखे रहि, "पर" तृप्तावें। *वुह भेद विखे निर भेद रहें*॥
पर के सुत को स्वय सुत मानें। पहिले पर के सुत को अन दें॥
निर मानों के जो मान बनें। *वुह भेद विखे निर भेद रहें*॥
स्वय हार मनें, "पर" जितवाएँ। स्वय शोभा "पर" को पहिनाएँ॥
अपना शिर दें, "पर" बचवाएँ। *वुह भेद विखे निर भेद रहें*॥
उपकार अर दान विखे जोई। निश वासर **करण** समा होई॥
जो राखें, बूखों को बाँटें। *वुह भेद विखे निर भेद रहें*॥
ताता अर माता पूजें जो। जिन की गुरु चरनन में वृत हो॥
जो सन्त अर योगी को पूजें। *वुह भेद विखे निर भेद रहें*॥

तोटक छन्द

भय चिन्ता शोक परे जोई । हँसते दीखें जब दुख होई ॥
गा गा कर जो अपमान सहें । वुह भेद विखे निर भेद रहें ॥
लुटे जाएँ, होली गाएँ । सूली पर चढ़ कर मुस्काएँ ॥
हर हाल विखे जो मस्त रमें । वुह भेद विखे निर भेद रहें ॥
॥१०१॥

तीन योगों की एकता

दोहा

कर्म अर भक्ती, ज्ञान पुन, यिह जो तीनो योग ।
तीन नहीं, यिह एक हैं, इन का नित सञ्जोग ॥१०२॥
"कर्म", "बिना दृग ज्ञान के", अर "बिन भक्ती" नाँहिं ।
"भक्ती", "ज्ञान अर कर्म" बिन, कभी न सम्भव आँहिं ॥१०३॥
पुनः "ज्ञान" भी "प्रेम" अर, "कर्म" विधी सिखलाँइं ।
"प्रेम" अर "कर्म विधान" बिन, "ज्ञान योग" कुछ नाँहिं ॥१०४॥
यूँ प्रतक्ष यिह बात है, तीन योग हैं मित्र ।
जुदा कभी नहिं होत हैं, सद ही रहें इकित्र ॥१०५॥
कारन इन का यिह अहे, हैं सत, चित, आनन्द ।
कर्म, ज्ञान, भक्ती विखे, क्रम से यिह दरसन्द ॥१०६॥
जिस विध सत, अर चित पुनः, आनँद एक अहन्त ।
इन का जो सम्बन्ध है, कभी न छूट सकन्त ॥१०७॥

दोहा

तैसे उन के रूप जो, जो त्रय योग कहाँइं ।
वुह भी इक दूसर बिना, कब हूँ रहि न सकाँइं ॥१०८॥

त्रिविध शील

दोहा

शील अहे त्रय भाँत की, दम रु दया अर दान ।
सत, चित, आनँद रूप जो, जाँ में सुख कल्यान ॥१०९॥
"दम" "मन इन्द्रय" इस्थिती, "दया" "एकता ज्ञान" ।
"दान" अभेदी रस अहे, यिह त्रय शील पछान ॥११०॥
धीरज, सहिन अर प्रण, तपस, और प्रतिज्ञा जोइ ।
यिह सब "सत" विस्तार हैं, जाँ में "इस्थिति" होइ ॥१११॥
दया, क्षमा, अर प्रेम पुन, कृपा, अनुग्रह जेत ।
यिह सब "चित" का सार हैं, अद्वै ज्ञान दिखेत ॥११२॥
दान अर सेवा, बली जो, तन, मन, धन की जेत ।
यिह सब "आनँद" रूप हैं, अमृत रस को देत ॥११३॥
इस विध शील त्रिधा लखो, मानुष भूषन तीन ।
जिन के धारन से मिले, परमानन्द सुखीन ॥११४॥

भगवद् गीता की विलक्षणाता

चौपाई

भगवद् गीता का जो ज्ञान। "जग भीतर" देवे "निर्वान" ॥
वुह समझावे "जग नहि छोरो। "केवल 'ममता' से मुहँ मोरो ।११५।
"जगत पदारथ नहिं दुख दाई। "दुख दाई हैं मोह् ममताई ॥
"सब सूँ "आतम हित" को वरतो। "यूँ माया के दुख से भागो ।११६।
"सर्व अवस्था में सामान। "इस "बन" में धारो अस्थान ॥
"राग अर द्वेष उलङ्घत जाओ। "इस विध तुम वैराग कमाओ ११७
"मन को मार तपस्या कर के। "इन्द्रय जीत प्रतज्ञा धर के ॥
"इस्थित बुध रहिं तीनो काल। "चञ्चल वृत को लख जञ्जाल ११८
"सुत दारा अर धन की प्रीत। "यिह प्रतिमा पूजन है, मीत ॥
"तज दे यिह दुख दायक रीत। "इस विध तू मुक्ती को जीत ११९
"धार गृहस्थ विखे सन्न्यास। "तज कर इच्छा अर अभिलास ॥
"धर्म विखे तू इस्थिति धार। "यूँ तर जा सागर सन्सार ।१२०।
"ज्ञान नयन से कर्म कमा तू। "कर्मों के फल से छुट जा तू ॥
"धीरज से तू 'सञ्चित' जार। "प्रेमी बन 'क्रियमान' सवाँर १२१
"रसना ससना को तू जीत। "कर स्वय लिङ्ग अर योनी शीत ॥
"यूँ शिव ऊपर उदक चढ़ा तू। "अर शङ्कर वत ही बन जा तू १२२
"शङ्कर भवन अहे कैलास। "जिस पर सद ही हिम का वास ॥
"ताँ ते शिव शीतलता आही। "काम अनल ताँ में नहिं राई १२३

चौपाई

"शिव पूजन यिह देत निशानी। ""डाल उपस्थ् इन्द्रय पर पानी' ॥
"यूँ कर लिङ्ग अप्ना तू शीत। "अथवा काम अपने का जीत१२४
"यदि तू इस विध कर्म कमाए। "जग भीतर ही मुक्ती पाए" ॥
भगवद्गीता का उपदेश। ग्रेही को कर देत महेश ॥१२५॥
गीता हम को एह सिखावे। मुक्ती जग में रहि कर आवे ॥
"मुक्ती" "मन" से हो छुट्कारा। "मन" का है "सन्सार" अखारा-१२६
"मन" अर "इच्छा" एको आँहीं। "इच्छा" चञ्चल हो जग माँहीं ॥
जाँ "चञ्चल" वाँ ही "मर" साके। "जग" में मारो इस को ताँ ते-१२७
"इच्छा" "जग" हैं एको, भाई। इक बिन दूजा रहि न सकाई ॥
"जग" में रहि कर "इच्छा" मरती। "जग" छोरे से "जय" क्या होगी१२८
शत्रू से छुप जावे जोई। उस की क्या जयकारी होई ? ॥
जो शत्रू से लड़त लड़ाई। वुह ही शूर अर वीर कहाई॥१२९॥
उस ही की होवे है जीत। कायर तो डरता रहि नीत ॥
"लड़ कर जीत" देत "आनन्द"। "डरना भागन" तो है फन्द॥१३०॥
ताँ ते "मुक्त" "जगत" में होई। "मन-मारन" जो, "मुक्ती" सोई ॥
"मन" मारे से "जग" मर जावे। जग ही तो है बन्धन लावे॥१३१॥
"जग से भागन" "जग" नहि खावे। उल्टा "जग" को "चतुर" बनावे ॥
डरना ही तो तुच्छ बनाई। "तुच्छ भाव" ही "जीव" कहाई१३२
"निर भय" ही को "आतम" बाखे। "आतम" को पुन "मुक्ती लाखे" ॥
ताँ ते युद्ध करे जो जग ते। सोई आतम तीरथ परसे ॥१३३॥

चौपाई

"युध ते भागन" आँहिं "अनातम" । ताँ को समझो घोर महा तम ॥
इस विध *गीता* यिह समझावे । "जग" में ही "मुक्ती पद" आवे १३४
"जग से भागन" "मन को ढाँपन" । "मन ढाँपन" नाहीं "मन मारन" ॥
"बन" में भी "शत्रू" सँग चाले । वाँ तो तू तेंह मोटा पाले ॥१३५॥
यिह बुध *भगवद् गीत* सिखावे । "घर" में बैठे "मुक्त" दिलावे ॥
"शत्रू" "जग" को नहिं दरसावे । शत्रू अन्तर "मन" दिखलावे॥१३६॥
"आतम" *अर्जुन*, "मन" *दुर्योधन* । "जग" *कुरुक्षेत्र* गनो तुम, भय्यन-॥
"आतम" "मन" की युध "जग" माँहीं। "मन शत्रू" को नष्ट कराँईं ॥१३७॥
जाँ ते "मन" है "भ्रम" का पूत । आतम मार सके यिह भूत ॥
इस में कोई सन्शय नाहीं । मन को आतम मार सकाईं॥१३८॥
आतम का भ्रम आतम जारे । इस विध "मन" शत्रू को मारे ॥
अन्तर की यिह "भारत युद्ध" । जीवन की मुक्ती की बुद्ध ॥१३९॥
गीता का तुम यिह सङ्क्षेप । पढ़ियो नित प्रति बिन विक्षेप ॥
मन मारो ब्रत तप के साथ । इस *विध तृप्त* करो *रघुनाथ* १४०

आर्ति छन्द

जय जय परमातम जी। नम नम परमातम जी।
तेरो घर सब थाँई। तव मूरत सब सी ॥१॥ } टेक

तू सब का है आतम, तू सब का आश्रय।
तू है परम पियारो, अर तू है सुख मय ॥ २ ॥
तू है अजर, अजन्मा, अगम, अगोचर तू।
तू है नित्य, सनातन, शाँत सरोवर तू ॥ ३ ॥
तू इस्थित अर निश्चल, तू एको, अद्द्वय।
तू सूक्षम, तू व्यापक, तू निरगुन, अव्व्यय ॥ ४ ॥
तू मैं, अर तू वुह है, तू चेतन, जड़ तू।
तू ऐसा, तू वैसा, अन्तर बाहिर तू ॥ ५ ॥
तू उत्तम, तू मध्यम, तू अध्यम आतम।
तू नीचे, तू ऊपर, तू सूरज, अर तम ॥ ६ ॥
ताँ ते जो कुछ इस्थिर, अर जो कुछ अव्व्यै।
वुह आतम की मूरत, सो परमातम है ॥ ७ ॥
इस ते "शाँत" अर धीरज, "प्रेम" "दया" जोई।
इर इक है परमातम, सब "अव्व्यय" होई ॥ ८ ॥
इन का है जो धारन, वुह तेरी पूजा।
इन में समता व्यापे, अर. बिसरे दूजा ॥ ९ ॥
हे ऐसे परमातम, मुझ को "शाँत" बना।
अर "धीरज" मो कर दे, इस विध आप मिला ॥१०॥
विनय करे *रघुनाथा*, "प्रेम" बना मुझ को।
"द्वैत" भगा कर मुझ से, "क्षेम" बना मुझ को ॥११॥
नाम अर रूप बिसारूँ, चिन्ता दुख बिसरूँ।
आतम में *रघुनाथा*, निश वासर विचरूँ ॥१२॥

सत-गुरु देव जी की आरती

आर्ति छन्द

धन धन, गुरु देव पिता, जय जय, गुरु देव पिता । } टेक
तुम दानी, उपकारी, तुम गम्भीर महा ॥ १ ॥
तव बानी हर लेवे, तव कानी हर लै ।
तव दरशन ते जावे, चिन्ता दुख अर भै ॥ २ ॥
शाँत रिदय में आवे, तुमरी सेव किये ।
चित चञ्चल सो जावे, तुमरा नाम लिये ॥ ३ ॥
धन तुमरी है बानी, धन तुमरी गीता ।
ममता को बिसरावे, रिदय करे शीता ॥ ४ ॥
जग सेवा के कारन, तुम ने त्याग कियो ।
माया के जो धन्धे, अर सन्न्यास लियो ॥ ५ ॥
शाँत सभा को रच कर, वैर विरोध लियो ।
भाँत भाँत मत्तन को, समता बोध दियो ॥ ६ ॥
धन तुमरो निर भयता, धन धीरज तुमरो ।
तुच्छ मात्र तुम समझो, आपद अर दुख को ॥ ७ ॥
इन्द्रय जित, मन मारी, सत वादी, मीठे ।
कोमल चित, जत धारी, प्यारे भगतन के ॥ ८ ॥
सन्तोषी, सम दृष्टी, सद एकाँत रहें ।
शुभ चिन्तक सृष्टी के, सत उपदेश कहें ॥ ९ ॥
तव रहिनी कहिनी सी, तव इच्छा मूई ।
तव देही निर रोगी, चिन्ता क्षय हूई ॥ १० ॥
हे सत् गुरु परमातम, हे सत गुरु भगवन ।
दया करें मेरे पे, मारें मेरो मन ॥ ११ ॥
हे ***श्री हेम राज जी***, मैं तुमरे शरनी ।
कर देवें ***रघुनाथे*** धीर समा धरनी ॥ १२ ॥

विज्ञापन
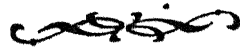
जिस पुस्तक पर स्वामी रघुनाथ राय जी के अँग्रेजी में हस्ताक्तर नहीं होंगे, वुह पुस्तक चोरी का, वा बिन आज्ञा छपा हुआ समझा जाएगा। और ऐसे पुस्तक के रखने वाले, और छ[illegible] वाले के साथ कानूनी सलूक किया जाएगा ॥ याद रहे कि ऐसा कसूर फौजदारी जुरम है। और नतीजा उसका बहुत खराब है ॥

स्वामी रघुनाथ राय

स्वामी जी के हस्ताक्षर——

Swami Raghunath R.

श्री रघुनाथ भगवद्गीता की कीमत—
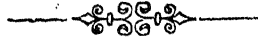
१. खास जिल्दवाली किताब, जिसकी जिल्द पर सोने चाँदी के अक्षर होंगे, और जिल्द पर एक जामा होगा, और जिस में ३ तस्वीरें होंगी, और श्री कृष्ण की तस्वीर तीन रङ्ग की होगी,—उसकी एक जिल्द की कीमत .... ५)

२. दूसरे दर्जे की जिल्द वाली किताब, जिस में दो तस्वीरें होंगी, उसकी एक जिल्द की कीमत .... ३।।)

३. बगैर जिल्द की किताब, जिस में २ तस्वीरें होंगी, इस किताब की कीमत .... ३)

४. हर किस्म की किताब का छापा, आला दर्जे का व मोटा है; और हर किताब के करीबन ५०० सफे हैं, और कागज आला दर्जे का है।

५. किताब के सफे का प्रमाण डबल क्राउन $\frac{२०\times३०}{८}$ है।

कहाँ से यिह पुस्तक मिल सकता है
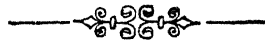
श्री रघुनाथ भगवद्गीता स्टाक से

१. हेड आफिस—सेवा कुञ्ज, राम बाग रोड, *कराची* (सिन्ध)

चिट्ठी पर यिह पता लिखना चाहिये—

मिस्टर एच. सी. कुमार, बी. ए. एफ-टी-एस,

सेवा कुञ्ज, रामबाग रोड.

कराची (सिन्ध)

Mr. H. C Kumar, B. A., F. T. S.

SEVA KUNJ, RAM BAGH ROAD,

KARACHI (SINDH)

नोट—*मिस्टर एच. सी. कुमार,* करांची हेड ऑफिस के सेक्रेटरी हैं।

२. सब आफिस—चौबुर्जी गार्डन ऐस्टेट, *लाहोर*

चिट्ठी पर यिह पता लिखना चाहिये।—

मालिक नन्द किशोर, बी. ए.

१२-के, चौबुर्जी गार्डन ऐस्टेट,

लाहोर। (पञ्जाब)

MALIK NAND KISHOR, B. A.

12—K, CHAU-BURJI GARDENS ESTATE,

LAHORE (PUNJAB)

बिक्री के नियम—
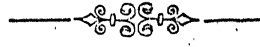
१. किताबें वी. पी. पारसल के ज़रिये भेजी जाएँगी।
२. बन्द कराई और टिकटों का खर्च इलावा होगा।
३. जो पुरुष एक ही वक्त, १० किताबें इकट्ठी मँगवाएँ, तो उन से ९ किताबों की कीमत ली जाएगी।
४. जो एक ही वक्त, ५ किताबें इकट्ठी मँगवाएँ, तो बन्द कराई व टिकटों का खर्च उन से नहीं लिया जाएगा।
५. जो एक ही वक्त, ३ किताबें इकट्ठी मँगवाएँ, तो उन को एक दूसरी पुस्तक ।।।) कीमत की मुफ्त भेजी जाएगी।
६. जो एक ही वक्त, २ किताबें इकट्ठी मँगवाएँ, तो उन से बन्द कराई व टिकटों का खर्च आधा लिया जाएगा।
७. जो आफिस में जा कर, अपने हाथ से, ५ किताबें इकट्ठी मोल लें, तो उन से १।।) कम लिया जाएगा।
८. जो आफिस में जा कर अपने हाथ से ३ किताबें इकट्ठी मोल लें, तो उन को एक और पुस्तक ।।।) कीमत की मुफ्त दी जाएगी।
९. एक पुस्तक एक वक्त मोल लेने वाले को कोई रियायत नहीं दी जाएगी। केवल उस का धन्यवाद किया जाएगा।

एजेन्टों के कमीशन के नियम

१. सफ़र करने वाले एजन्ट, अगर एक महीने में, १० किताबों से कम न बेचें, तो उन को ८) रुपया सैकड़ा के हिसाब कमीशन दिया जाएगा।

२. और अगर सफ़र करने वाले एजन्ट, एक महीने में, २० किताबों से कम न बेचें, तो उनको १०) रुपया सैकड़ा के हिसाब कमीशन दिया जाएगा।

३. अगर सफर करने वाले एजन्ट, एक महीने में, ५० किताबों से कम न बेचें, तो उनको १५) रुपया सैकड़ा के हिसाब कमीशन दिया जाएगा।

४. अगर सफ़र करने वाले एजन्ट, एक महीने में, १०० किताबों से कम न बेचें, तो उन को २०) रुपया सैकड़ा के हिसाव कमीशन दियो जाएगा।

५. जो एक महीने में १० किताबों से कम बेचें तो उनको ७) रुपया सैकड़ा के हिसाब कमीशन दिया जाएगा।

६. सब सफर करने वाले एजन्टों का खुराक व किरायों का ख़र्च उनके अपने ज़िम्मे होगा।

७. दुकानदार एजन्ट, अगर एक ही वक्त ३० जिल्द वाली किताबों, और ३५ बे जिल्द किताबों से कम, नकद कीमत से, न खरीदें, तो उन से फी किताब ।) आने कम कीमत ली जाएगी।

८. और अगर वुह ५० जिल्द वाली किताबों, और ६० बे जिल्द किताबों से कम न खरीदें, तो उन से ।=) आने फी किताब कम कीमत ली जाएगी।

९. किसी दुकानदार को उधार या इतबार पर किताबें नहीं दी जाएँगी। अगर किसी हालत में दी जाएँ, तो १० किताबों से ज्यादा नहीं दी जाएँगी। और उन के लिये भी किसी बड़े आदमी की कानूनी ज़मानत ली जाएगी। इस हालत में कमीशन यिह होगा कि फी किताब उन से =) कम कीमत ली जायगी।

इति श्री रघुनाथ भगवद्गीता

* समाप्तम् *